जीवन-स्मृति

सन्मति-साहित्य-रत्न माला का सत्ताईसवाँ रत्न :

जीवन-दर्शन

[परिमार्जित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण]

लेखक :

राष्ट्रसंत उपाध्याय अमरमुनि

सम्पादक :

पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, 'न्यायतीर्थ'

एवम्

कलाकुमार

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

सन्मति साहित्य-रत्नमाला : २७ वाँ पुष्प :

पुस्तक
जीवन-दर्शन

❋

प्रकाशक
सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

❋

लेखक :
राष्ट्रसंत उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि

❋

सम्पादक :
पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, 'न्यायतीर्थ'
एवं
कलाकुमार [सम्पादक, श्री अमर भारती]

❋

संस्करण
द्वितीय, शरद पूर्णिमा १९७० ई०
[परिमार्जित एवं परिवर्द्धित संस्करण]

❋

मूल्य :
पाँच रुपए और पचास पैसे मात्र

❋

मुद्रक
राज प्रिण्टर्स, राजामण्डी, आगरा-२

प्रकाशकीय वक्तव्य

'जीवन-दर्शन' का यह परिमार्जित एवं परिवर्द्धित संस्करण श्रद्धालु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार आनन्द की अनुभूति हो रही है। कारण, सहृदय एवं गुणग्राही पाठकों की एक लम्बे अर्से से चली आ रही माँग को, हम एक लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् प्रस्तुत कर रहे हैं। वस्तुत: यह पुस्तक जीवन एवं जगत् के लिए है भी बड़ी महत्त्वपूर्ण। विश्व के इस विशाल प्रांगण में सफल जीवन जीने वालों के लिए यह एक 'प्रकाश-स्तम्भ' है, जो जीवन के चौराहे पर खड़े होकर उसके हर पहलू पर अपने प्रकाश की उज्ज्वल किरणें फेंक रहा है। जीवन क्या है? उसका महत्त्व क्या है? उसकी कौन धारा, कहाँ, किस रूप में प्रवाहित हो रही है? जीवन-समुन्नयन किस प्रकार सम्भव है? जीवन की सार्थकता उसके हर मोड़ पर दृढ़ता के साथ कर्त्तव्य-पालन करने में है या जी चुराकर कहीं दूर भाग जाने में? जीवन का सफल खिलाड़ी कौन है? इन सब प्रश्नों के तथ्यपूर्ण समाधान आप इसमें पा सकेंगे—ऐसा हमारा विश्वास है।

'जीवन-दर्शन' में कवि श्री जी जन-जन के मन के समक्ष जीवन के एक समर्थ व्याख्याकार बन कर उपस्थित हुए हैं। हाँ, इतना ध्यातव्य है कि श्रद्धेय गुरुदेव, दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों के पिष्टपेषण में न कभी स्वयं उलझते है, और न पाठकों को ही उलझाकर रखना चाहते हैं। आपश्री अपने जीवन की अनुभूति को स्पष्ट एवं सुबोध विवेचन द्वारा प्रस्तुत करते हैं। आपश्री की शैली इतनी सरल, परिमार्जित और मर्मस्पर्शी है कि वह पाठकों के मन पर चुम्बक का काम

करती है। उन्होंने जीवन के हर कोण को अपनी ओजस्वी वाणी से इतना चमत्कृत कर दिया है कि वह जन-मानस को सहसा आकृष्ट कर लेता है। अपने प्रत्येक सारगर्भित प्रवचन में वे जीवन की आत्मा को छूते हुए चले हैं। और यही कारण है कि उनके द्वारा जीवन का सर्वांगीण विश्लेषण बडा ही विलक्षण बन पडा है। हमारी इस बात में कितना वजन है इसका सही आकलन पाठक अपनी बौद्धिक तुला पर स्वयं कर सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक 'जीवन-दर्शन' का यह द्वितीय संशोधित एव परिवर्द्धित संस्करण है। इस पुस्तक की उपादेयता इसी बात से सिद्ध है कि इसका प्रथम सस्करण बहुत पहले समाप्त हो चुका था, श्रद्धालु एवं गुणग्राही पाठकों की मांगें दिन-ब-दिन इतनी बढती गई कि जिसकी उपेक्षा हम नही कर सके। सहृदय एव मनीषी पाठकों की मांगो का प्रतिफल ही यह द्वितीय संस्करण है।

प्रस्तुत संस्करण मे जीवन सम्बन्धी विभिन्न विषयो को वैज्ञानिक ढंग से रखा गया है। समस्याओं का समाधान उदारतावादी समन्वयात्मक दृष्टिकोण के आधार पर समीचीनता के प्रकाश में प्रस्तुत किया गया है। सकलित सम्पूर्ण विषयो को कविश्री जी के निर्देशानुसार भाव, भाषा, शैली एव विवेचन की नवीन पद्धति के द्वारा प्रस्तुत कर सर्वथा नवीन कलेवर दे दिया गया है।

आशा है, यह सस्करण पाठकों के लिए, और भी उपयोगी सिद्ध होगा।

मन्त्री,

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

प्राक्कथन

उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज का गभीर एव सार-गर्भित प्रवचन मैंने सुना है। उनकी वाणी ओजपूर्ण, भाषा प्रवाहमय और दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। शास्त्रवादी होते हुए भी वे रूढि-वादी नही हैं। उनकी विद्वत्ता मे चिन्तन की मौलिकता है और चिन्तन मे अनुभूति की ताजगी।

प्रस्तुत पुस्तक में उनके कतिपय प्रवचनो का सकलन है। प्रवचनों में उन्नत जीवन की बहुमुखी चितना है और उसकी ओर बढने की यथेष्ट प्रेरणा भी। पहला प्रवचन समाज सुधार-विषयक है। इसमे अपने सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय देते हुए मुनिजी ने बतलाया है कि समाज-सुधार का अर्थ प्राचीन में से निर्जीव अथवा विगलित अंश को छाँटकर स्वस्थ पुरातन की भूमिका पर स्वस्थ नवीन की प्रतिष्ठा करना है। यह व्यक्तियो के करने से ही हो सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति मिलने से ही समाज बनता है, और व्यक्तियो के सुधरने-सुधारने का नाम ही समाज-सुधार है।

दूसरे और तीसरे प्रवचनो में विद्यार्थियो और महिलाओं को उद्-बोधन देते हुए, उन्हे उन्नत जीवन का संदेश दिया गया है। चौथे प्रवचन में मुनि श्री ने धर्म और बाह्याचार के पारस्परिक सम्बन्ध की सुन्दर विवेचना की है।

पाँचवें प्रवचन मे भारत की खाद्य-समस्या का मार्मिक चित्रण है। इसमे प्राणि-जीवन का मूल आधार अन्न है और धर्म चर्चा के लिए भी उसकी आवश्यकता है, यह दर्शाते हुए मुनिजी कहते हैं कि महावीर,

बुद्ध, कृष्ण या राम के नाम के छीटे देने से भूखी जनता का मन ठडा नही हो सकता। अन्नाभाव के दिनो में भी संस्कार-वश पशु-पक्षियो और जलचरो को अन्न-दान करके पुण्य-संचय करने वालो के प्रति भी उन्होने वडी ही स्पष्टवादिता से काम लिया है। मुनिश्रीजी कहते है— "आज देखते हैं कि करोडो इन्सान भूखो मर रहे है और हमारे भावुक भाई कीडियो, वन्दरो और मछलियो को अन्न खिलाते हैं। मैं भूतदया की इस भावना का विरोध और निषेध नही करता, किन्तु यह कहता हूँ कि सबसे पहले उस इन्सान का पेट भरो, जिसकी जिन्दगी अन्न पर ही निर्भर है और जिसके भूखे रहने पर मासाहार की महापातकमयी प्रवृत्ति के प्रचलित होने का अदेशा है। यदि आपने मानव-दया को प्राथमिकता नही दी, तो मैं नही समझता कि आपने दया-धर्म के मर्म को समझा है। उस हालत में वन्दरो को वचाना भी कठिन हो जाएगा और लोग उन मछलियो को भी पकड-पकडकर खा जाएँगे, जिन्हे आप आटा खिला-खिला कर मोटा वना रहे हैं।" यदि भारत के सभी धर्माचार्य इस स्वर मे वोलने लग जाएँ, तो सम्भवत खाद्य-समस्या का अस्तित्व ही न रहे।

आगे के छ प्रवचन आध्यात्मिक जीवन से सम्वन्धित हैं। इनमे सरल और ओजस्विनी भाषा मे साधना के तत्त्व और लक्ष्य का प्रतिपादन किया गया है। 'अशुभ दशा' और 'शुभ दशा' दोनो को लाँघकर 'शुद्ध दशा' की प्राप्ति का प्रयत्न ही आध्यात्मिक साधना है। "अशुभ दशा पाप का कारण है, शुभ दशा पुण्य का कारण है, और शुद्ध दशा पाप और पुण्य दोनो को काटकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करने वाली साधना है।"

सास्कृतिक पर्वो और त्योहारो पर भी श्रद्धेय मुनिश्री के कुछ प्रवचन इस पुस्तक में संगृहीत हैं। मुनिजी की प्रखर दृष्टि पर्वो के वाह्याचार रूप ऊपरी छिलके को भेदकर उनके वास्तविक स्वरूप और

महत्त्व का उद्घाटन करती है। उदाहरण के लिए, रक्षा-वन्धन के विषय मे वे कहते है "वास्तव में रक्षा-बन्धन पर्व का यही प्रधान और एकमात्र सदेश है कि यदि तुम्हारे सामने कही भी अनीति हो रही हो, बुराई फैल रही हो और गलती हो रही हो, तो तुम उससे लडो जहाँ तक तुम्हारे मे बल हो, वहाँ तक लडो। सास्कृतिक उत्थान के लिए लडाई केवल शरीर से नही होती, वह लडाई ऊँचे चरित्र-बल की होनी चाहिए, न्याययुक्त होनी चाहिए।"

ये सभी प्रवचन वडे ही रोचक एव प्रेरणा-प्रद ढग से जीवन के सर्वांगीण उत्थान का सन्देश देते है। मुनिश्रीजी की वाणी मे एक आह्वान है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। पढते-पढते ऐसी धारा-प्रवाहिकता की अनुभूति होती है कि पाठक उसमें बरबस वहा चला जाता है। ऐसी सुन्दर और स्वस्थ सामग्री एक साथ संकलित करके पुस्तक रूप में प्रस्तुत करने के लिए संपादक बधाई के पात्र है।

ब्यावर (अजमेर)
१५-४-५४

किशोरीलाल गुप्त, एम० ए०
प्रिंसिपल, सनातन धर्म कालेज

सम्पादकीय वक्तव्य

दर्शन का अर्थ है दृष्टि। अत जीवन-दर्शन का अर्थ जीवन को देखना है। फिर प्रश्न यह उठता है कि यह जीवन, जो सबके सामने प्रत्यक्षत: दर्शित है, इसे क्या देखना? इस 'जीवन को देखने' का अर्थ क्या है? हमारे देखने की विधा दो प्रकार की है। हमारी दृष्टि भी दो प्रकार की है एक चर्मचक्षु से देखना, दूसरा ज्ञानचक्षु से देखना। एक बाहरी दृष्टि से देखना, दूसरी भीतरी दृष्टि से अवलोकन करना। बाहरी नेत्र से देखना जीवन का बाह्य-दर्शन करना होता है, जबकि भीतरी नेत्र से देखना अवलोकन करना न होकर अनुभूति मे लाना होता है। यह जीवन विभिन्न छवियो मे हमारे सामने दृष्टिगत होता है, जिसे हम विभिन्न आयामो से अवलोकन-मनन करते है। तो, जीवन की जितनी छवियो को हम बाह्यदृष्टि से अनुभव करते है, आभ्यंतर दृष्टि से अनुभव करते है, उसे अपनी अनुभूति के साँचे मे ढालकर, विश्व के समक्ष उपस्थित करना ही सही एव सच्चे अर्थ मे जीवन-दर्शन कहलाता है।

दर्शन का अर्थ सिर्फ फिलासफी (Phylosophy) अर्थात् तत्त्व-चिंतन मात्र नही है। हाँ, तत्त्वचिंतन अर्थात् दार्शनिक सैद्धान्तिक विचारणा भी एक पहलू है उसका, भले वह प्रधान किंवा अपरिहार्य पहलू ही क्यो न हो, किन्तु सर्वांशत: वही पूर्ण जीवन-दर्शन नही है। पूर्ण 'जीवन-दर्शन' तो जीवन का सर्वांगीण अवलोकन, चिंतन, मनन एवं अनुभव करके उन्हे विचारणा के माध्यम से अभिव्यक्ति मे लाना है। जीवन का जो आचारपक्ष है, वही दूसरे अर्थ मे साधना कहा जाता है, और जो विचारपक्ष है, वह सिद्धान्तपक्ष कहा जाता है।

इसी आचार से निष्पन्न विचार को जीवन के विचारपक्ष किंवा जीवन-दर्शन के नाम से अभिहित करते हैं। हम जिस पहलू से जीवन एवं जगत् के रहस्य-सार का अवलोकन करते है, उन्हे अपनी अनुभूतियों की सीमा मे बाँधकर विश्व के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

कोई भी उपदेशक, उद्घोषक अथवा साहित्यकार अपने जीवन-पर्यन्त विश्व का जिन पहलुओ से दर्शन करता है, उसकी जैसी छाप उनके मन-मस्तिष्क पर पडती है, उसे विश्व-मंच पर रखकर लोगो को भी अवलोकन कराता है, ताकि मानव उन मार्गों का अनुसरण न करे, जिनसे कि उसके उद्देश्यो की पूर्ति मे बाधाएँ उपस्थित हो, कठिनाइयाँ आवे।

राष्ट्रसंत कविश्री उपाध्याय अमरमुनिजी महाराज की अनुभूतिपरक चिंतन की महान् पुस्तक 'जीवन-दर्शन' में जीवन और जगत् का इन्ही दृष्टिबिंबो से विवेचन-विश्लेषण हुआ है। श्रद्धेय कवि श्री जी अधुना अध्यात्म क्षेत्र के प्रकाशपुंज दिव्य नक्षत्र है। उनकी दृष्टि से जीवन एवं जगत् का जो दर्शन हुआ है, वह सर्वांगीण दर्शन हुआ है। उसमें विश्व-कल्याणकारी चिंतन की अनुभूतियो का वह महान् अर्घ्य संयोजित है, कि जिसे पाकर भारती-मंदिर अपूर्व ऐश्वर्य-शाली बन गया है, तथा भारती-मंदिर का प्रत्येक साधक उस दिव्य प्रकाश में आलोकित-चमत्कृत हो उठा है।

प्रस्तुत पुस्तक मे तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'सामाजिक जीवन' है, जिसके अंतर्गत समाज-सुधार, विद्यार्थी-जीवन, महिला-जीवन, धर्म और रीति-रिवाज, तथा हमारी खाद्य समस्या और आचार-विचार पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है।

दूसरा अध्याय—'आध्यात्मिक-जीवन' है, जिसमे अंतर्जीवन, तीन परिणतियाँ, धर्म का निमित्त और उपादान, जप-साधना, एवं मानवता का मूल्य, प्रभृति जीवन के आध्यात्मिक पहलुओ पर गहन चिंतन एव मनन प्रस्तुत किया गया है।

तीसरा अध्याय—'सांस्कृतिक जीवन' है, जिसमे आचार प्रथमो धर्म, राष्ट्रीय-चेतना, जैन संस्कृति का संदेश, भारतीय संस्कृति में व्रतों का योगदान, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, विजया-दशमी, ज्ञान-पंचमी, अक्षय तृतीया, वैशाखी पूर्णिमा आदि सांस्कृतिक संदर्भो पर विशद विवेचन प्रस्तुत हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण 'जीवन-दर्शन' का द्वितीय संस्करण है। इसमें कविश्री जी के निर्देशन एवं विचारानुसार विषय के व्यापक विस्तार को, समीचीनता-वादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए कम कही कर दिया है। तो, कही अपेक्षित विस्तार भी कर दिया है। प्रयत्न किया है कि विषय का विवेचन आधुनिक युगबोध को, वर्तमान युग की माग को ध्यान में रखते हुए किया जाए। विषय-विवेचन में, भाव, भाषा, शैली आदि को नितांत आधुनिक परिवेश मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ का कलेवर पहले से बदल दिया गया है। कुछ ऐसे प्रवचन एवं विषय भी इसमे आ गए हैं, जो प्रथम संस्करण में नही थे। अभिप्राय यह कि ग्रन्थ को उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है।

आशा है, मनस्वी मनीषी एवं जिज्ञासु पाठक इसका स्वागत करेंगे तथा अपने सर्जनात्मक सुझाव भेजकर हमें उपकृत करेंगे।

सम्पादक

अनुक्रमणिका

सामाजिक-जीवन

१

समाज-सुधार

समाज क्या है ? और उसका सुधार कैसे होता है ? यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय है। यह प्रश्न केवल इस वर्तमान युग में ही विचारणीय है, ऐसी बात नहीं है। अतीत काल के इतिहास को पढ़िए, तो उसमे भी आप इस विषय की गम्भीर चर्चा पायेंगे। अपने युग के समकालीन सामाजिक दोषों का परिमार्जन भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध ने भी किया था। इसी प्रकार समय-समय पर अपेक्षित समाज सुधार का कार्य प्रायः होता ही रहता है। अतएव 'समाज-सुधार' आज का ही कोई नया कदम नहीं है, अपितु यह मानव जग का एक युग-युगीन प्रश्न है।

समाज का अर्थ :

आइए, हम पहले इस प्रश्न पर विचार कर लें कि समाज क्या चीज है ? समाज का स्वरूप समझ लेने पर, समाज का सुधार कैसे हो ? इस प्रश्न पर विचार करना ज्यादा अच्छा होगा। हम समाज को खोजने चलते हैं, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि समाज का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। जिधर देखो उधर और जहाँ देखो वहीं, व्यक्ति ही व्यक्ति नजर आता है। उससे भिन्न, उससे अलग समाज का कहीं कोई अस्तित्व नहीं है, कोई सत्ता नहीं है। जिस प्रकार शरीर के अंगो और उपांगों से सर्वथा भिन्न शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है और जल-कणों से सर्वथा भिन्न समुद्र का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार व्यक्तियों से भिन्न समाज की भी कोई सत्ता नहीं है। अतएव व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन का उत्थान ही समष्टि जीवन का उत्थान है और व्यक्तियों का

अध पतन ही समष्टि का अध पतन है, क्योंकि एक-एक व्यक्ति के मिलने से परिवार बनता है और परिवारो का समूह समाज का रूप धारण करता है। एक-एक परिवार की इकाइयाँ जब सामूहिक जीवन को प्राप्त करती है, उनमे सामूहिक सुख-दुःख की भावना जागृत होती है। और, जब प्रत्येक व्यक्ति यह समझ लेता है कि समष्टि के उत्थान मे हमारा उत्थान है और उसके पतन मे हमारा पतन है, तो इस प्रकार से समूहगत अखड चेतना के जागृत हो जाने पर तथा समूह मे व्यक्ति के घुल-मिल जाने पर, सम्यक् रूप से समाज का निर्माण होता है।

इस प्रकार यदि हम समाज को अलग खोजने चलेंगे तो वह कही नही मिलेगा, बल्कि परिवारो की इकाइयो के परस्पर मिलने से ही समाज का निर्माण होता है।

समज और समाज :

मनुष्यो की भाँति पशुओ मे भी समूह की भावना पाई जाती है। उनमे पारिवारिक जीवन भी है और बहुत-से पशु समाज के रूप में अपने-अपने दल बनाकर भी चलते हैं। इस रूप मे जैसा मनुष्यो का समाज है, उसी प्रकार पशुओ का भी समाज होता है। किन्तु दोनो के समूहो मे बडा भारी अन्तर है। जब हमारे आचार्यो ने समाज के प्रश्न पर विचार करते हुए कहा कि अनेक मनुष्यो के मिलने से समाज बनता है और जब यही बात पशुओ मे भी दिखाई दी, तो उन्होने दो प्रकार के विधान किये। प्रथम तो उन्होने मनुष्यो के समूह को तो 'समाज' का रूप दिया और दूसरे पशुओ के समूह को 'समज' कहा। दोनो मे कोई बडा अन्तर नही, सिर्फ एक मात्रा का अन्तर है। किन्तु यह एक मात्रा का अन्तर दोनो की भावना मे महान् अन्तर प्रस्तुत कर देता है।

समज और समाज की भावना में अन्तर :

तो 'समज' और 'समाज' की भावना मे क्या अन्तर है? अब यह विचारणीय है। पूर्वाचार्य कहते हैं कि जो केवल ओघसंज्ञा रखते हैं, जिन्हे ज्ञान का प्रकाश नही मिला है, जिनमे सामूहिक उत्थान का सकल्प जागृत नही है और जो एक-दूसरे मे घुल-मिल कर सामूहिक

प्रगति नही कर सकते, उनका समूह 'समज' कहलाता है। इसके विपरीत सामूहिक प्रगति का सकल्प लेकर, अपने आसपास के प्राणियो को भी उठाते हुए, उनके सुख-दुःख मे अपने आपको साझीदार बनाते हुए जो चलते है, उनका समूह 'समाज' कहलाता है।

इस व्याख्या के अनुसार मनुष्यो का समाज भी अगर कोरा समूह ही है, मात्र व्यक्तियो का एकत्रीकरण है और उसमे एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति, संवेदना एवं प्रेम नही है, सामूहिक उत्थान की भावना नही है, स्वयं ऊँचा उठने और साथ ही दूसरो को ऊँचा उठाने का सकल्प नही है, वल्कि उन्हे गिराने की भावना है, तो क्या ऐसा समूह समाज कहलाने का अधिकारी है ? जो व्यक्ति अपने लिए महलो का निर्माण कराने तो चले, किन्तु अपने आसपास की झोपडियो को महल वनाने की भावना न रखे, जो अपनी ही सुख-सुविधा मे बँध गये हो, दूसरो के सुख-दुख के साझीदार न हो इस प्रकार जो अपने आप तक ही सीमित होकर चल रहे हो, उनका गिरोह भले एक साथगामी हो, हम उसे 'समाज' कदापि नही कह सकते, 'समज' ही कहेगे। समाज जिस अनिवार्य शर्त के कारण 'समाज' कहलाता है, हमे निर्णय कर लेना है कि वास्तव में वह उस शर्त को पूरा करता है या नही ? और यदि उस शर्त को पूरा नही करता तो उसे समाज कैसे कहा जा सकता है ? उस गिरोह को पशुओ का समाज अर्थात् समज ही कहना सगत है।

पशुओ के गिरोह मे भविष्य के संकल्प के सम्वन्ध में कोई निश्चित धारणा नही होती है और जीवन-विकास की भी कोई आयोजना नही होती। उसमे यह बुद्धि भी नही होती कि हम किस प्रकार अपने भविष्य का निर्माण करे ? पशु अपने वर्तमानकालीन सुख-दुःख को ही लेकर चलते हैं। मरने वाले मर जाते है और गिरने वाले गिर जाते हैं, किन्तु उनकी कुछ भी परवाह न करता हुआ गिरोह आगे चलता जाता है।

यदि ऐसी ही वृत्ति समाज की है कि गिरोह चल रहा है, उसमे कोई गिर जाता है, पिछड जाता है और सकट मे फँस जाता है परन्तु दूसरो को यह ख्याल तक नही आता कि हमारा साथी पीछे क्यो रह गया ? उसमे क्या दुर्वलता है ? वह हमारे साथ क्यो नही चल सका ?

तथा वे उसकी सहायता के लिए क्षण भर रुकते नही बल्कि आगे बढते चले जाते है, तो वे भी पशुओं के गिरोह की तरह ही हुए। जैसे पशुओं के गिरोह में से कोई लूला-लगडा पशु पिछड जाता है, तो उसके लिए कोई ठहरता नही है, इसी प्रकार मनुष्य-गिरोह भी यदि अपने पीछे रह जाने वाले साथी का खयाल नही करता और आगे बढ जाता है, तो मैं कहता हूँ कि मनुष्य और पशुओ के चलने मे कोई अन्तर नही।

सामाजिक उत्थान की प्रवृत्ति :

अभिप्राय यह है कि समाज के सुधार के लिए, उसके उत्थान के लिए हममे सामूहिक चेतना का होना निहायत जरूरी है। व्यक्ति या अपने परिवार के रूप में सोचने की धारणा हमें बदल देनी चाहिए और सामाजिक रूप मे सोचने की प्रवृत्ति अपने अतर मे जागृत करनी चाहिए। धर्म का मार्ग और मोक्ष का मार्ग इसी प्रवृत्ति मे सन्निहित है। मैं समझता हूँ कि धर्म और मोक्ष का मार्ग इससे भिन्न नही है। भगवान् महावीर ने अपनी भावना इस रूप मे हमारे सामने व्यक्त की है –

> **सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।**
> **पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ॥**

दशवैकालिक ४ अध्ययन

पाप और उससे मुक्ति :

एक बार भगवान् महावीर से यह प्रश्न पूछा गया कि "जीवन में पग-पग पर तो पाप ही पाप दीखता है, जीवन का समस्त क्षेत्र पापो से घिरा हुआ है, और जो धर्मात्मा बनना चाहता है, उसे पापो से बचना होगा, किन्तु पापो से बचाव हो कैसे सकता है?" तब भगवान् महावीर ने कहा "पहले यह देख कि तू संसार के प्राणियो के साथ एकरस हो चुका है या नही? तेरी वृत्तियाँ उनके साथ एक रूप हो चुकी है या नही? तेरी आँखो मे उन सब के प्रति प्रेम बस रहा है या नही? यदि तू उनके प्रति एकरूपता लेकर चल रहा है, ससार के प्राणी-मात्र को समभाव दृष्टि से, विवेक और विचार की दृष्टि से देख रहा है, उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ रहा है, तो तुझे पाप-कर्म कभी भी नही बाँध पायेंगे।

अहिंसा-भावना का विकास :

अहिंसामय जीवन के विकास का भी एक क्रम होता है। कुछ अपवादों को अलग कर दिया जाए तो साधारणतया उस क्रम से ही अहिंसात्मक भावना का विकास होता है। मूल रूप में मनुष्य अपने आप में ही घिरा रहता है, अपने शरीर के मोह को लेकर उसी में बँधा रहता है। यदि मनुष्य में थोडी क्रान्ति आई भी तो वह अपने परिवार को महत्त्व देना शुरू कर देता है। तब वह अपने क्षुद्र सुख-दुःख मे से बाहर निकल कर माता, पिता, पत्नी और सन्तान के पालन-पोषण के लिए चल पडता है। उस समय भले ही वह स्वयं भूखा रह जाता है, किन्तु परिवार को भूखा नही रहने देता। खुद प्यासा रह कर भी परिवार को पानी पिलाने के लिए सदा तैयार रहता है। स्वयं बीमार रहता है, किन्तु माता, पिता और सन्तान के लिए वह अवश्य औषधियाँ जुटाता है। इस रूप मे उसकी सहानुभूति, आत्मीयता और संवेदना व्यक्ति के क्षुद्र घेरे को पार करके अपने कुटुम्ब मे विकास पाती है। इस रूप मे उसकी अहिसा की वृत्ति आगे बढती है और वह सम्यक्रूप में विकसित होने की ओर गतिशील होता है।

अनासक्त सेवा धर्म की आधार शिला :

इस तरह अहिसा का विकास होने पर भी यदि मनुष्य को निजी स्वार्थ घेर रखता है, तो मानना चाहिए कि अमृत मे जहर मिला है और उस जहर को अलग कर देना ही अपेक्षित है। किन्तु यदि मनुष्य अपने परिवार के लिए भी कर्त्तव्यबुद्धि से काम कर रहा है। उसमे आसक्ति और स्वार्थ का भाव नही रख रहा है और उनसे सेवा लेने की वृत्ति न रख कर अपनी सेवा का दान देने की ही भावना रखता है, बच्चो को उच्च शिक्षण दे रहा है, समाज को सुन्दर और होनहार युवक देने की तैयारी कर रहा है, उसकी भावना यह नही है कि बालक होशियार होकर समय पर मेरी सेवा करेगा तथा मेरे परिवार मे चार चॉद लगाएगा, अपितु व्यापक दृष्टि से आस-पास के समाज, राष्ट्र एवं जगत् की उन्नति मे यथोचित योगदान करेगा। इस रूप मे उसकी उच्च भावना ही काम कर रही होती है तो आप इस उच्च भावना को अधर्म कैसे कहेगे? मैं नही समझता कि वह अधर्म है।

मोह और उत्तरदायित्व :

जैनधर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में से मोह को दूर करने की बात कहता है, किन्तु उत्तरदायित्व को झटक कर फेंक देने की बात नही कहता। श्रावकों के लिए भी यही बात है और साधुओं के लिए भी यही बात है। साधु अपने शिष्य को पढाता है, तो इसी भावना को लेकर न, कि शिष्य अपने जीवन को उच्च बना सके, अपना कल्याण कर सके और अपने सघ का भी कल्याण कर सके! इसी महान् आदर्श को सामने रख कर यदि साधु अपने शिष्य को पढाता है, इस स्वार्थमयी भावना को लेकर नही कि मेरे पढाने के प्रतिदान स्वरूप वह मेरे लिए आहार-पानी ला दिया करेगा, मेरी सेवा किया करेगा! ऐसी क्षुद्र वृत्ति से अस्पृष्ट रह कर वह अपने शिष्य को गुरु बनने की कला सिखा रहा है तो भगवान् कहते हैं कि वह गुरु अपने लिए महत्त्वपूर्ण निर्जरा का मार्ग तलाश रहा है, अपने कर्मों को खपा रहा है। यो तो गुरु भी शिष्य के मोह मे फँस जाता है, किन्तु जैन धर्म उस मोह से बचने की बात कहता है, अपने उत्तरदायित्व को दूर फेंकने की बात नही कहता। बस, यही बात गृहस्थ के विषय मे भी समझनी चाहिए।

समाज सुधार का सही दृष्टिकोण :

इस प्रकार आप जिस समाज में है, आपको जो समाज, राष्ट्र और देश मिला है, उसके प्रति सेवा की उच्च भावना अपने मन मे रक्खो, अपने व्यक्तित्व को समाजमय और देशमय और अन्त मे सम्पूर्ण प्राणिमय बना डालो। आज दे रहे है तो कल ले लेंगे, इस प्रकार की अन्दर मे जो सौदेबाजी की वृत्ति है स्वार्थ की वासना है—उसे निकाल फेंको और फिर विशुद्ध कर्त्तव्य-भावना से, निःस्वार्थभावना से जो कुछ करोगे, वह सब धर्म बन जायगा। मैं समझता हूँ, समाजसुधार के लिए इससे भिन्न कोई दूसरा दृष्टिकोण नही हो सकता।

समाज सुधार का सही मार्ग :

आप समाज-सुधार की बात करते हैं, किन्तु मैं कह चुका हूँ कि समाज नाम की कोई अलग चीज नही है। व्यक्ति और परिवार मिल कर ही समाज कहलाते हैं, अतएव समाज-सुधार का अर्थ है व्यक्तियों

का और परिवारो का सुधार करना। पहले व्यक्ति को सुधारना और फिर परिवार को सुधारना। और जब-जब अलग-अलग व्यक्ति तथा परिवार सुधर जाते है, तो फिर समाज स्वयमेव सुधर जायेगा।

आप समाज को सुधारना चाहते है? बडी अच्छी बात है। आपका उद्देश्य प्रशस्त है और आपकी भावना स्तुत्य है मगर यह बतला दीजिए कि आप समाज को नीचे से सुधारना चाहते है या ऊपर से? पेड को हरा-भरा और सजीव बनाने के लिए पत्तो पर पानी छिडक रहे है या जड मे पानी दे रहे है? अगर आप पत्तो पर पानी छिडक कर पेड को हरा-भरा चाहते है तो आपका उद्देश्य कदापि पूरा होने का नही!

आज तक समाज-सुधार के लिए जो तैयारियाँ हुई हैं, वे ऊपर से सुधार करने की हुई है, अन्दर से सुधारने की नही। अन्दर से सुधार करने का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति, जो चाहता है कि समाज की बुराइयाँ दूर हो, उसे सर्व प्रथम अपने व्यक्तिगत जीवन मे से उन बुराइयो को दूर कर देना चाहिए। उसे गलत विचारो, मान्यताओं और त्रुटिपूर्ण व्यवहारो से अपने आपको बचाना चाहिए। यदि वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन मे उन बुराइयो से मुक्त हो जाता है। और उन त्रुटियो को ठुकरा देता है, तो एक दिन वे परिवार मे से भी दूर हो जाएँगी और फिर समाज अपने आप सुधर जायेगा।

समाज सुधार की बाधाएँ :

इसके विपरीत यदि कोई सामाजिक बुराईयो को दूर करने की बात करता है, समाज की रूढियो को समाज के लिये राहु के समान समझता है, और उनसे मुक्ति मे ही समाज का कल्याण मानता है, किन्तु स्वयं उन बुराईयो और रूढियो को न तो ठुकरा पाता है और न ठुकराने की हिम्मत ही करता, तो इस प्रकार की दुर्बलता से समाज का कल्याण कदापि संभव नही। यह दुर्बल भावना समाज-सुधार के मार्ग का सबसे बडा रोडा है।

समाज सुधार और रीति-रिवाज :

आपके यहाँ विवाह आदि सम्बन्धी जो रीतियाँ आज प्रचलित है, वे किसी जमाने मे सोच-विचार कर चलाई गई थी। और जब वे चलाई

गई होगी, उससे पहले सभवतः वे प्रचलित न रही हो। सभव है, आज जिन रीति-रिवाजो से आप चिपटे हुए है, वे जब प्रचलित किये गये होगे, तो उस समय के लोगो ने नयी चीज समझ कर इनका विरोध किया हो, और इन्हे अमान्य कर दिया हो। किन्तु तत्कालीन दूरदृष्टि समाज के नायको ने साहस करके इन्हे अपना लिया हो और फिर वे ही रीति-रिवाज धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गये हो। उस समय इनकी बडी उपयोगिता रही होगी। परन्तु इधर-उधर के सम्पर्क मे आने पर धीरे-धीरे उन रीति-रिवाजो मे वहुत विकार आ गये, समय वदलने पर परिस्थितियो मे भारी उलटफेर हो गया। मुख्यतया इन दो कारणो से उस समय के उपयोगी रीति-रिवाज आज के समाज के लिए अनुपयोगी हो गये है। यही कारण है कि उन रीति-रिवाजो का जो हार किसी समय समाज के लिए अलकार था, वह आज वेडी वन गया है। इन वेडियो से जकडा हुआ समाज उनसे मुक्त होने को आज तडफडा रहा है। और जव उनमे परिवर्तन करने की वात आती है, तो लोग कहते है कि पहले समाज उसे मान्य कर ले, फिर हम भी मान लेगे, समाज निर्णय करके मान ले तो हम भी अपना लेगे। यह कदापि उपयुक्त तथ्य नही है।

पूर्वजो के प्रति आस्था :

आज जव समाज-सुधार की वात चलती है, तो कितने ही लोग यह कहते पाये जाते हैं कि हमारे पूर्वज क्या मूर्ख थे, जिन्होने ये रिवाज चलाये ? निस्सन्देह अपने पूर्वजो के प्रति इस प्रकार आस्था का जो भाव उनके अन्दर है, वह स्वाभाविक है। किन्तु ऐसा कहने वालो को अपने पूर्वजो के कार्यो को भी भलीभाँति समझना चाहिए। उन्हे समझना चाहिए कि उनके पूर्वज उनकी तरह परिस्थितिपूजक नही थे। उन्होने परम्परागत रीति-रिवाजो मे, अपने समय और अपनी परिस्थितियो के अनुसार सुधार किये थे। उन्होने सुधार किया होता और उन्हे ज्यो का त्यो अक्षुण्ण वनाये रक्खा होता, तो हमारे सामने ये रिवाज होते ही नही, जो आज प्रचलित हैं। फिर तो भगवान् ऋषभदेव के जमाने मे जैसी विवाहप्रथा प्रचलित थी, वैसी की वैसी आज भी प्रचलित होती। किन्तु वात यह नही है। काल के अप्रतिहत प्रवाह मे वहते हुए समाज ने, समय-समय पर सैकडो परि-

वर्तन किये है। यह सब परिवर्तन करने वाले पूर्वज लोग ही तो थे। आपके पूर्वज परिस्थितिपालक नही थे। वे देश और काल को समझ कर अपने रीति-रिवाजों में परिवर्तन भी करना जानते थे और समय-समय पर परिवर्तन करते भी रहते थे। इसी कारण तो यह समाज आज तक टिका हुआ है। सामयिक परिवर्तन के बिना समाज टिक नही सकता।

पूर्वजो के प्रति आस्था का सही रूप :

एक बात और विचारणीय है। जो पोशाक पूर्व पुरुष पहनते थे, क्या वही पोशाक हम आज पहनते है? पूर्वज जो व्यापार-धन्धा करते थे, क्या वही हम आज करते है? पुरखा लोग जहाँ रहते थे, क्या वही आज हम रहते है? हमारा आहार-विहार क्या अपने पूर्वजो के आहार-विहार के समान ही है? यदि इन सब बातो में परिवर्तन कर लेने पर भी अपने पूर्वजो की अवगणना नही कर रहे हैं और उनके प्रति हमारी आस्था ज्यों की त्यों विद्यमान है तो क्या कारण है कि सामाजिक रीति-रिवाजों में परिवर्तन कर लेने पर भी वह आस्था विद्यमान नहीं रह सकती?

मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि यदि यह आस्था अपने पूर्वजो के प्रति सच्ची आस्था है, तो हमें उनके चरण-चिह्नो पर चल उनका अनुकरण और अनुसरण करना चाहिए। जैसे उन्होने अपने समय में परिस्थितियो के अनुकूल सुधार करके समाज को जीवित रक्खा और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, उसी प्रकार आज हमे भी परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके, उसमे आये हुए विकारो को दूर करके, समाज को नवजीवन देना चाहिए और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देना चाहिए।

अंधप्रशंसा नहीं : सही अनुकरण आवश्यक :

वह पुत्र किस काम का है जो अपने पूर्वजो की प्रशंसा के पुल तो बाँधता है, किन्तु जीवन में उनके अच्छे कार्यो का अनुकरण नही करता। सपूत तो वह है जो पूर्वजो की भाँति, आगे आकर, समाज की कुरीतियो मे सुधार करता है और इस बात की परवाह नही करता कि दूसरे सुधार करते है या नहीं। यदि पूर्वजो ने इस प्रकार की कायरता नही दिखलाई थी, तो मैं ही आज कायरता क्यों कर दिखाऊँ!

गलत धारणाएँ :

आज सब जगह यही प्रश्न व्याप्त है। प्रायः सभी यही सोचते रहते है और सारे भारत को इसी मनोवृत्ति ने घेर रक्खा है कि दूसरे वस्तु तैयार कर दें और हम उनका उपभोग कर लें। दूसरे भोजन तैयार कर दें और हम खा लिया करें। दूसरे कपडे तैयार कर दे और हम पहन लें! दूसरे सडक बना दें और हम चल लिया करें। स्वयं कोई पुरुषार्थ नही कर सकते, प्रयत्न नही कर सकते और जीवन के संघर्षों से टक्कर नही ले सकते। अपना सहयोग दूसरो के साथ न जोड कर सब यही सोचते है कि दूसरे पहले कर लें तो फिर मैं उसका उपयोग कर लूँ और उससे लाभ उठा लूँ।

आज समाज-सुधार की बातें चल रही हैं। जिन बातो का सुधार करना है, वे किसी जमाने मे ठीक रही होगी, किन्तु अब परिस्थिति पलट गई है और वह बातें भी सड-गल गई है तथा उनके कारण समाज बर्बाद हो रहा है, दर्द अनुभव कर रहा है। किन्तु जब उनमे सुधार करने का प्रश्न आता है तो कहा यह जाता है कि पहले समाज ठीक कर ले तो फिर मैं ठीक कर लूँ, समाज रास्ता बना दे तो मैं चलने को तैयार हूँ। इस प्रकार कोई भी आगे बढकर पुरुषार्थ नही दिखाना चाहता।

समाज सेवक का कर्त्तव्य :

काल के प्रवाह मे बहते-बहते जो रिवाज सड-गल गये हैं, उनके प्रति भी समाज को मोह हो जाता है। समाज सडे-गले शरीर को भी छाती से चिपटा कर चलना चाहता है। यदि कोई चिकित्सक उन सडे-गले हिस्सो को अलग करना चाहता है, और समाज के रोग को दूर करना चाहता है और ऐसा करके समाज के जीवन की रक्षा करना चाहता है, तो समाज तिलमिला उठता है, चिकित्सक को गालियाँ देता है और उसका अपमान करता है। किन्तु उस समय समाज-सेवक का क्या कर्त्तव्य है? उसे यह नही सोचना है कि मैं जिस समाज की भलाई के लिए काम करता हूँ, वह समाज मेरा अपमान करता है तो मुझे क्यो इस झझट मे पडना चाहिए? मैं क्यो आगे आऊँ?

नेतृत्व का सही मार्ग :

जब तक मनुष्य सम्मान पाने और अपमान से बचने का भाव नही त्याग देता, तब तक वह समाज उत्थान के पथ पर अग्रसर नही हो सकता। ऐसा मनुष्य कभी समाज-सुधार के लिए नेतृत्व नही ग्रहण कर सकता।

एक आचार्य कहते है कि जो तू चाहता है कि समाज मे जागृति और क्रांति ला दूँ, उसके पुराने ढाँचे को तोड कर नया ढाँचा रच दूँ, तो आगे आने के लिए तुझे नक्कू बनना पडेगा और पहले पहल अपमान की चोट सहनी पडेगी। नही सहेगा तो आगे कैसे बढेगा ?

'अपमानं पुरस्कृत्य, मानं कृत्वा तु पृष्ठतः।'

अपमान को देवता मानो :

यदि तू समाज मे क्रान्ति लाना चाहता है और समाज मे नवीन जीवन पैदा करना चाहता है तो तू अपमान को देवता मानकर चल और यह समझ ले कि जहाँ भी जाऊँगा, मुझे अपमान का स्वागत करना पडेगा। तू सम्मान की ओर से पीठ फेर ले और समझ ले कि 'सारी जिन्दगी भर सम्मान से तेरी भेंट नही होने वाली है। और यह भी कि मुझे ईसा की तरह शूली पर चढना होगा, फूलो की सेज पर बैठना मेरे भाग्य मे नही बदा है। यदि ऐसी लहर लेकर चलेगा तभी तू समाज का सही रूप से निर्माण कर सकेगा, अन्यथा नही।

मनुष्य टूटी-फूटी चीज को जल्दी सुधार देता है, और जब उस पर रंग-रोगन करना होता है तो भी जल्दी कर देता है और उसे सुन्दर रूप से सजा कर खडी कर देता है। दीवारो पर चित्र बनाने है तो सहज ही बनाये जा सकते हैं। एक कलाकार लकडी या पत्थर का टुकड़ा लेता है और उसे काट-छाँट कर शीघ्र मूर्ति का रूप दे देता है। कलाकार के अन्तस्तल मे जो भी भावना निहित होती है, उसी को वह मूर्त्त रूप मे परिणत करता है। क्योकि यह सब चीजें तो निर्जीव है, वे कर्त्ता का प्रतिरोध नही करती हैं, कर्त्ता की भावना के अनुरूप बनने मे वे कोई हिचकिचाहट नही करती हैं।

किन्तु समाज ऐसा नही है। वह निर्जीव नही है, जागृत है, उसे पुरानी चीजो को पकड़ रखने का मोह है, हठ है। जब कोई भी

समाज-सुधारक उसे सुन्दर रूप मे बदलने के लिए चलता है तो समाज काठ की तरह चुपचाप नही रह जायेगा कि कोई भी आरी चलाता रहे और वह कटता रहे। समाज की ओर से विरोध होगा और सुधारक को उसका डटकर सामना करना पडेगा।

समाज सुधार प्रेम से ही संभव :

सभा मे बैठकर प्रस्ताव पास कर लेने मात्र से भी समाज-सुधार होने वाला नही है। ऐसा होता तो कभी का हो गया होता। समाज-सुधार के लिए तो समाज से लड़ना होगा, किन्तु वह लडाई क्रोध की नही, प्रेम की लडाई होगी।

डाक्टर जब बच्चे के फोडे को चीराफाडी करता है, तब बच्चा गालियाँ देता है और चीराफाडी न कराने के लिए अपनी सारी शक्ति खर्च कर देता है, डाक्टर उस पर क्रोध नही करता, दया करता है और मुस्करा कर अपना काम करता जाता है। जब बच्चे को आराम हो जाता है तो वह अपनी गालियो के लिए पश्चात्ताप करता है। सोचता है, उन्होने तो मेरे आराम के लिए काम किया और मैंने उन्हे गालियाँ दी। यह मेरी कैसी नादानी थी!

इसी प्रकार समाज की किसी भी बुराई के मवाद को निकालने के लिए दवा करोगे तो समाज चिल्लाएगा और छटपटाएगा, किन्तु आपको समाज को बुरा-भला नही कहना है। आपको मुस्कराते हुए, सहज भाव से, चुपचाप, आगे बढना है और उस हलाहल विष को भी अमृत के रूप मे ग्रहण करके आगे बढना है। यदि समाज-सुधारक ऐसी भूमिका पर आ गया है तो वह अवश्य आगे बढ सकेगा। विश्व की कोई शक्ति नही जो उसे रोक सके।

भगवान् महावीर की क्रांति :

भगवान् महावीर बडे क्रान्तिकारी थे। जब उनका आविर्भाव हुआ, तब धार्मिक क्षेत्र मे, सामाजिक क्षेत्र मे और दूसरे अनेक क्षेत्रो मे भी अनेकानेक बुराइयाँ घुसी हुई थी। उन्होने अपनी साधना परिपूर्ण करने के पश्चात् धर्म और समाज मे जबर्दस्त क्रान्ति की।

जाति प्रथा का विरोध :

भगवान् ने जाति-पाँति के बन्धनो के विरुद्ध सिंहनाद किया और कहा कि मनुष्य मात्र की एक ही जाति है। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई

अन्तर नही है। लोगो ने कहा यह नई बात कैसे कह रहे हो ? हमारे पूर्वज तो कोई मूर्ख नही थे। किन्तु भगवान् ने इस चिल्लाहट की परवाह नही की और वे कहते रहे

'मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।'

जाति नामक कर्म के उदय से मनुष्य जाति एक ही है। उसके टुकडे नही किये जा सकते। उसमे जन्मतः ऊँच-नीच की कल्पना को कोई स्थान नही दिया जा सकता।

नारी उत्थान का उद्घोष :

फिर भगवान् ने कहा तुम महिला-समाज को गुलामो की तरह देख रहे हो, किन्तु वे भी समाज का महत्त्वपूर्ण अग है। उन्हे समाज मे जब तक उचित स्थान नही दोगे, समाज मे समरसता नही आ सकेगी।

तब भी हजारो लोग चिल्लाए। कहने लगे यह कहाँ से ले आए ? स्त्रियाँ तो समाज-सेवा के लिए बनी है, उन्हे तो कोई ऊँचा स्थान नही दिया जा सकता है।

मगर भगवान् ने शान्त-भाव से जनता को अपनी बात समझाई और अपने सघ मे साध्वियो को वही स्थान दिया जो साधुओ को प्राप्त था और श्राविकाओ को भी उसी उँचाई पर पहुँचाया, जिस पर श्रावक आसीन थे। भगवान् ने किसी भी अधिकार से महिला-जाति को वचित नही किया। सब क्षेत्रो मे पुरुषो के ही समान उसे सब अधिकार दिये।

बलिप्रथा का विरोध :

यज्ञ के नाम पर हजारो पशुओ का बलिदान किया जा रहा था। पशुओ पर घोर अत्याचार हो रहे थे, घोर पाप का राज्य छाया था और समाज के पशुधन का कत्लेआम हो रहा था। यज्ञो मे हिंसा तो होती ही थी, उसके कारण आर्थिक स्थिति भी डॉवाडोल हो रही थी। भगवान् ने इन हिंसात्मक यज्ञो का स्पष्ट शब्दो मे विरोध किया।

उस समय समाज की बागडोर ब्राह्मणो के हाथ मे थी। राजा क्षत्रिय थे और वही प्रजा पर शासन करते थे, किन्तु राजा पर भी

शासन ब्राह्मण लोगो का था। इस रूप मे उन्हे राजशक्ति भी प्राप्त थी और प्रजा के मानस पर भी उनका आधिपत्य था। वास्तव मे ब्राह्मणो का उस समय बडा वर्चस्व था, और यज्ञो की बदौलत हजारो-लाखो ब्राह्मणो का पालन-पोषण हो रहा था। ऐसी स्थिति मे, कल्पना की जा सकती है कि भगवान् महावीर के यज्ञविरोधी स्वर का कितना प्रचण्ड विरोध हुआ होगा। खेद है कि उस समय का कोई सिलसिलेवार इतिहास हमे उपलब्ध नही है, जिससे हम समझ सके कि यज्ञो का विरोध करने के लिए भगवान् महावीर को कितना सघर्ष करना पडा और क्या-क्या सहन करना पडा। फिर भी आज जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका डट कर विरोध किया गया और खूब बुरा-भला कहा गया। पुराणो के अध्ययन से विदित होता है कि उन्हे नास्तिक और आसुरी प्रकृति वाला तक कहा गया और अनेक तिरस्कारपूर्ण शब्द-बाणो की भेट चढाई गई। उन पर समाज के आदर्श को भग करने का दोषारोपण तक किया गया।

फूलो का नहीं, काँटों का मार्ग :

अभिप्राय यह है कि अपमान का उपहार तो तीर्थङ्करो को भी मिला है। ऐसी स्थिति मे हम और आप चाहे कि हमे सब जगह सम्मान ही सम्मान मिले, तो यह कदापि सभव नहीं। समाज-सुधारक का मार्ग फूलो का नही, काटो का मार्ग है। उसे सम्मान पाने की अभिलाषा त्याग कर अपमान का आलिगन करने को तैयार होना होगा, उसे प्रशसा की इच्छा छोडकर निन्दा का जहर पीना होगा, फिर भी शान्त और स्थिर भाव से सुधार के पथ पर अनवरत चलते रहना होगा। समाज-सुधारक कदम-कदम चलेगा। वह आज एक सुधार करेगा तो कल दूसरा सुधार करेगा। पहले छोटे-छोटे टीले तोडेगा तो एक दिन हिमालय भी तोड देगा।

जागृति और साहस :

इस प्रकार नयी जागृति और साहसमयी भावना लेकर समाज-सुधार के पथ पर अग्रसर होना पडेगा और अपने जीवन को प्रशस्त बनाना पडेगा। ऐसा न हुआ तो समाज-सुधार की बातें भले कर ली जाएँ किन्तु वस्तुत समाज का सुधार नही हो पायेगा।

समाज-सुधार का मूलमंत्र :

शिशु जब माँ के गर्भ से जन्म लेकर भूतल पर प्रथम पग रखता है, तभी से समाज-जीवन के साथ उसका गठबन्धन आरम्भ हो जाता है। उसका सामाजीकरण उसी उष काल से होना आरम्भ हो जाता है। जिस प्रकार से सम्पूर्ण शरीर से अलग किसी अवयव विशेष का कोई महत्त्व नही होता, व्यक्ति का भी समाज से भिन्न कोई अस्तित्व महत्त्व नहीं रखता है। किन्तु जिस प्रकार से समग्र शरीर में किसी अवयव विशेष का भी पूरा-पूरा महत्त्व होता है। व्यक्ति का भी समाज जीवन मे महत्त्व है। इस प्रकार अरस्तु ने ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' इस प्रकार अगागी-सावयव सिद्धान्त के आधार पर हम देखते है कि व्यक्ति और समाज के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक दूसरे का पूरक है, एक दूसरे का परिष्करण परिवर्द्धन करने वाला है। अत दोनो का यह पावन कर्त्तव्य हो जाता है कि दोनो ही परस्पर सहयोग, सहानुभूति एव सम्यक् सतुलन बनाये रखते हुए समग्र समाज-जीवन किंवा मानव-जीवन का उत्थान करे।

महात्मा गाँधी ने इसी सिद्धान्त के आधार पर अपने सर्वोदयवाद की पीठिका का निर्माण किया था कि सबो के द्वारा सबो का उदय ही सर्वोदय है। अर्थात् जब सभी एक दूसरे के साथ मिलकर परस्पर अनुरागबद्ध होकर परस्पर सबो के उत्थान की, हित की चिंतना करेंगे तथा तदनुरूप कार्य-पद्धति अपनायेंगे, समाज का स्वत. सुधार हो जायेगा। सामाजिक पुनर्गठन अथवा पुनरुद्धार की जो बात महात्माजी ने चलाई, उसके मूल मे यही भावना रम रही थी।

तात्पर्य यह कि समाज का सुधार तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच परस्पर बन्धुत्व की उत्कट भावना, कल्याण का सरस प्रवाह हिलोरें मार रहा हो। इसी बन्धुत्व भाव के आधार पर दुनियां की तमाम असगतियाँ, अव्यवस्थाएँ, अनीतिता, अनयता एव अनाचारिता का मूलोच्छेदन हो जायेगा और समाज उत्थान की उच्चतम चोटी पर चढकर कल्याण की वशी टेरने लगेगा। यही सारे सुधारो की केन्द्र बिन्दु है। भूतल को स्वर्ग बनाने का अमोघ मंत्र है।

आज की गालियाँ कल की वंदना :

स्मरण रखिए, आज का समाज गालियाँ देगा, किन्तु भविष्य का समाज 'समाजनिर्माता' के रूप में आपको स्मरण करेगा। आज का समाज आपके सामने काँटे बिखेरेगा, परन्तु भविष्य का समाज श्रद्धा की सुमन-अंजलियाँ भेंट करेगा। अतएव आप भविष्य की ओर ध्यान रखकर और समाज के वास्तविक कल्याण का विचार करके, अपने मूल केन्द्र को सुरक्षित रखते हुए, समाज-सुधार के पुनीत कार्य में जुट जाएँ, भविष्य आपका है।*

* जैन नवयुवक मण्डल, ब्यावर द्वारा आयोजित 'समाज-सुधार' विषय पर दिनांक २२-१०-५० को दिया गया प्रवचन।

२
विद्यार्थी-जीवन

विद्यार्थी जीवन एक वडा ही विस्तृत एवं व्यापक जीवन का पर्याय है। इसकी कोई सीमाएँ-परिसीमाएँ नही है। जिज्ञासु मानव जीवन के जिस अतराल मे, जीवन की तैयारी की शिक्षा अध्ययन, मनन, चिंतन एवं अपनी अनुभूतियो द्वारा ग्रहण करता है, हम इसे ही विद्यार्थी का जीवन किंवा छात्र जीवन कहते है। सिद्धान्त की बात यह है कि छात्र-जीवन का सम्बन्ध किसी उम्र-विशेष के साथ नही है। यह भी नही है कि जो किसी पाठशाला-विद्यालय या महाविद्यालय मे नियमित रूप से पढते है, वे ही छात्र कहलाएँ। मैं समझता हूँ कि जिसमे जिज्ञासाप्रवृत्ति वर्तमान है, जिसे कुछ भी नूतन ज्ञान अर्जित करने की इच्छा है, वह मनुष्यमात्र विद्यार्थी है, चाहे वह किसी भी उम्र का हो अथवा किसी भी परिस्थिति मे रहता हो। और, यह जिज्ञासा की वृत्ति किसमे नही होती? जिसमे चेतना है, जीवन है, उसमे जिज्ञासा अवश्य ही होती है, इस दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य, जन्म से लेकर मृत्यु की अतिम घड़ी तक विद्यार्थी ही बना रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो वडे-बूढे है, जिन्होने अपने जीवन में सत्य का प्रकाश प्राप्त कर लिया है और जिनकी चेतना पूर्णता पर पहुँच चुकी है, आगम की वाणी मे जिन्होने सर्वज्ञता पाली है, वे विद्यार्थी न रह कर विद्याधिपति हो जाते है। उन्हे आगम मे 'स्नातक' कहते है। और, जिन्होने शास्त्रोक्त इस स्नातक दशा को प्राप्त नही

कर पाया है, भले किसी विश्वविद्यालय के स्नातक ही क्यो न हो चुके हो, वास्तव मे विद्यार्थी ही है। इस दृष्टि से मनुष्यमात्र विद्यार्थी है और उसे विद्यार्थी बनकर ही रहना चाहिए। इसी मे जीवन का सही विकास निहित है।

मनुष्यमात्र ही विद्यार्थी :

अपने जीवन मे मनुष्य विद्यार्थी ही है और साथ ही मनुष्यमात्र ही विद्यार्थी है। आप जानते है कि पाठशालाएँ नरक और स्वर्ग मे नही हैं। और, पशुयोनि मे हजारो जातियाँ होने पर भी उनके लिए कोई स्कूल नही खोले गये है। आम तौर पर पशुओ मे तत्त्व के प्रति कोई जिज्ञासा नही होती और न ही जीवन को समझने की कोई लगन देखी जाती है। तो एक तरफ सारा ससार है और दूसरी तरफ अकेला मनुष्य है। जब हम इस विराट् ससार की ओर दृष्टिपात करते हैं तो सब जगह मनुष्य की छाप लगी हुई दिखाई देती है और जान पडता है कि मनुष्य ने ही ससार को यह विराटता प्रदान की है।

ससार की विराटता और जिज्ञासा :

मनुष्य ने ससार को जो विराट् रूप प्रदान किया, उसके मूल मे उसकी जिज्ञासा ही प्रधान रही है। ऐसी प्रबल जिज्ञासा मनुष्य मे ही पाई जाती है, अतएव विद्यार्थी का पद भी मनुष्य को ही मिला है। देवता भले कितनी ही ऊँचाई पर रहते क्यो न हो, उनको भी विद्यार्थी का महिमावान पद प्राप्त नही है। यह तो मनुष्य ही है जो विचार और प्रकाश लेने को आगे बढा है और जो अपने मस्तिष्क के दरवाजे खोलकर दूसरो से प्रकाश लेने और देने के लिए आगे आया है।

मनुष्य एक विराट् शक्तिकेन्द्र है। वह केवल हड्डियो का ढाँचा मात्र नही है जो सिर को ऊपर उठाये दो पैरो के बलपर खडा हो गया है। वह केवल शरीर को ऊँचा बनाने के लिए नही है, बल्कि उसमे देने को भी बहुत कुछ भरा है।

मानव की विकासकालीन बाह्य परिस्थितियाँ :

आप देखें और सोचे कि कर्मभूमि के प्रारभ मे, जब मनुष्य-जाति का विकास प्रारभ हुआ, तब मनुष्य को क्या मिला था? भगवान् ऋषभदेव के समय मे उसको केवल बडे-बडे मैदान, लम्बी-चौडी पृथ्वी

और नदी-नाले ही तो मिले थे। मकान के नाम पर एक झोपडी भी नहीं थी और न वस्त्र के नाम पर एक धागा ही था। रोटी पकाने के लिए न अन्न का एक दाना था, न बर्तन थे, न चूल्हा था, न चक्की थी। कुछ भी तो नही था। मतलब यह कि एक तरफ मनुष्य खडा था और दूसरी तरफ थी सृष्टि, जो मौन और चुप थी! पृथ्वी और आकाश दोनो ही मौन थे।

उसके बाद इतना विराट् संसार खडा हुआ और नगर बस गए। मनुष्य ने नियंत्रण कायम किया और उत्पादन की ओर गति की। मनुष्य ने स्वय खाया और जग को खिलाया। स्वय के तन ढँकने के साथ दूसरो के भी तन ढाँके। और, उसने इसी दुनिया मे ही तैयारी नही की, प्रत्युत उससे आगे का भी मार्ग तय किया। अनन्त-अनन्त भूत और भविष्य की बाते खडी हो गई और विराट् चिन्तन हमारे सामने प्रस्तुत हो गया।

वह समय युगलियो का था। वह ऐसा काल था, जब मनुष्य पृथ्वी पर पशुओ की भाँति घूम रहा था। उसके मन मे इस दुनिया को अथवा अगली दुनिया को बनाने का कोई प्रश्न न था। फिर यह सब कहाँ से आया? स्पष्ट है, इसके मूल मे मनुष्य की प्रगतिशील भावना काम कर रही थी। उसने नई सृष्टि बनाकर खडी कर दी, उसने युगो से प्रकृति के साथ सघर्ष किया और एक दिन उसने प्रकृति और पृथ्वी पर अपना नियंत्रण स्थापित कर ही लिया।

मनुष्य को बाहर की प्रकृति से ही नही, अन्दर की प्रकृति से भी लडना पडा, अर्थात् अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि की वासनाओ से भी खूब लडना पडा। उसने अपने हृदय को भी खोल कर देख लिया और समझ लिया कि यह हमारे कल्याण का और यह अकल्याण का मार्ग है एवं हमारे जीवन मे तथा राष्ट्र के जीवन मे कितना उपयोगी है?

मनुष्य ने एक तरफ प्रकृति का विश्लेषण किया और दूसरी तरफ अपने अन्दर के जीवन का विश्लेषण किया कि हमारे भीतर कहाँ नरक और स्वर्ग बन रहे हैं? बन्धन खुल रहे है या बँध रहे हैं? हम किस रूप मे ससार मे आये हैं, और अब हमे लौटना किस रूप मे है?

मानव-मस्तिष्क : ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र :

इस प्रकार बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का जो चिन्तन मनुष्य के पास आया, वह सब मनुष्य के मस्तिष्क से ही आया है, मनुष्य के मस्तिष्क से ही ज्ञान की सारी धाराएँ फूटी है। यह अलंकार, काव्य, दर्शनशास्त्र और व्याकरण-शास्त्र प्रभृति सभी मानवीय-मस्तिष्क से ही निकले है। आज हम ज्ञान और विज्ञान का जो भी विकास देखते है, सभी कुछ मनुष्य के ही मस्तिष्क की देन है। मनुष्य अपने मस्तिष्क पर भी विचार करता है तथा वह यह सोचता और मार्ग खोजता है कि अपने इस प्राप्त मानव-जीवन का उपयोग क्या है? इसको विश्व से कितना कुछ पाना और विश्व को कितना कुछ देना है?

अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपनी अविराम जिज्ञासा की प्रेरणा से ही विश्व को यह रूप प्रदान किया है। वह निरन्तर बढता जा रहा है और विश्व को निरन्तर अभिनव स्वरूप प्रदान करता जा रहा है। परन्तु यह सब संभव तभी हुआ जब कि वह प्रकृति की पाठशाला मे एक नम्र विद्यार्थी होकर प्रविष्ट हुआ। इस रूप में मनुष्य अनादि काल से विद्यार्थी रहा है और जब तक विद्यार्थी रहेगा, उसका विकास बराबर होता रहेगा।

अक्षर ज्ञान ही शिक्षा नहीं :

अक्षरो की शिक्षा ही सब कुछ नहीं है। कोरी अक्षर शिक्षा-से जीवन का विकास नही हो सकता। जब तक अपने और दूसरे के जीवन को पूर्ण अध्ययन नही है, पैनी बुद्धि नहीं है, समाज और राष्ट्र की गुत्थियो को सुलझाने की और अमीरी तथा गरीबी के प्रश्न को हल करने की क्षमता नहीं आई है, तब तक शिक्षा की कोई उपयोगिता नही है। केवल पढ लेने का अर्थ शिक्षित हो जाना नही है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है

'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः।

अर्थात् बडे-बडे पोथे पढने वाले भी मूर्ख होते है। जिसने शास्त्र घोट-घोट कर कण्ठस्थ कर लिये हैं, किन्तु अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन को ऊँचा उठाने की बुद्धि नही पाई है, उसके शास्त्र-चिन्तन और मथन का कोई अर्थ नही है। यह ठीक कहा गया है कि—

जहा खरो चंदण-भारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।

आवश्यक निर्युक्ति ।

अर्थात गधे की पीठ पर चन्दन की बोरियाँ भर-भर कर लाद दी गई, काफी वजन लद गया, फिर भी उस गधे के भाग्य मे क्या है ? जो बोरियाँ लद रही है, वे उसके लिए क्या है ? उसकी तकदीर मे तो बोझ ढोना ही बदा है। उसके ऊपर चाहे मिट्टी और लकडियाँ लाद दी जाएँ या हीरे और जवाहरात लाद दिये जाएँ, वह तो वजन ही महसूस करेगा। चन्दन की सुगन्ध का महत्व और मूल्य आंक पाना उसके भाग्य में नहीं है ।

विद्या का वास्तविक अर्थ :

आचार्य के कहने का अर्थ यह है कि कुछ लोग शास्त्रो को और विद्याओं को, चाहे वह इस लोक-सबंधी हो या परलोक सबंधी, भौतिक विद्याएँ हो या आध्यात्मिक विद्याएँ, अपने मस्तक पर लादे चले जा रहे है, वस्तुत वे केवल उस गधे की तरह ही भार ढोने वाले मात्र हैं। वे दुनिया भर की दार्शनिकता बघार देंगे, व्याकरण की कारिकाएँ रट कर शास्त्रार्थ कर लेंगे, परन्तु उससे होना क्या है ? उसके जीवन मे तो बिन्दियाँ ही है ! क्रियाहीन कोरे ज्ञान की क्या कीमत है ? वह ज्ञान ही क्या, वह विद्या ही कैसी, जो आचरण का रूप न लेती हो ! जो जीवन की बेडियाँ न तोड सकती हो ! ऐसी विद्या वन्ध्या है, ज्ञान निष्फल है ऐसी शिक्षा तोतारटंत के अतिरिक्त और कुछ भी नही है महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए ठीक ही कहा है

'सा विद्या या विमुक्तये ।'

अर्थात् विद्या वही है जो हमे विकारो से मुक्ति दिलाने वाली हो, हमे स्वतन्त्र करने वाली हो, हमारे बन्धनो को तोडने वाली हो ।

मुक्ति का अर्थ है स्वतन्त्रता । समाज की रीतियो, कुसंस्कारो, अंधविश्वासो, गलतफहमियो और वहमो से, जिनसे वह जकड़ा है, छुटकारा पाना ही सच्ची स्वतन्त्रता है ।

आज के छात्र और फैसन :

आज के अधिकांश विद्यार्थी गरीबी, हाहाकार और रुदन के बन्धनो मे पडे है, फिर भी फैशन की फॉसी उनके गले से नही छूटती है। मैं विद्यार्थियो से पूछता हूँ कि क्या तुम्हारी विद्या इन बधनो को तोडने को उद्यत है? क्या तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनो की दीवार को तोडने को तैयार है? यदि तुम अपने बन्धनो को ही तोडने मे समर्थ नही हो, तो अपने देश, जाति और समाज के बन्धनो को तोडने मे कैसे समर्थ हो सकोगे? पहले अपने जीवन के बन्धनो को तोडने का सामर्थ्य प्राप्त करो तभी राष्ट्र और समाज के बन्धनो को काटने के लिए शक्तिमान हो सकोगे। और, यदि तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनो को तोडने मे समर्थ नही है, तो समझ लो कि वह अभी अधूरी है और उसका फल तुम्हे नही मिल रहा है।

शिक्षा और कुशिक्षा :

यदि तुमने अध्ययन करके चतुराई, ठगने की कला और धोखा देने की विद्या सीखी है, तो कहना चाहिए कि तुमने शिक्षा नही, कुशिक्षा पाई है और स्मरण रखना चाहिए कि कुशिक्षा, अशिक्षा से भी अधिक भयानक होती है। कभी-कभी पढे-लिखे आदमी अनपढ एवं अशिक्षितो से कही ज्यादा मक्कारियाँ सीख लेते है। किन्तु उनको शिक्षा शिक्षा, नही है, वह कला, कला नही है। वह तो धोखेबाजी है और ऐसी आत्मवचना है जो जीवन को बर्बाद कर देने मे सहज समर्थ है।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य :

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य क्या है? शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य अज्ञान को दूर करना है। मनुष्य मे जो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ मौजूद है और जो दबी पडी है, उन्हे प्रकाश मे लाना ही शिक्षा का यथार्थ उद्देश्य है। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति तब होती है, जब शिक्षा के फलस्वरूप जीवन मे सुसस्कार उत्पन्न होते है। केवल शक्तियो के विकास मे शिक्षा की सफलता नही है, अपितु शक्तियाँ विकसित होकर जब जीवन के सुन्दर निर्माण मे प्रयुक्त होती है, तभी शिक्षा सफल होती है। बहुत-से लोग यह समझ बैठे है कि मस्तिष्क

की शक्तियों का विकसित हो जाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है, परन्तु यह समझ सर्वथा अधूरी है। मनुष्य के मस्तिष्क के साथ, हृदय और शरीर का भी विकास होना चाहिए अर्थात् मनुष्य का सर्वांगीण विकास होना चाहिए और, जब वह विकास अपनी और अपने समाज एवं देश की भलाई के काम आ सके, तभी शिक्षा सार्थक हो सकती है। अन्यथा नही।

अध्ययन-काल की निष्ठा :

जो छात्र प्रारम्भ से ही अपने इस लक्ष्य का पूरा ध्यान रखता है, वही अपने भविष्य का सुन्दर निर्माण कर सकता है, वही आगे जाकर देश और समाज का रत्न बन सकता है। ऐसा करने पर बडी से बडी उपाधियाँ उनके चरणो मे आकर स्वय लोटने लगती हैं। प्रतिष्ठा उनके सामने स्वय हाथ जोडकर खडी हो जाती है। सफलताएँ उनके चरण चूमती हैं। विद्याध्ययन काल मे विद्यार्थी की लगन एव निष्ठा ही भविष्य मे उसकी विद्या को सुफलदायिनी बनाती है।

विद्यार्थी जीवन : एक उगता पौधा :

विद्यार्थी-जीवन एक उगता हुआ पौधा है। उसे प्रारम्भ से ही सार-सभाल कर रक्खा जाय तो वह पूर्ण विकसित हो सकता है। बडा होने पर उस पौधे को सुन्दर बनाना माली के हाथ की बात नही है। आपने देखा होगा—घडा जब तक कच्चा होता है, तब तक कुम्हार उसे अपनी इच्छा के अनुरूप, जैसा चाहे वैसा, बना सकता है। किन्तु वही घडा जब आपाक मे पक जाता है, तब कुम्हार की कोई ताकत नही कि वह उसे छोटा या बडा बना सके, उसकी आकृति मे किंचित् परिवर्तन तक कर सके।

यही बात छात्रो के सम्बन्ध मे भी है। माता-पिता चाहे तो प्रारम्भ से ही बालको को सुन्दर शिक्षा और सुसस्कृत वातावरण मे रखकर उन्हे होनहार नागरिक बना सकते है। माता-पिता अपने स्नेह और आचरण की पवित्र धारा से देश के नौनिहाल बच्चो का जीवन सुधार सकते हैं। बालक माता-पिता के हाथ का खिलौना होता है। वे चाहे तो उसे बिगाड सकते हैं और चाहे तो सुधार सकते हैं। देश के सपूतो को बनाना उन्ही के हाथ मे है।

आज के विपरीत वातावरण में हमारा दायित्व :

दुर्भाग्य से आज इस देश में चारों ओर घृणा, विद्वेष, छल और पाखण्ड भरा हुआ है। माता-पिता कहलाने वालों में भी यह दुर्गुण भरे पड़े हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने बच्चों में सुन्दर संस्कारों का आरोपण किस प्रकार कर सकते हैं? प्रत्येक माता-पिता को सोचना चाहिए कि हमारी जिम्मेदारी केवल सन्तान को उत्पन्न करने में ही पूर्ण नहीं हो जाती, बल्कि सन्तान को उत्पन्न करने पर तो जिम्मेदारी का आरम्भ होता है। और जब तक सन्तान को सुशिक्षित एवं सुसंस्कार सम्पन्न नहीं बना दिया जाता, तब तक वह पूर्ण नहीं होती।

आज, जबकि हमारे देश का नैतिक स्तर नीचा हो रहा है, छात्रों के जीवन का सही निर्माण करने की बड़ी आवश्यकता है। छात्रों का जीवन-निर्माण न सिर्फ घर पर होता है, और न केवल पाठशाला में ही। बालक घर में संस्कार ग्रहण करता है और पाठशाला में शिक्षा। दोनों उसके जीवन-निर्माण के स्थल हैं। अतएव यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि घर और पाठशाला में आपस में सहयोग स्थापित होना चाहिए और दोनों जगह के वायुमण्डल को एक दूसरे का पूरक और पृष्ठपोषक होना चाहिए।

आज घर और पाठशाला में कोई सम्पर्क नहीं है। अध्यापक विद्यार्थी के घर से एकदम अपरिचित रहता है। उसे उसके घर के वातावरण की कल्पना तक नहीं होती। और, माता-पिता प्राय पाठशाला से अनभिज्ञ होते हैं। पाठशाला में जाकर बालक क्या सीखता है और क्या करता है, प्राय: माँ-बाप इस पर ध्यान नहीं देते हैं। बालक स्कूल चला गया और माता-पिता को छुट्टी मिल गई! फिर वह वहाँ जाकर कुछ भी न करे और कुछ भी न सीखे, इससे उन्हे कोई मतलब नहीं है। यह परिस्थिति बालक के जीवन-निर्माण में बहुत घातक होती है।

सत्य और असत्य की असगति का कारण :

घर और पाठशाला के वायुमडल में भी अक्सर विरूपता देखी जाती है। पाठशाला में बालक नीति की शिक्षा लेता है और सचाई का पाठ पढ कर आता है। वह जब घर आता है या दुकान पर जाता

है तो वहाँ असत्य का साम्राज्य पाता है। वात-वात मे माता-पिता असत्य का प्रयोग करते है। शिक्षक सत्य वोलने की शिक्षा देता है और माता-पिता अपने व्यवहार से उसे असत्य वोलने का सवक सिखलाते है। इस तरह से परस्पर विरोधी वातावरण मे पड़ कर वालक लड़खड़ाने लगता है। वह निर्णय नही कर पाता कि मुझे शिक्षक के वताये मार्ग पर चलना चाहिए अथवा माता-पिता द्वारा प्रदर्शित पथ पर। कुछ समय तक उसके अन्तःकरण मे सघर्ष चलता रहता है और फिर वह एक निष्कर्ष निकाल लेता है। निष्कर्ष यह कि वोलना तो सत्य ही चाहिए किन्तु जीवन व्यवहार में प्रयोग असत्य का ही करना चाहिए। इस प्रकार का निष्कर्ष निकाल कर वह छल-कपट और धूर्तता सीख जाता है। उसके जीवन मे विरूपता आ जाती है। वह कहता नीति की वात है और चलता अनीति की राह पर है।

वालक के निर्माण मे माता-पिता का हाथ :

अतः माता-पिता यदि वालक मे नैतिकता को उभारना चाहते हैं तो उन्हे अपने घर को भी पाठशाला का ही रूप देना चाहिए। वालक पाठशाला से जो पाठ सीख कर आवे, घर उसके प्रयोग की भूमि तैयार करे। इस प्रकार उसका जीवन भीतर-वाहर से एकरूप वनेगा और उसमे उच्च श्रेणी की नैतिकता पनप सकेगी। तव कही वह अपनी जिन्दगी को शानदार वना सकेगा। ऐसा विद्यार्थी जहाँ कही भी रहेगा, वह सर्वत्र अपने देश, अपने समाज और अपने माता-पिता का मुख उज्ज्वल करेगा। वह पढ-लिख कर देश को रसातल की ओर ले जाने का, देश की नैतिकता का ह्रास करने का प्रयास नही करेगा, देश के लिए भार और कलक नही वनेगा, वल्कि देश और समाज के नैतिक स्तर को ऊँचाई की ऊँची से ऊँची चोटी पर ले जाएगा और अपने व्यवहार के द्वारा उनके जीवन को भी पवित्र वना पायेगा।

पिता-पुत्र का सघर्ष :

आज के विद्यार्थी और उनके माता-पिता के मस्तिष्क मे वहुत वड़ा विभेद खडा हो गया है। विद्यार्थी पढ-लिख कर एक नये जीवन मे प्रवेश करता है, एक नया कम्पन लेकर आता है, अपने भविष्य-जीवन को अपने ढग से विताने के मसूवे बाँध कर गृहस्थ-जीवन मे प्रवेश

करता है। परन्तु उसके माता-पिता पुराने विचारो के होते है। पिता रहते हैं दुकान पर। उन्हे न तो अपने लडके की जिज्ञासा का पता चलता है और न वे उस ओर ध्यान ही दे पाते है। वे एक नये गतिशील ससार की ओर सोचने के लिए अपने मानस-पट को बन्द कर लेते हैं। पर, जो नया खिलाडी है, वह तो हवा को पहचानता है। वह अपनी जिज्ञासा और अपने मनोरथ पूरे न होते देख कर पिता से सघर्ष करने को तत्पर हो जाता है। आज अनेक घर ऐसे मिलेगे, जहाँ पिता-पुत्र के बीच आपसी सघर्ष चलते रहते है। पुत्र अपनी आकाक्षाएँ पूरी न होते देख कर जीवन से हताश हो जाता है और कभी-कभी चुपके से घर छोड कर पलायन भी कर जाता है। आये दिन अखबारो मे छपने वाली 'गुमशुदा की तलाश' शीर्षक सूचनाएँ बहुत कुछ इसी सघर्ष का परिणाम है। कभी-कभी आवेग मे आकर आत्मघात करने की नौबत भी आ पहुँचती है। ऐसी अनेक घटनाएं घट चुकी हैं। दुर्भाग्य की बात समझिए कि भारत मे पिता-पुत्र के सघर्ष ने गहरी जड जमा ली है।

माता-पिता का दायित्व :

आज की इस तीव्रगति से आगे बढती हुई युगधारा के बीच प्रत्येक माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे इस गतिधारा को पहचाने। वे स्वयं जहाँ है, वही अपनी सन्तान को रखने की अपनी व्यर्थ की चेष्टा का त्याग कर दे। ऐसा नही करने मे स्वय उनको और उनकी सन्तान का कोई हित भी नही है। अतएव आज प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वे अपनी सन्तान को अपने विचारो मे बाँध कर रखने का प्रयत्न न करें, उसे युग के साथ चलने दें। हाँ, इस बात की सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि सन्तान कही अनीति की राह पर न चल पडे। परन्तु इसके लिए उनके पैरो मे बेडियाँ डालने की कोशिश न करके उसे सोचने और समझने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए और अपना पथ आप प्रशस्त करने का प्रयत्न उन्हे करने देना चाहिए।

बालको का दायित्व :

मैं बालको से भी कहूँगा कि वे ऐसे अवसर पर आवेश से काम न लें। वे अपने माता-पिता की मानसिक स्थिति को समझे और अपने

सुन्दर और शुभ विचारो पर दृढ रहते हुए, नम्रता-पूर्वक उन्हे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करे, परन्तु साथ ही माता-पिता को भी कष्ट न पहुँचाएँ। शान्ति और धैर्य से काम लेने पर अन्त मे उन सद्विचारो की प्रगतिशीलता की ही विजय होगी।

भ्रामक धारणाएँ :

वहुत से माता-पिता प्रगतिशील और विकासेच्छु छात्रो से लड-झगड कर उनकी प्रगति को रोक देते हैं। लडकियो के प्रति तो उनका रुख और भी कठोर होता है। प्राय: लडकियो का जीवन तो तुच्छ और नगण्य ही समझा जाता है।

इस प्रकार समाज मे जव होनहार युवको के निर्माण का समय आता है, तो उनके विकास पर ताला लगा दिया जाता है। उनको अपने माता-पिता से जीवन वनाने की कोई प्रेरणा नही मिल पाती। माता-पिता उलटे उनके मार्ग मे काँटे विछा देते है। उन्हे रोजमर्रा की व्यापार-चक्की मे जोत दिया जाता है। वे उन होनहार युवको को पैसा वनाने की मशीन वना देते हैं, जीवन की ओर कतई ध्यान नही दिया जाता। देश के हजारो नवयुवक इस तरह अपनी जिन्दगी की अमूल्य घडियो को खोकर केवल पैसे कमाने की कला मे लग जाते हैं। समाज और राष्ट्र के लिए वे तनिक भी उपयोगी नही वन पाते।

तोड़ना नहीं, जोड़ना सीखें :

लेकिन छात्रो को किसी से अपने सम्वन्ध तोडने नही है, सबके साथ सम्यक् व्यवहार करने है। हमे जोडना सीखना है, तोडना नही। तोडना आसान है, पर जोडना कठिन है। जो मनुष्य हर एक से जोडने की कला सीख जाता है, वह जीवन-सग्राम मे कभी हार नही खाता। वह विजयी होकर ही लौटता हैं।

एक वार सेनापति अब्दुर्रहीम खानखाना ने अपनी सेना के सामने कहा था।

"मेरा काम तोडना नही, जोडना है। मै तो सोने का घडा हूँ, टूटने पर सौ वार जुड जाऊँगा। मैं जीवन में चोट लगने पर टूटा हूँ, फिर भी जुड गया हूँ। मैं मिट्टी का वह घडा नहीं हूँ, जो एक वार टूटने पर फिर कभी जुडता ही नही। मैंने अपनी जिन्दगी मे मात्र जुडना

ही सीखा है।" उसकी इस बात का उसकी सेना पर काफी प्रभाव पडा। परिणामस्वरूप उसकी सेना मे फूट कभी नही पनप पायी।

तो छात्रो को सोने के घडे की तरह, माता-पिता द्वारा चोट पहुँचाये जाने पर भी टूट कर जुड जाना चाहिए, बर्बाद न हो जाना चाहिए।

असफलता ही सफलता की जननी है :

आज के छात्र की जिन्दगी कच्ची जिन्दगी है। वह एकबार थोडा-सा असफल हो जाने पर निराश हो जाता है। वह एक बार गिरते ही, मिट्टी के ढेले की तरह बिखर जाता है। परन्तु जीवन में सर्वत्र सर्वदा सफलता ही सफलता मिले, असफलता का मुँह कभी भी देखना न पडे, यह कदापि सम्भव नही। सचाई तो यह है कि असफलता से टकराव के पश्चात् जब सफलता प्राप्त होती है, तो वह कही और अधिक आनन्ददायिनी होती है। अतएव सफलता की तरह यदि असफलता का भी स्वागत नही कर सकते, तो कम से कम उससे हताश तो नही ही होना चाहिए। असफल होने पर मन में धैर्य की मजबूत गाँठ बाँध लेनी चाहिए, घबराना कभी भी नही चाहिए। असफल होने पर घबराना पतन का चिन्ह है और धैर्य रखना, उत्साह रखना उत्थान का चिन्ह है। उत्साह सिद्धि का मन्त्र है। छात्रो को असफल होने पर भी गेद की तरह उभरना सीखना चाहिए। हतोत्साहित होकर अपना काम छोडकर बैठ नही जाना चाहिए। कहा भी है कि 'असफलता ही सफलता की जननी और आनन्द का अक्षय भण्डार है,

परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने पर आत्महत्या करने की खबरें, आये दिन समाचार पत्रो मे पढने को मिलती है। विद्यार्थियो के लिए यह बडे कलक की बात है। चढती हुई जवानी मे, जब मनुष्य को उत्साह और पौरुष का पुतला होना चाहिए, उसमे असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने का हौसला होना चाहिए, समुद्र को लाँघ जाने और आकाश के तारे तोड लाने का साहस होना चाहिए, बडी से बडी कठिनाई को भी पार कर जाने की हिम्मत होनी चाहिए, तब यदि वे परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने मात्र से इतने हताश हो जाएँ, यह उन्हे शोभा नही देता। छात्रो मे इस प्रकार की दुर्बलता का होना राष्ट्र के भविष्य के लिए भी महान् चिन्ता की बात है।

छात्रो की मानसिक दुर्बलता का कारण :

आज छात्रो के मन मे जो इतनी दुर्वलता आ गई है, उसका कारण उनके अभिभावको की भूल है। वे महल तो गगन-चुम्वी तैयार करना चाहते हैं, परन्तु उसमे सीढी एक भी नही लगाना चाहते। और, विना सीढी के महल मे रहना पसन्द ही कौन करेगा? माता-पिता प्रारम्भिक संस्कार-सीढियाँ वनने नही देते और उन्हे पैसा कमाने के गोरखधधे मे डाल देने की ही धुन मे लगे रहते है।

ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी एक कहानी मे लिखा है कि

एक सेठ ने एक वडा इजीनियर रख कर एक वहुत वडा महल वनवाया। लोग सेठ के महल को देखने आये। पहली मजिल वडी शानदार वनी थी। उसे देखभाल कर जव वे दूसरी मजिल पर जाने लगे तो सीढियाँ ही नही मिली। इधर देखा, उधर देखा, परन्तु सीढियो का कही कोई पता न चला। आखिरकार वे सेठ को कहने लगे- 'सेठजी यह क्या तावूत खडा कर दिया है? ऊपर की मजिल मे जाने के लिए तो सीढियाँ तक भी नही वनवाई है। आप इसमे रहेगे कैसे? ऊपर की मजिल किस काम आएगी?, लोगो की आलोचना सुनकर सेठजी अपनी भूलपर मन ही मन पश्चात्ताप करने लग गये।

कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त सेठ की तरह इजीनियररूपी शिक्षक लगाकर माता-पिता छात्ररूपी महल तो खडा कर लेते है, वह दिखाई भी वडा शानदार देता है, परन्तु उसमे सुसस्कारो की सीढियाँ नही लग पाती। इस कारण वह महल निरुपयोगी हो जाता है और सूना होकर पडा-पडा खराव हो जाता है। सस्कारो के अभाव मे वह जिन्दगी वर्वाद हो जाती है। ऐसे छात्र छोटी-छोटी वात पर भी माता-पिता को ही धमकी देकर घर तक से निकल भागते हैं।

लडको की आत्महत्या और उनके फरार होने का उत्तर-दायित्व माताओ पर भी कम नही है। वे पहले तो लडके को लाड-प्यार करके मुँह चढा लेती हैं, उसे विगाड देती हैं, उसे उच्छृखल हो जाने देती है, और जव वह वडा होता है तो उसकी इच्छाओ पर कठिन प्रतिवन्ध लगाना शुरू कर देती हैं। जव लडका अपने चिर परिचित वातावरण और व्यवहार के विरुद्ध आचरण देखता है, तो उसे

सहन नही कर पाता और फिर न करने योग्य काम भी कर बैठता है।

छात्रों की दुर्बलता : उनका महान् कलंक :

कारण चाहे कुछ भी हो और कोई भी हो, फिर भी हमारे नवयुवको की यह दुर्बलता उनके लिए कलक की बात है। नवयुवक को तो प्रत्येक परिस्थिति का दृढता और साहस के साथ सामना करना चाहिए। उसे प्रतिकूलताओ से जूझना चाहिए, असफलताओ से लडना चाहिए, विरोध के साथ सघर्ष करना चाहिए, कठिनाइयो को कुचल डालने के लिए तैयार रहना चाहिए और बाधाओ को उखाड फेंकने की हिम्मत अपने अतर्मन मे रखनी चाहिए। उसे कायरता नही सोहती। दुर्बलता उसके पास फटकनी नही चाहिए। आत्मघात का विचार साहसी पुरुषो का नही अपितु, वह अतिशय नामर्दो, कायरो और बुजदिलो का मार्ग है।

जीवन से उदासीनता · आत्मा का अपमान :

किसी भी प्रकार की असफलता के कारण जीवन से उदासीन हो जाना अपने शौर्य का, अपने पौरुष का, अपने पराक्रम का और अपनी आत्मा का अपमान करना है।

एक आचार्य कहते है **'नात्मानमवमन्येत।'** अर्थात् अपनी आत्मा का अपमान मत करो। तुम्हे मनुष्य की जिन्दगी मिली है, तो उसका सदुपयोग करो। यदि तुम्हे देश के नैतिक स्तर को उठाना है, तो जीवन में प्रारम्भ से ही ऊँचे सस्कार डालो। अच्छे संस्कार पोथियाँ पढने से नही, सत्संगति से ही प्राप्त होते हैं। अतएव पढने-लिखने से जो समय बचे, उसे भले आदमियो और सन्तो के समागम मे लगाना चाहिए।

छात्र और चलचित्र :

आजकल अधिकाश विद्यार्थियो का सध्या का समय प्राय चलचित्र देखने मे व्यतीत होता है। चारों ओर आज चलचित्रो की धूम मची है। स्वीकार करना चाहिए कि सिनेमा से लाभ भी उठाया जा सकता है, परन्तु हमारे यहाँ जो फिल्मे आजकल बन रही है, वे जनता को लाभ पहुँचाने की जगह हानि ही ज्यादा पहुँचाती हैं। उनसे समाज

मे बहुत बुराइयाँ फैली है और आज भी फैल रही है। प्राय बाजारू प्रेम के किस्से और कुरूचिपूर्ण गायन तथा नृत्य आदि के प्रदर्शन बालको के मस्तिष्क मे जहर भरने का काम कर रहे है। छोटे-छोटे अबोध बालक और नवयुवक जितना इन चित्रो को देखकर बिगडते है, उतना शायद किसी दूसरे तरीके से नही बिगडते।

यूरोप आदि देशो मे बालकों की विविध विषयो की शिक्षा के लिए चलचित्रो का उपयोग किया जाता है। वहाँ के समाज ने इस कला का सदुपयोग किया है। परन्तु हमारे यहाँ इस ओर कोई ध्यान नही दिया जा रहा है। खेद है कि स्वतन्त्र भारत की सरकार भी, जिससे इस विषय मे सुधार की आशा की जाती थी, इस ओर कोई सक्षम एव उपयुक्त कार्य नही कर रही है।

एक तरफ सरकार इधर ध्यान नही दे रही है और दूसरी तरफ फिल्मनिर्माता अपना उल्लू सीधा करने मे लगे हुए हैं। सब अपने-अपने स्वार्थ-साधन मे सलग्न है। ऐसी स्थिति मे, हम नवयुवको से ही कहेगे कि वे पैसे देकर बुराइयाँ न खरीदे। अपने जीवन-निर्माण के इस स्वर्णकाल को सिनेमा देख-देखकर और उनसे कुसस्कार ग्रहण कर अपना सत्यानाश स्वय न रचाएँ।

छात्रो का महान् कर्त्तव्य :

विद्यार्थी सब प्रकार के दुर्व्यसनो से बचकर अध्ययन एवं चिन्तन-मनन मे ही अपने समय का सदुपयोग करे। अपने जीवन को नियमित बनाने का प्रयास करे। समय को व्यर्थ नष्ट न करे। इसी मे उनका कल्याण है।

असफलताओं से घबराना जिन्दगी का दुरुपयोग करना है। तुम्हारा चेहरा विपत्तियाँ आने पर भी हँसता हुआ होना चाहिए। तुम मनुष्य हो। तुम्हे हँसता हुआ चेहरा मिला है। फिर क्या बात है कि तुम नामर्द-से, डरपोक-से एव उदास-से दिखाई देते हो? क्या पशुओं को कभी हँसते देखा है? शायद कभी नही। सिर्फ मनुष्य को ही, प्रकृति की ओर से हँसने का वरदान मिला है। अतएव कोई भी काम करो, वह सरल हो या कठिन, मुस्कराते हुए करो। घबराओ मत, ऊबो मत। तुम्हे

चलना है, रुकना नही। चलना ही गति है, जीवन है और रुक जाना अगति है, मरण है।

लक्ष्यपति का मूलमन्त्र :

तुम्हारी मजिल अभी दूर है। उस तक पहुँचने के लिए हिम्मत, साहस और धैर्य रक्खो और आगे बढते जाओ। नम्रता रखकर, विनयभाव और सयम रख कर चलते चलो। अपने हृदय मे कलुषित भावनाओ को प्रवेश मत करने दो। क्षण भर के लिए भी हीनता का भाव अपने ऊपर मत लाओ। अपने महत्व को समझो।

जीवन मे सफलता का एक मात्र मूल मंत्र है व्यक्ति की विनम्रता। नीति भी है

"विद्या ददाति विनयम् विनयात् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाम् धनमाप्नोति, धनम् धर्मम् ततः सुखम्॥"

एक अंग्रेज कवि ने भी यही कहा है

"He that is down needs fear no fall."

तुलसीदास ने भी कहा है

"बरसहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥"

अत स्पष्ट है, जिसके अन्तर्गत मे विनम्रता का वास है, वही सफल है। विद्या प्राप्ति का यही चरम लक्ष्य भी है।

छात्र भविष्य के एकमात्र कर्णधार :

तुम देश के दीपक हो, जाति के आधार हो और समाज के भावी निर्माता हो। विश्व का भविष्य तुम्हारे हाथो मे है। इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का महान् कार्य तुमको ही करना है। तुम महान् हो और मानव जाति के मंगल के लिए तुम्हे अथक श्रम करना है। विद्यार्थी जीवन तुम्हारी तैयारी का जीवन है। हे विद्यार्थी! तू अपने विराट् जीवन के निर्माण के लिए सतत उद्यत रहो। कोटि-कोटि नेत्र आशा नेत्र आशा लिये तेरी ओर देख रहे है। तुझे अपने जीवन मे मनुष्य जीवन के लिए मगल का अभिनव द्वार खोलना है। यही समझ कर तू अपने जीवन का निर्माण शुरु कर दो। तेरा कल्याण हो। तेरी आशाएँ सफल हो। ●

३

महिला-जीवन

महिलाएँ समाजरूपी गाडी के एक समर्थ पहिये के रूप मे सर्वथा महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है।

महिलाओं पर समाज का बहुत बडा उत्तरदायित्व है। उन पर जितना अपने जीवन का दायित्व है, उतना ही अपने परिवार, समाज और धर्म का भी उत्तरदायित्व है। आज तक के लाखो वर्षो अतीत के इतिहास पर निगाह डालते है तो मालूम होता है कि उनके कदम सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र मे कभी पीछे नही रहे है, बल्कि आगे ही रहे है। जब हम तीर्थङ्करो के जीवन पढते है तो पता चलता है कि उन महापुरुषो के सघ मे सम्मिलित होने के लिए, उनकी वाणी का अनुसरण करने के लिए और उनके पावन सिद्धान्तो को अपने जीवन में उतारने के लिए, अधिक से अधिक सख्या मे, शक्ति के रूप मे, बहने ही आगे आती रही है।

महावीरकालीन महिला-जीवन :

दूसरे तीर्थङ्करो की बाते शायद आपके ध्यान मे न हो, किन्तु चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का इतिहास तो आपको विदित होना ही चाहिए। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप मे धर्म के चार तीर्थ स्थापित हो गये और उन्हे एक सघ का रूप दे दिया गया। शास्त्रो मे चारो तीर्थों की सख्या का उल्लेख मिलता है और उस इतिहास को हम बराबर हजारो वर्षो से दुहराते आ रहे है। वह इतिहास हमे बतलाता है कि भगवान् महावीर के शासन मे यदि चौदह हजार साधु थे, तो छत्तीस हजार साध्वियाँ भी थी। साधुओ की अपेक्षा साध्वियो की सख्या मे कितना अन्तर है! ढाई गुनी से भी ज्यादा यह सख्या है।

यह ठीक है कि पुरुषवर्ग मे से भी काफी साधु आये, और यह भी सही है कि वे अपने पूर्व जीवन मे वडे ऐश्वर्यशाली और धनपति थे तथा भोग-विलासो मे उनका जीवन गुजर रहा था। किन्तु भगवान् महावीर की वाणी जैसे ही उनके कानो मे पडी वे महलो को छोड नीचे उतर आये।

और, वडे-वडे विद्वान् भी, जो उस समय समाज का नेतृत्व कर रहे थे, भिक्षु के रूप मे दीक्षित हुए तथा उन्होने महान् होते हुए भी जनता के एक छोटे से सेवक के रूप मे अपने अन्तरतम से भरपूर जन-सेवा की।

यह सव होते हुए भी जरा सख्या पर तो ध्यान दीजिए; कहाँ चौदह हजार और कहाँ छत्तीस हजार !

महिला-जीवन का आदर्शोपम अतीत :

कहना चाहिए कि भगवान् की वाणी का अमृत रस, सव से ज्यादा उन वहनो ने ग्रहण किया, जो सामाजिक दृष्टि से पिछडी हुई थी और जिन्हे हम अज्ञान और अन्धकार मे रहने का आदी कहते चले जा रहे थे। वास्तव मे वे शक्तियाँ रूढियो के शिलाखण्डो से दवी हुई थी, परन्तु ज्योही उन्हे उभरने का अवसर मिला, भगवान् की पावन वाणी का प्रकाश मिला, त्योही वे एक वहुत वडी सख्या मे साधना की काँटो भरी राह पर वढ आई। जिनका जीवन महलो मे गुजरा था, जिनके एक इशारे पर हजारो दास और दासियाँ नाचने को तैयार खडी रहती थी, जिन्होने अपने जीवन मे कभी सर्दी या गर्मी वर्दाश्त नही की थी, जिनका जीवन फूलो की सेज पर वीता था, उन देवियो के मन मे जव वैराग्य की लहर उठी, तो वे घर और ससार की विपत्तियो से टक्करे लेती हुई, भयानक से भयानक सर्दी-गर्मी और वर्षा की यातनाएँ झेलती हुई भी भिक्षुणी वन-कर विचरने लगी। उनका शरीर फूल के समान सुकुमार था, जो हवा के एक हलके उष्ण झोके से भी मुरझा सकता था, किन्तु हम देखते है कि वे ही देवियाँ भीषण गर्मी और कडकडाती हुई सर्दी के दिनो मे भी भगवान् महावीर का मगलमय सन्देश घर-घर मे पहुँचाती थी। जिनके हाथो ने देना ही देना जाना था, आज वही राजरानियाँ अपनी प्रजा के सामने, यहाँ तक कि झोपडियो मे भी भिक्षा के लिए घूमती थी और भगवान् महावीर की वाणी का अमृत वाँटती फिरती थी।

साधक-जीवन की समानता :

और, मैं समझता हूँ कि जब शक्तियाँ जाग उठती है तो यह नही होता कि कौन पीछे है और कौन आगे जा चुका है। कभी आगे रहने वाले पीछे रह जाते हैं और कभी पीछे रहने वाले बहुत आगे बढ जाते है।

जब हम श्रावको की संख्या पर ध्यान करते है तो यही बात याद आ जाती है। श्रावको का जीवन कठोर जीवन अवश्य रहा है, किन्तु उनकी संख्या १५९ हजार ही रही और उनकी समता मे श्राविकाओं की संख्या तीन लाख से भी ऊपर पहुँच गई।

तेजोमय इतिहास :

इसका अर्थ यह है कि हमारी श्राविका बहनों का इतिहास बडा ही तेजोमय रहा है। आज वह इतिहास धुँधला पड गया है और हम उसे भूल गये है। बहने आज भी अँधेरी कोठरी मे रह रही है, उन्हे ज्ञान का पर्याप्त प्रकाश नही मिल रहा है। किन्तु आज से ढाई हजार वर्ष पहले के युग को देखने पर विदित होता है कि चौदह हजार की तुलना मे छत्तीस हजार और १५९ हजार की तुलना मे ३१८००० बहने श्राविकाओं के रूप मे सामने आकर अपनी समुन्नत, सुरम्य एवं सर्वथा स्पृह्य झाँकी उपस्थित कर देती है।

महिलाओ का दुष्कर साहसी जीवन :

बहुत-सी बहने ऐसी भी थी, जिनके पति दूसरे धर्मो को मानने वाले थे। उन पुरुषो (पतियो) ने अपने जीवन-क्रम को नही बदला, किन्तु इन बहनों ने इस बात की कतई परवाह न कर अपना स्वयं का जीवन-क्रम बदल डाला और सत्य की राह पर आगई। ऐसा करने मे उन्हे बडे-बडे कष्ट उठाने पडे, भयानक यातनाएँ भुगतनी पडी और धर्म के मार्ग पर आने का बहुत महँगा मूल्य चुकाना पडा। जब उन बहनो के घर वालो की मान्यताएँ भिन्न प्रकार की रही, उनके पति का धर्म दूसरा रहा, तब उन्होने अनेक प्रकार का विरोध सह कर भी अपने सम्मान, अपनी प्रतिष्ठा को खतरे मे डाल कर भी तथा नाना प्रकार के कष्टो को सहन करते हुए भी वे प्रभु के पथ का अनुसरण करती रही।

तात्पर्य यह है कि जब हम नारी जाति के इतिहास पर दृष्टिपात

करते है, तो देखते है कि उनका जीवन बहुत ऊँचा जीवन रहा है। जब हम उनकी याद करते हैं तो हमारा मस्तक श्रद्धा से स्वत झुक जाता है।

सम्राट् श्रेणिक और चेलना :

राजा श्रेणिक का इतिहास जैन जीवन के कण-कण मे आज भी चमक रहा है। और भगवान् महावीर के साथ-साथ श्रेणिक का नाम भी बरबस याद आ जाता है। उसे अलग नहीं किया जा सकता। तो वह महान् सम्राट् श्रेणिक भगवान् के चरणो मे पहुँचा, इसका श्रेय किसे प्राप्त है? किसने भगवान् के चरणो तक पहुँचाया था उसे? सम्राट् श्रेणिक सहज ही नही पहुँच गया था, क्योकि वह दूसरे धर्म का अनुयायी था। उसे भगवान् के चरणो मे पहुँचाने वाली हमारी एक बहन थी, जिसका नाम था चेलना। उसे इस पवित्र कार्य के करने मे बडे-बडे संघर्षों का सामना करना पडा, बडी-बडी कठिनाइयाँ भुगतनी पड़ी। अपने पति को भगवान् के मगल-मार्ग पर लाने के लिए उसने न जाने कितने खतरे अपने सर पर लिए, कितनी बडी जोखिमे उठाई! हम रानी चेलना के महान् जीवन को कभी भुला नही सकते, जिसने अपनी सम्पूर्ण चेतना एव शक्ति के साथ अपने सम्राट् पति को धर्म के मार्ग पर लाने का निरन्तर प्रयास किया और अन्त मे उसने अपने प्रयास मे सफलता प्राप्त कर के ही चैन की साँस ली।

त्याग की उज्ज्वल मूर्ति : नारी :

उस समय के इतिहास को देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि बहनो के त्याग के कितने ही महान् कार्यो से उनका जीवन-पथ चमत्कृत था। उनको ससार का बडे से बडा वैभव मिला था, किन्तु वे उस वैभव की दलदल मे ही फँसी नही रही और उन्होने अकेले ही धर्म के मार्ग को अङ्गीकार नही किया, प्रत्युत घर मे जो पति, पुत्र, माता, भ्राता आदि कुटुम्बी जन थे, उन सबको साथ लेकर अपने धर्म का मार्ग तय किया है। इस रूप मे हमारी बहनो का इतिहास बडा ही उज्ज्वल और शानदार रहा है।

चिन्तन के क्षेत्र मे नारी :

प्राचीन ग्रन्थो को देखने के क्रम मे मुझे एक बडा ही सुन्दर ग्रन्थ देखने को मिला। यह पन्द्रहवी शती का एक साध्वी का लिखा हुआ ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ के अक्षर बडे ही सुन्दर, मोती सरीखे है, साथ ही

अत्यन्त शुद्ध भी। यह नारी की उच्च चिन्तना एवं मौलिक सर्जना का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

पाँच सौ वर्षों के बाद, आज, सभव है, उसके परिवार मे कोई भी आदमी न बचा हो, किन्तु उसने जो सुन्दर वस्तु की सर्जना की है, वह आज भी एक बार मन को गुदगुदा देती है। उसे देख कर मैंने विचार किया अगर वह साध्वी उस शास्त्र को ठीक तरह न समझती होती तो इतना शुद्ध और सुन्दर कैसे लिख सकती थी ? उसकी लिखावट की शुद्धता से पता चलता है कि उसमे ज्ञान की गभीरता और चिन्तन की चारुता सहज समाहित थी।

इसके अतिरिक्त मैंने और भी अनेक शास्त्र-भडार देखे है जिनमे प्राय देखा है कि उन शास्त्रो की सर्जना या तो किसी की माता ने की है या बहन या बेटी ने और इस प्रकार बहुत-से शास्त्र हमारी बहनो के सुरम्य चिन्तना से उद्भूत हुए है, उनकी पावन प्रेरणा से प्रसूत हुए है।

मेरा विचार है कि धर्म-साधना के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टिकोण से भी बहनो का जीवन बडा शानदार रहा है।

नारी का सुस्पष्ट दृष्टिकोण :

भगवती सूत्र मे एक से एक सुन्दर वृत्तात पढने को मिलते है। बहुत से सन्त भगवान् के चरणो मे आते है, आध्यात्मिक चर्चाएँ करते है। विद्वान् आते है, गणधर भी आते है और स्वर्ग तथा नरक की चर्चा मे उतर जाते हैं। किन्तु राजकुमारी जयन्ती के प्रश्न कुछ निराले ही ढंग के है। उनका आदर्श जब तक जनता के सामने मौजूद रहेगा, वह इङ्गित करता रहेगा कि बहनो का दृष्टिकोण कितना सादा, साफ और सुन्दर रहा है।

जयन्ती भगवान् महावीर से जीवनस्पर्शी प्रश्न पूछने को आई। उन्होने स्वर्ग और नरक की चर्चा नही छेडी, किंतु अपने वर्तमान जीवन को छुआ और भगवान् से पूछा 'भते ! क्या मनुष्य का दुर्बल रहना अच्छा है ? अर्थात् कोई भी व्यक्ति अशक्त और दुर्बल रहता है, तो यह अच्छा है या उसका शक्तिशाली और बलवान् होना अच्छा है ?'

उत्तर मे भगवान् ने कहा 'एक दृष्टि से दुर्बल रहना अच्छा है और दूसरी-दृष्टि से सबल रहना भी अच्छा है।'

भगवान् का उत्तर सुनकर उसकी शका को सम्यक् समाधान न मिला, उसने फिर प्रश्न किया 'भगवन् ! आप किस हेतु से कहते है कि एक दृष्टि से निर्वल रहना अच्छा है और दूसरी दृष्टि से सवल होना भी अच्छा है ?'

तव भगवान् वोले 'हे जयन्ती ! जो आदमी पापी है, अपराधी है, दुराचारी है और जिसमे किसी प्रकार का विवेक, विचार या सयम नही है, धर्म मे रस नही है, उसका दुर्वल रहना ही अच्छा है क्योकि इस रूप मे वह दूसरो को पीडा नही पहुँचा सकेगा और समाज एव धर्म की व्यवस्था मे गड़वड नही कर पायेगा। अतएव ऐसे आदमी का कृशगात्र होकर विस्तर पर पडा रहना ही अच्छा है। किन्तु जो विचारशील है, ज्ञानवान् है और धर्म के क्षेत्र मे रस लेकर आया है और अपने तथा दूसरो के जीवन को प्रशस्त कर रहा है, उसका सशक्त रहना निश्चय ही अच्छा है। उसमे जितनी शक्ति होगी, उतना ही वह अपने और दूसरो के जीवन को प्रशस्त, प्रवुद्ध और पवित्र वना पाएगा।'

तत्पश्चात् उस राजकुमारी ने भगवान् से दूसरा प्रश्न किया 'प्रभो ! कृपा कर यह तो वताएँ कि व्यक्ति का सोते रहना अच्छा है या जागृत रहना अच्छा है ?'

भगवान् ने अपने उसी अनेकान्तमयी दृष्टिकोण से उत्तर दिया 'एक दृष्टि से सोते रहना भी अच्छा है और एक दृष्टि से जागृत रहना भी अच्छा है।' तव जयन्ती ने फिर शका के संयत भाव से पूछा —'भगवन् ! किस न्याय और तर्क से आप ऐसा कहते है कि सोते रहना भी अच्छा है और जागृत रहना भी ?'

भगवान् ने अपना स्पष्टीकरण दिया--'जो मनुष्य दुराचारी और पापी है, वह जागेगा तो भयकर अन्याय और अत्याचार का ताडव शुरू कर देगा। ऐसा आदमी यदि घर मे भी जागता है तो वहाँ भी लडाई करता है और महाभारत छेड देता है, वाहर का तो कहना ही क्या ? अतएव ऐसे मे उसका सोते रहना ही अच्छा है। किन्तु विवेकशील मनुष्य यदि जागता है तो वह अपने और दूसरो के जीवन को ऊँचा उठाता है और समाज-सघ के जो महत्त्वपूर्ण कार्य अधूरे पडे होते हैं, उन्हे पूर्ण करता है। अतएव उसका जागृत रहना ही श्रेयस्कर है। वह जितनी देर जागता रहेगा, धर्म का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा और धर्म

तथा संघ की सेवा के कार्य मे महत्त्वपूर्ण योग देता रहेगा।'

इस प्रकार हम देखते है कि हमारी बहनो का जीवन ऐसा कुछ नही जो एक किनारे पडा रहे! ऐसा नही है कि उनमे कुछ समझ न रही हो और विवेक तथा विचार न रहे हो। किसी युग मे उनका चिन्तन बडा गहरा रहा है और उस चिन्तन की छाया हमारे आगमो मे भी पर्याप्त रूप मे उपलब्ध होती है।

आदर्श नारी : गार्गी :

सम्राट् जनक की सभा मे हजारो विद्वान् उपस्थित थे, एक से एक धुरन्धर और दर्शनशास्त्र के पारगत! वे जीव और ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। उस समय राजा ने एक हजार गाये सोने से मढे हुए सीग वाली और रत्नो से सजी जगमगाती हुई, खडी कर दी और कहा कि - जो प्रश्नो को ठीक तरह हल कर देगा उसे ये गाये पुरस्कार रूप मे देदी जायेगी।

बडे-बडे विद्वान् उठे, शका समाधान करने गये और अपने आसनो पर बैठते गये। उस सभा मे एक बहन भी थी, जिसका नाम था गार्गी। जब वह शका समाधान के लिए खडी हुई, तो सबकी आँखे उसके प्रश्नो पर गड गई। महापण्डित याज्ञवल्क्य उस सभा मे विराजमान थे, जिनकी वाणी मे अपूर्व तेज था। उनका दावा था कि मैं ही सबमे बडा पण्डित हूँ। किन्तु जब गार्गी के प्रश्नो की झडी लगनी आरम्भ हुई तो याज्ञवल्क्य का मुखमण्डल फीका पडने लगा।

याज्ञवल्क्य क्षुब्ध होकर कहने लगे —'अब प्रश्न मत करो, सीमा हो चुकी है!' और, याज्ञवल्क्य ने गुस्से मे आकर वह प्रश्नो का कार्यक्रम बद कर दिया, किन्तु उनके पास गार्गी के प्रश्नो का कोई समाधान न था।

इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थो मे जब हम नारी जाति के चिन्तन को देखते है, तो यही मालूम पडता है कि हमारी बहनो ने ससार को सुन्दर विचारो का उपहार सदैव प्रदान किया है।

कुछ ही शताब्दियाँ गुजरी हैं, जब नारी-जाति पुरुषो से एक भी कदम पीछे नही थी। किन्तु बाद मे ऐसी परिस्थितियाँ आई, जिनके कारण उनका जीवन एकागी बन गया और उन्हे जो प्रकाश मिलना चाहिए था, नही मिल सका।

आज के युग मे नारियो का दायित्व :

आज समाज मे जो गडबडियाँ फैली हुई हैं, उनका उत्तरदायित्व

पुन वहनो पर आया है क्योकि मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग वहनों की ही गोद मे तैयार होता है। उन्हे सन्तान के रूप मे एक तरह से कच्ची मिट्टी का लोदा मिला है। उसे क्या वनाना है और क्या नही वनाना है, यह निर्णय करना उनके ही अधिकार क्षेत्र मे है। जव माताएँ योग्य होती है, तो वे अपनी सन्तान मे करुणा का रस पैदा कर देती है, और धर्म एव समाज की सेवा के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा जगा देती है। ऐसी सन्नारियो के बीच मदालसा का नाम चमकता हुआ हमारी आँखो के सामने वरवस आ जाता है। जव भी उसको पुत्र होता, वह एक लोरी गाती थी और उसमे कहती थी

"शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि,
संसार-माया-परिवर्जितोऽसि ।"

यह एक लम्बी और विराट् लोरी है जो दार्शनिक क्षेत्र मे वडी ही चित्ताकर्षक है। इसमे कहा गया है 'हे लाल ! तू शुद्ध है, तू विशुद्ध है, अतएव तू विकारो मे मत फँस जाना। तू वुद्ध है, ज्ञानी है, अत अज्ञान मे न भटक जाना। तू यदि अज्ञान और अविवेक मे रहा और तेरे मन का दरवाजा खुला न रहा, तो तू समाज मे अन्धकार फैला देगा। तू जगत् को प्रकाश देने आया है और तेरा ज्ञान तुझे ही नही जगत् को भी प्रकाश की ओर ले जाएगा।

इसी हेतु से यहाँ कहा गया है कि तू निरजन है, परमचेतनामय है, तू क्षुद्र ससारी जीव नही है। तू इस ससार के मायाजाल मे फँसने के लिए नही आया है। तुझे अपने और ससार के मन के मैल को साफ करना है। तू ससार की गलियो मे कीडो की तरह रेगने के लिए नही है। तू तो परम पुरुष है, परमव्रह्म है।

तो, भारत के इतिहास-पृष्ठ पर यह लोरी आज भी अङ्कित है और मदालसा की प्रेरणा हमारे सामने प्रकाशमान है!

जव यदि कोई कहे कि वहने मूर्ख रही होगी और उन्होने ससार को अन्धकार मे ले जाने का प्रयत्न किया होगा, तो इसका उत्तर है कि उन्होने एक-एक ऐसा पुत्र दिया जो हर क्षेत्र मे महान् वना। कोई साधु वना तो भी महान् वना और राजगद्दी पर वैठा तो भी महान् वना! कोई सेनापति के रूप मे चला, तो भी जनता का मन जीतने के लिए चला और पृथ्वी पर जहाँ अपने पैर जमाये कि वही एक साम्राज्य खडा कर दिया!

महानता की जननी : नारी :

प्रश्न है, ये सब चीजें कहाँ से आई ? माता की गोदी में से नहीं आई तो क्या आकाश से बरस पड़ी ? पुत्रों और पुत्रियों का निर्माण तो माता की गोद में ही होता है। यदि माता योग्य है, तो कोई कारण नहीं कि पुत्र योग्य न बने और माता अयोग्य है तो कोई शक्ति नहीं जो पुत्र को योग्य बना सके। वे संसार को जैसा चाहे वैसा बना सकती हैं।

मेरी कविता-पुस्तक 'अमर माधुरी' की एक रचना में एक बालक स्वयं कहता है—

"अन्त में माता-पिता के खेल का सामान हूँ मैं।
जो विचारें वह बना लें, देव हूँ, शैतान हूँ मैं॥"

बच्चा कह रहा है कि 'मैं बहुत महान् हूँ! मैंने बड़े-बड़े काम किये हैं। राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध वगैरह सब मुझी में से बने हैं।' सब कहने के बाद अन्त में कहता है—'आखिर मैं माता-पिता का खिलौना हूँ। वे जो बनाना चाहते हैं, वही मैं बन जाता हूँ। मैं देवता भी बन सकता हूँ और राक्षस भी बन सकता हूँ। मेरे अन्दर दोनों तरह की शक्तियाँ विद्यमान हैं। यदि माता-पिता देवता हैं, उनमें ठीक तरह सोचने की शक्ति है और देवता बनाना चाहते हैं, तो वे मुझे अवश्य ही देवता बना देंगे। साथ ही मुझमें राक्षस बनने की भी शक्ति मौजूद है। वह भी इतनी बड़ी है कि कहीं यदि माता-पिता की गलतियों से, राक्षस बनने की शिक्षा मिलती रही और शिक्षा या वातावरण ने बुरे संस्कारों को जागृत कर दिया, तो मैं बड़े से बड़ा राक्षस भी बन सकता हूँ।

समाज-निर्माण में नारी का स्थान :

समाज का जो सम्पूर्ण अंग है, उसके एक ओर नारी वर्ग है और दूसरी ओर पुरुष वर्ग। कहीं ऐसा तो नहीं है कि शरीर के एक हिस्से को लकवा मार जाय, वह बेकार हो जाय और शेष आधा शरीर ज्यों का त्यों सबल और कार्यकारी बना रहे। एक हाथ और एक पैर के सुन्न हो जाने पर दूसरा हाथ और दूसरा पैर हरकत में होंगे, मगर काम करने को नहीं होंगे। इसके विपरीत यदि शरीर के दोनों हिस्से ठीक अवस्था में रह कर गति

करते है, तो वह अवश्य काम करेगा और ऐसा ही जीवन समाज को कुछ दे सकेगा और कुछ ले सकेगा।

आज ऐसा लगता है, समाज के आधे अंग को लकवा मार गया है और वह बेकार हो गया है। उसके पास वह ज्ञान, विचार और चिन्तन नही रहा और न अपनी सन्तान को महान् बनाने की वह कला ही रह गई है। और, इस रूप मे हजारो गालियाँ, जो लडको-लडकियो की जबान पर आती है, बहनो की ओर से ही आती है। हजारो कुसस्कार आते है, मेरे-तेरे की दुर्भावना आती है और द्वैतभाव की घुट्टियाँ पिलाई जाती है।

इस प्रकार बच्चो के मन मे जहाँ अमृत भरा जाना चाहिए, वहाँ जहर भरा जाता है और आगे चलकर माता-पिता को जब उसका परिणाम भोगना पडता है, तो वही रोते-चिल्लाते है। आज बच्चो का जो ऐसा भ्रष्ट जीवन बन रहा है, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारी बहनो की सभ्यता ऊँची नही रही।

समाज का उत्थान-पतन और नारी :

पक्षी को आकाश में उडने के लिए दोनो पखो से मजबूत होना आवश्यक है। जब दोनो पख सशक्त होगे, तभी वह उड सकेगा, एक पख से नही। यही बात समाज के लिए भी है। समाज का उत्थान पुरुष-स्त्री दोनो के समान शक्तिसम्पन्न होने पर निर्भर है। आज हमारा समाज जो इतना गिरा हुआ है, उसका मूल कारण यही है कि उसकी एक पख इतनी दुर्बल और नष्ट-भ्रष्ट हो गई है कि उसमे कर्तृत्व शक्ति नही रही, जीवन नही रहा। एक पख के निर्जीव हो जाने पर दूसरी पख भी काम नही कर सकती और इस प्रकार समाज का सारा जीवन गिरने के लिए ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में उत्थान की सभावना ही क्या है ?

आज सर्वत्र विषम हवाए चल रही हैं। जब-तब सुनने को मिलता है कि आज घर-घर मे कलह की आग बेतरह सुलग रही है। मन मे प्रश्न उठता है कि यह कलह जागता कहाँ से है ? मालूम करेंगे तो पता चलेगा कि ६० प्रतिशत झगडे इन्ही बहनो के कारण होते है। उसके मूल मे किसी न किसी बहन की नासमझी ही होती है। झगडे और मन-

झगडो का पता करने चलेगे तो पाएँगे कि उनमे से अधिकाश का उत्तरदायित्व बहनो पर ही है। किन्तु इसका भी कारण बहनो का अज्ञान है। उनकी अज्ञानता ने ही उन्हे ऐसी स्थिति मे ला दिया है। यदि वे ज्ञान का प्रकाश पा जाएँ और अपने हृदय को विशाल एव विराट् रक्खे, अपने जीवन को महान् बनाएँ और कुछ लेने की बुद्धि न रखकर सब कुछ दे देने की बुद्धि रक्खे, यदि उनके हाथ इतने महान् बन जाएँ कि अपने परिवार और दूसरो को भी समान भाव से दे सके और सुख-दु ख मे समान भाव से सेवा कर सकें, तो परिवारो के झगडे, जो विराट् रूप ले लेते हैं, न ले सके और न किसी प्रकार के सघर्ष का अवसर ही आ सके।

नारी की आदर्श दानशीलता :

यहाँ इतिहास की एक घटना याद आ जाती है, एक महान् नारी की महान् उदारता की। उसका नाम आज किसी को याद नही है, किन्तु उसकी जीवन-ज्योति हमारे सामने बरबस खडी हो जाती है।

भारत मे बडे-बडे दार्शनिक कवियो ने जन्म लिया है। सस्कृत भाषा के ज्ञाता यह जानते है कि सस्कृत साहित्य मे माघ कवि का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है ! माघ कवि भारत के गिने-चुने कवियो मे से एक माने जाते है और उनकी कविता की भाँति उनकी जीवन-गाथा भी समान रूप से मूल्यवान् है।

कविता की बदौलत लाखो का धन आता, किन्तु माघ का यह हाल कि इधर आया और उधर दे दिया ! अपनी उदारवृत्ति के कारण वह जीवन भर गरीब ही बने रहे। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति भी आ जाती कि आज तो खाने को है, किन्तु कल का क्या होगा ? पता नही ! कभी-कभी तो उसे भूखा ही रहना पडता। किन्तु, उस माई के लाल ने जो कुछ भी प्राप्त किया—यदि सोने का सिंहासन भी पाया तो उसे भी देने से इन्कार नही किया। उसने कहा कि 'माघ का महत्त्व पाने मे नही, देने मे है।'

एक बार वह अपनी बैठक मे बैठे थे। जेठ की कडकडाती हुई गर्मी मे, दोपहर के समय, एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया। उस समय यह महान् कवि अपनी कविता के छन्द-भाव को ठीक करने मे लीन थे। ज्योही वह ब्राह्मण आया और नमस्कार करके सामने खडा

हुआ कि इनकी दृष्टि उसकी दीनता को भेद गई। उसके चेहरे पर गरीबी की छाया पड रही थी और थकावट तथा परेशानी स्पष्ट झलक रही थी।

कवि ने ब्राह्मण से पूछा - कहो भैया! इस धूप मे आने का कैसे कष्ट किया?

ब्राह्मण जी, और तो कोई बात नहीं है, एक आशा लेकर आपके पास आया हूँ। मेरे यहाँ एक कन्या है। वह जवान हो गई है। उसके विवाह की व्यवस्था करनी है, किन्तु साधन कुछ भी नही है। अर्थाभाव के कारण मैं बहुत उद्विग्न हूँ। आपका नाम सुनकर बडी दूर से चला आ रहा हूँ। आपकी कृपा से उस कन्या का भाग्य बन जाये, यही याचना है।

माघ कवि ब्राह्मण की दीनता को देखकर विचार मे डूब गये। उनका विचार मे पड जाना स्वाभाविक ही था, क्योकि उस समय उनके पास एक ग्रास खाने को भी कुछ नही बचा था। परन्तु एक गरीब ब्राह्मण आशा लेकर आया है! अत कवि की उदार भावना दबी न रह सकी। उसने ब्राह्मण को बिठलाया और आश्वासन देते हुए कहा अच्छा भैया, बैठो, मैं अभी आता हूँ।

माघ घर मे गये। इधर-उधर देखा तो कुछ न मिला। अब उनके पश्चात्ताप का कोई पार न रहा। सोचने लगे 'माघ! आज क्या तू घर आये याचक को खाली हाथ लौटा देगा? नही, आज तक तूने ऐसा नही किया है। तेरी प्रकृति यह सहन नहीं कर सकती। किन्तु किया क्या जा सकता है? कुछ हो देने को तब तो!'

माघ विचार में डूबे इधर-उधर देख रहे थे। कुछ उपाय नही सूझता था। आखिर एक किनारे सोती हुई पत्नी की ओर उनकी दृष्टि गई। पत्नी के हाथो मे सोने के कगन चमक रहे थे। सम्पत्ति के नाम पर वही कंगन उसकी सम्पत्ति थे।

माघ ने सोचा कौन जाने माँगने पर यह दे या न दे! इसके पास और कोई धन-सम्पति तो है नही, कोई अन्य आभूषण भी नही। यही कगन है तो शायद देने मे इन्कार कर दे! सयोग की बात है कि यह सोई हुई है। अच्छा अवसर है। क्यो न चुपचाप एक निकाल लिया जाय!

माघ दो कगनो मे से एक को निकालने लगे। कगन सरलता से खुला नही और जब जोर लगाया तो थोडा झटका लग गया। पत्नी की निद्रा भग हो गई। वह चौक कर जगी और अपने पति को देखकर बोली आप क्या कर रहे थे ?

माघ कुछ नही, एक सामान टटोल रहा था।

पत्नी नही, सच कहिए। मेरे हाथ मे झटका किसने लगाया ?

माघ—झटका तो मुझी से लग गया था।

पत्नी तो आखिर बात क्या है ? तो क्या आप कगन खोलना चाहते थे ?

माघ हाँ, तुम्हारा सोचना सही है।

पत्नी लेकिन किसलिए ?

माघ एक गरीब ब्राह्मण दरवाजे पर बैठा है। वह बडी आशा लेकर यहाँ आया है। वह बडा गरीब है। उसके एक जवान लडकी है, जिसकी शादी उसे करनी है, किन्तु करे तो कैसे ? पास कुछ हो तब तो ! सो वह अपने घर कुछ पाने की आशा से आया है। मैंने देखा, घर मे कुछ भी ऐसा नही है, जो उसे दिया जा सके। तब तुम्हारा कंगन नजर आया और यही खोलकर उसे दे देने को सोचा। मैंने तुम्हे जगाया नही, क्योकि मुझे भय था कि कही तुम कगन देने से इकार न कर दो !

पत्नी तब तो आप चोरी कर रहे थे !

माघ हाँ, बात तो ऐसी ही है, पर करता क्या ? दूसरा कोई चारा भी तो नही था।

पत्नी मुझे आपके साथ रहते इतने वर्ष हो गये, किन्तु देखती हूँ, आप आज तक मुझे नही पहचान सके ! आप तो एक ही कगन ले जाने की सोच रहे थे, कदाचित् मेरा सर्वस्व भी आप ले जाएँ तो भी मैं प्रसन्न ही होऊँगी। पत्नी का इससे बडा सौभाग्य और क्या होगा कि वह पति के साथ मानव-कल्याण-कार्य मे काम आती रहे। बुलाइए न वह ब्राह्मण कहाँ है ? शुभ काम मे देरी क्यो ?

और, माघ ने झट से बाहर आकर उस ब्राह्मण को बुलाया तथा

अन्दर ले जाकर कहा—देखो भाई, मुझे घर मे कुछ नही मिल रहा है जो तुम्हे दे सकूँ। यह एक कगन है, जो तुम्हारी इस पुत्री के पहनने के लिए है। उसी की ओर से तुम्हे यह भेट किया जा रहा है। मेरे पास तो देने को कुछ भी नही है।

पत्नी ने दोनो कगन उतार कर सहर्ष ब्राह्मण को दे दिए। ब्राह्मण गद्गद हो उठा। विस्मय और हर्ष के आवेग मे उसकी आँखो से झर्-झर् आँसू की धाराएँ फूट चली। वह भगवान् को धन्यवाद देता हुआ तथा ऐसे महान् दम्पति का गौरवगान करता चला गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष मे ऐसी बहने भी आई है, जिन्होने अपनी दारुण दारिद्रय एव दुस्सह दीनता की हालत मे भी आगा लेकर घर आये हुए अतिथि को खाली हाथ नही लौटाया। उन बहनो ने मानो यही सिद्धान्त बना लिया था—

'दानेन पाणिर्नतु कङ्कणेन'।

हाथ दान देने से सुशोभित होता है, कगन से नही।

गौरव की अधिकारिणी कौन ?

ऐसी विराट् हृदय वाली बहनो ने ही महिला समाज के गौरव को बढाया है। ऐसी-ऐसी बहने हो चुकी है, जिन्होने अपरिचित भाइयो की भी उनकी गरीबी की हालत मे सेवा की है और उन्हे अपने बराबर धनाढ्य बनाया है। जैन इतिहास मे उल्लेख आता है कि पाटन की रहने वाली एक बहन लच्छी (लक्ष्मी) ने एक अपरिचित जैन युवक को उदास देख कर ठीक समय उसकी सहायता की और उसे अपने बराबर धना ्य बना दिया। वही एक दिन का भूला-भटका हुआ रोटी की तलाश मे धक्के खाने वाला मरुधर देश का युवक ऊदा, एक दिन सिद्धराज जयसिंह का महामत्री उदयन बनता है और गुजरात के युगनिर्माता के रूप मे भारतीय इतिहास के स्वर्ण पृष्ठो पर चमकता है।

ऐसी बहने ही आज जगत् मे गौरव की अधिकारिणी है। वे महिला जाति मे मुकुटमणि है।

परन्तु कई बहने ऐसी भी है, जिनका घर भरा-पूरा है, जिन्हे किसी चीज की कमी नही है, फिर भी अपने हाथ से, किसी को एक

रोटी का भी दान नही दे सकती ! किन्तु याद रक्खो, गृहिणी की शोभा दान देने से ही है, उदारता से ही है। जो दानशीला और उदारमना है, वही लक्ष्मी की सच्ची मालकिन कही जा सकती है। जैन साहित्य के महान् पण्डित, आचार्यकल्प आशाधर ने अपने ग्रन्थ 'सागार धर्मामृत' मे कहा है

'न गृह गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।'

ईंटो और पत्थरो का बना हुआ घर, घर नही कहलाता, सद्-गृहणी के होने पर ही घर, वस्तुत घर कहलाता है।

खेद है कि आजकल ऐसी आदर्श गृहिणियो के बहुत कम दर्शन होते है। धनाढ्य लोगो के घरो मे भी प्राय ऐसी गृहिणियाँ होती है, जो घर आए किसी गरीब दुखी को देख कर उसे सान्त्वना देने के बदले गालियाँ देकर या धक्का दिलवाकर निकाल देती हैं। किन्तु जो सद्गृहिणियाँ होती हैं वे बडी सजीदगी से पेश आती हैं। वे कभी किसी के प्रति न तो कटु व्यवहार करती हैं और न कभी अपने चेहरे पर क्रोध की रेखा ही आने देती है।

मारवाड़ का महिला-जीवन :

इस प्रान्त मे—मारवाड मे—ऐसी भी बहने मिलेंगी, जिन्हे गृह-लक्ष्मी कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ की बहनो मे शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम है, फलतः अशिक्षिता होने के कारण वे अपने उत्तरदायित्वो का पूर्ण रूप से निर्वाह नही कर पाती है। वे धर्म, रूढि और अन्ध-परम्परा की छँटनी भी नही कर सकती, और इसी कारण धर्म समझ कर अनेक रूढियो की गुलामी करती रहती हैं। उनका जीवन रूढियो मे बुरी तरह जकड गया है। वे प्रगति करने मे ऐसा लगता है, बिलकुल असमर्थ हो गई हैं।

मारवाड के सुधारको से मुझे यही अपेक्षा है कि वे इन बहनो के मिथ्याविश्वास और रूढिप्रियता को दूर करने का प्रयत्न करे तथा इनके मन मे प्रतिष्ठा और गौरव का भाव उत्पन्न करें। किसी भी व्यक्ति का सुधार उसके मन मे प्रतिष्ठा और गौरव का भाव उत्पन्न किये बिना नही हो सकता।

यहाँ की बहनों में जो अन्धपरम्पराएँ प्रचलित है और जो कुरूढियाँ घर किये हुई हैं, उनके सबन्ध में हमे भी जानने को मिला है। उन सब में से हमारा ध्यान रोने-पीटने की प्रथा की ओर प्रथम जाता है। मरने वाले के पीछे रोना-पीटना मानो धर्म समझ लिया गया है। इस बुरी प्रथा के पीछे कई बहनो ने आर्त्तध्यान करके अपनी जान को भी जोखिम मैं डाल दिया है।

आँसू : सहज करुणा का प्रतीक :

ठीक है कि रोना मनुष्य को आ जाता है। किसी का दर्द देख कर आँसू आ सकते हैं। भावुक हृदय में वेदना के कारण आँसू उमडने लगते हैं। कभी-कभी दर्दनाक घटनाएँ पढ या सुनकर हमारी आँखे भी गीली हो जाती है। यह तो सहज करुणा के आँसू होते हैं। इनको रोका नही जा सकता। परन्तु आँसू तो एक न आवे और झूठमूठ चीखें मार कर और हल्ला मचाकर गलियो मे भीड इकट्ठी करना कहाँ तक उचित है? इसमे कौन तत्त्व समाया हुआ है? क्या सब बहने, जो मरने वालों के लिए, रोती हुई, मातमपुर्सी करने जाती है, उनके हृदय मे उसके परिवार के प्रति सचमुच इतनी गहरी वेदना और व्यथा होती है? मैं तो समझता हूँ, उनमे ऐसी कोई चीज नही होती। केवल प्रथा का पालन करने के लिए ही, कुरूढि की रक्षा करने के लिए ही, दिखावे के तौर पर उनमे से अधिकांश रोती-चीखती और चिल्लती हैं।

प्राचीन युग मे यह रोना एक अनिवार्य तत्त्व था। किसी दुःखी या दीन व्यक्ति को देखकर स्वत आँसू निकल पड़ते थे और उसके साथ सहानुभूति और समवेदना प्रकट करते थे। यथावसर उसकी सहायता भी की जाती थी। दुखिया के दु ख के साथ अपने हृदय का दु ख प्रकट किया जाता था। किन्तु अब यह चीज कहाँ? न पुरुषो मे देखने को मिलती है न महिलाओ मे ही देखी जाती है।

क्रंदन-प्रथा की विडम्बना :

बहनें रोती हुई जब उस बहन के पास जाती है, जिसका पति, पुत्र या और कोई आत्मीय अभी-अभी चल बसा है, तो वह बेचारी अपनी व्यथा को रोक नही सकती और रोने लगती है। सहानुभूति पा कर हृदय की वेदना उमड पडती है और आँसुओ का रूप धारण करके बाहर निकल पडती है। यह रोना तो मानव-स्वभाव की सहज एवं

अनिवार्य दुर्वलता है। किन्तु यह क्या वात है कि जव रोना नही आये तो भी जवर्दस्ती आँसू लाने पडते है! और कोई नही, रोती तो चर्चा चल पडती है अरे, उसका पति मरा है, पर देखो, उसकी आँखो मे एक भी आँसू नही है? इस प्रकार वलात् उस पर रोदन प्रथा लादी जाती है और जले पर नमक छिडका जाता है।

होता क्या है? वहनो की एक टोली जाती है और उसे रुला कर लौटती है। इतने मे दूसरी टोली तैयार रहती है और वह जाकर रुलाती है। रोते-रोते वह अधमरी हो जाती है।

मुझे आश्चर्य होता है कि इस प्रकार से रोने और रुलाने मे किसी की क्या भलाई होती है! विचारशील वहने चाहे तो मिलकर इस प्रथा को उठा सकती हैं। इस वुरी प्रथा को उठा देने से धर्म का कोई नाश नही होगा, वल्कि आर्त्तध्यान मे कमी होने से धर्म की वृद्धि और रक्षा होगी। यदि वहनो मे इतना करने का साहस न हो तो वे कमसे कम इतना तो कर ही सकती है कि न रोने या कम रोने वाली अपनी वहनो की निन्दा न करें वल्कि उसे आदर्श समझे।

पर्दा नारी-उत्थान का साधक नहीं वाधक है :

यहाँ की वहनो मे दूसरी चीज मैंने देखी पर्दे की प्रथा। पर्दे का रिवाज यहाँ वडा दयनीय है। शील की रक्षा के लिए मारवाड मे पर्दा प्रचलित किया गया था। किन्तु उसने प्रथा का रूप धारण कर लिया है और यह समझ लेना कि पर्दे से ही शील की रक्षा होती है, भयकर भूल है! गुजरात और महाराष्ट्र मे कोई पर्दा नही है तो क्या वहाँ शील का पालन नही होता है? मैं समझता हूँ, वहाँ की वहने शील और सौन्दर्य मे यहाँ की वहनो से कतई पीछे नहीं है।

फिर पर्दा करने मे कोई विवेक भी नजर नही आता। फेरी वाले आते हैं, अपरिचित आदमी आते हैं और जव ऐरे-गैरे लोग भी आते है तो उन लोगो के सामने किसी प्रकार का पर्दा नही किया जाता, किन्तु घर के वडे-वूढे लोगो के सामने, यहाँ तक कि साधु-सन्तो के सामने भी पर्दा तो किया जाता है किन्तु वक्-वक् प्राय होता रहता है। ऐसे पर्दा करने मे कोई तथ्य नही है। पर्दा करने से जीवन का विकास रुकता है और जीवन की समस्याओ को हल करने मे भी वडी कठिनाई पडती है।

वन्धुओ, वहनो मे पर्दे का जो रिवाज चल रहा है, उसके कारण आप लोग भी हैं। जव कोई वहन पर्दा नही करती, तो आप अपना अपमान समझते हैं और उसकी भर्त्सना करते है, निन्दा करते हैं। यदि आप पर-स्त्रियो को माता और वहन समझते है तो क्यो उनसे पर्दे की अपेक्षा रखते हैं? और यदि वेहनें पर-पुरुप को पिता या भ्राता समझती है तो पर्दा क्यो करती है? भारतवर्ष के धर्मो ने इतनी ऊँची भावना आपको दी है, परन्तु आप उस भावना को भूल कर पर्दे के इस अत्याचार को क्यो प्रोत्साहन देते हैं?

पर्दे के कारण महिला-समाज मे दुर्वलता, साहसहीनता और कायरता सहज रूप से आ जाती है। सकट के समय वे स्वय अपनी रक्षा करने मे समर्थ नही हो पाती। अपनी रक्षा के लिए वे सिहनी का रूप धारण नही कर सकती। सदैव परावलम्वी रहना, यहाँ तक कि अपने सतीत्व की रक्षा के लिए भी दूसरो पर निर्भर रहना, क्या किसी भी अवस्था मे अच्छा कहा जा सकता है। मैं तो चाहूँगा कि हमारी वहने दीन-दुखियो को देख कर दया की पुतली वनें और अत्याचारी का मुकावला करने मे दुर्दान्त सिहनी का रूप धारण करे। उनमे इतनी शक्ति आ जानी चाहिए कि गुण्डे से गुण्डा भी उनकी ओर आँख उठाकर न देख सके और यदि देखने की हिम्मत करे भी तो वे उसकी करनी का भरपूर मजा चखा दे। मैं उन्हे यदि दया की देवी के रूप मे देखना चाहता हूँ, तो शक्ति के ज्वलत पु ज के रूप मे भी देखना चाहता हूँ। वहनो मे ऐसी हिम्मत, शक्ति और साहसिकता आ जाएगी तो उनका तेज सौ गुना वढ जायगा और उनके धर्म की स्वय रक्षा हो लेगी। उनके तेज के आगे अत्याचार ठहर नही सकेगा और पाप काँपने लगेगा। परन्तु पर्दे का त्याग किए विना ऐसा तेज कदापि पैदा नही हो सकता।

आज महिला जीवन की अनेक समस्याएँ हैं। समयाभाव के कारण मैं उन सव पर प्रकाश नही डाल सकता। परन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि उन्हे युग के साथ चलना है। यदि वे प्रतिष्ठा का जीवन जीना चाहती हैं, तो वे अपनी उन्नति के विपय मे स्वय सोचे, समझे और साहस के साथ आगे वढे, इसी मे उनका कल्याण है। *

२४-१०-५०

* महिला सुधार दिवस पर किया गया प्रवचन

४

धर्म और रीति रिवाज

भारतभूमि धर्मप्रधान है, यह एक ऐसा वाक्य बन गया है, जिसे चाहे जहाँ और चाहे जब सुन लीजिए। इसमे सन्देह नही कि धर्म की जितनी और जैसी मीमांसा भारत मे हुई, वैसी अन्य किसी भी देश मे नही हुई। और, धर्म ने भारत की जनता को जितना प्रभावित किया, उतना शायद किसी और देश की जनता को नही किया।

धर्म और जीवन :

भारत के धर्मोपदेशको ने सदैव इस बात पर बल दिया कि धर्म जीवन मे ओतप्रोत हो जाना चाहिए, हमारा जीवन धर्ममय बन जाना चाहिए, अर्थात् हम अपने जीवन मे जो भी व्यवहार करे उनमे धर्म का विचार अवश्य मिला रहना चाहिए। जीवन अलग रहे और धर्म अलग, ऐसा कदापि न होना चाहिए।

बात तो सर्वथा सत्य ही है। जीवन जब तक धर्ममय नही बन जाता, तब तक जीवन का उत्थान नही हो सकता। जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे धर्म को चमकना ही चाहिए। परतु ऐसा जान पडता है कि जनता ने, इस शिक्षा का अर्थ उलटा ही ग्रहण कर लिया है। उसने अपने व्यवहारो को धर्ममय बनाने का कठिन रास्ता अख्तियार करने के बजाय धर्म को ही व्यवहारमय बना लेने का सरल रास्ता अख्तियार कर लिया। आज स्थिति यही दिखलाई पड रही है।

धर्म और लोकरूढ़ि :

आज लोगो को इस बात की चिन्ता नही है कि हमारी प्रथाएँ, परम्पराएँ और रीत-रिवाज धर्ममय होने चाहिएँ, उन्हे चिन्ता है तो

यही कि धर्म को हमारी प्रथाओं, परम्पराओं और लोकरूढियों का समर्थक होना चाहिए। इस तरह की भावना के कारण लोग लोकरूढियों मे ही धर्म की कल्पना करने लगे है जिससे धर्म का रूप बडा अटपटा-सा हो गया है।

बहुत-से लोग पूछना चाहते है कि अमुक रिवाज या परम्परा, जो चल रही है, वह धर्म है या नही? किसी के यहाँ बच्चा हुआ, विवाह हुआ या मरण हुआ और इस प्रसंग पर अमुक तरह का क्रियाकाण्ड किया गया, तो वह धर्म है या नही? अमुक रूढि, जो लोक मे प्रचलित है, धर्म है या नही?

इससे एक अटपटी बात और पैदा हो गई। वह यह कि एक व्यक्ति अमुक काम को अच्छा मानता है और दूसरा उसे बुरा मानता है। क्योंकि संसार मे लौकिक व्यवहारो की मान्यता एक-सी नही है। एक चीज एक प्रान्त मे अच्छी समझी जाती है, तो वही दूसरे प्रान्त मे बुरी समझी जाती है। इसी तरह जो रिवाज एक जाति या कुल मे अच्छा समझा जाता है, वही दूसरी जाति या कुल मे बुरा माना जाता है। इस प्रकार विभिन्न प्रथाओ को लेकर जनता मे अलग-अलग विचार पैदा हो जाते हैं। फलतः एक व्यक्ति एक रिवाज को धर्म मान कर चलता है तो दूसरा उसी को अधर्म मानता है। इस तरह धर्म का प्रश्न बडी गडबड मे पड जाता है। यह स्थिति आज ही इस प्रकार की हो गई है, ऐसी बात नही, पहले भी ऐसी स्थिति थी। महाभारत के लेखक व्यास से पूछा गया कि धर्म किसमे है? अमुक काम करते हैं, तो वह धर्म है या अधर्म? यह जो अलग-अलग अगणित रिवाज चल रहे है, उनमे से किनमे धर्म है और किनमे अधर्म? यह प्रश्न सुन कर व्यास भी अटपटा गये और उन्होने कह दिया।

तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

धर्म और तर्क :

तर्क से धर्म का निर्णय करे? किन्तु तर्क का ही ठिकाना नही है। वह आज एक तरफ, तो कल दूसरी तरफ चलने लगता है। एक तर्क जिस चीज का खण्डन करता है, दूसरा उसी का मण्डन करता है।

तर्क तो वह हथियार है जो आपस मे लड जाता है, कट जाता है और एक-दूसरे से मात खा जाता है। अतएव तर्क के भरोसे धर्म का निर्णय होने वाला नही है।

धर्म और शास्त्र :

तर्क की स्थिति पर विचार करने के उपरान्त हमारा मन उससे हट पडता है। मन मे शास्त्रो का आधान करने की अभिलाषा जागृत हो पडती है। और तव मन मे यह प्रश्न उठता है कि क्या शास्त्र से धर्म का निर्णय कर ले ? किन्तु शास्त्र भी एक कहाँ है ? एक शास्त्र किसी चीज का विधान करता है, तो दूसरा शास्त्र उसका निषेध करता है। श्रुतियाँ कुछ कहती है, तो स्मृतियाँ और ही कुछ कहती हैं और पुराण अपना अलग ही राग अलापते है। उनमे भी आपस मे सघर्ष है। फिर कोई-कोई शास्त्र तो यह भी कहता है कि शास्त्र भरोसे (प्रमाण) की चीज ही नही है। इस रूप मे शास्त्र स्वय अपनी अविश्वसनीयता प्रकट कर देता है। अव प्रश्न यह है कि-किस शास्त्र को प्रमाण मानें और किसे अप्रमाण माने ? शास्त्र की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का निर्णय करने के लिए कौन-से शास्त्र का सहारा ले ? अत. मन यहाँ से भी भाग खडा होता है, फिर मन मे आता है, ठीक है, शास्त्र को भी रहने दिया जाये। किसी आचार्य से ही क्यो न धर्म-अधर्म का निर्णय करा लिया जाय ? परन्तु आचार्यो का मत भी एक कहाँ है ? सव की ही अलग-अलग राह है। एक का निर्णय पूरव मे जाता है, तो दूसरे का पश्चिम मे। किसकी मानें, किसकी न मानें ?

इस प्रकार धर्म का तत्त्व-रहस्य अधकार मे छिप गया है और पता नही चलता कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है ?

धर्म और जनमत :

व्यासजी का मत है कि "जिधर वहुत से आदमी जा रहे हो, भीड जा रही हो, उधर ही चल पडो। वही सत्यधर्म का मार्ग है।"

'महाजनो येन गत' सपन्थाः।' धर्म के सम्बन्ध मे यह जो निर्णय किया गया है, वह क्या वास्तविक निर्णय है ? एक आदमी जो काम कर रहा है, उसे करना नही चाहिए, क्योकि वह महाजनो का अर्थात्

बहुतो का मार्ग नही है। मार्ग वह है, जहाँ भीड़ लग रही है। यह कथन ठीक नही है, क्योकि दुनिया की अधिक से अधिक जनता तो अज्ञान मे रहती है। अज्ञान से प्रेरित जनसमुदाय जिस ओर जा रहा है, उस ओर जाने से क्या कल्याण हो सकेगा ?

सबसे बड़ी बात तो यह है कि सत्य की दृष्टि से विचार करने पर यह पता चलता है कि सत्य बहुमतगत नहीं है, अपितु स्वगत है। बहुतो की मान्यता होने पर भी असत्य, सत्य नही हो सकता और अल्प जनसमूह द्वारा मान्य होने के कारण ही सत्य, असत्य नही हो सकता। सत्य अपने आप मे सत्य है। वह बादलों मे प्रतीत होने वाली आकृति नही है कि जिसे जैसी दीख पडे, उसके लिए वैसी ही हो जाय।

अभिप्राय यह है कि ज्यादा लोग कह रहे हैं, सो अच्छा है और कम लोग कह रहे हैं सो बुरा है, यह निर्णय कोई तर्कसम्मत निर्णय नही है।

धर्म और अधर्म :

अब एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रह जाता है कि धर्म क्या है ? यह एक वह महत्वपूर्ण प्रश्न है जो प्राचीन युग में भी था और आज भी ज्यो का त्यों खडा है।

यह तो सभी जानते हैं कि हम जिस संसार में रह रहे हैं, उसमें खाने, पीने, रहने आदि के नियम, मकान बनाने के नियम, उद्योग-धंधो के नियम और विवाह-शादियों के नियम, सब के सब, एक-से नही है। अलग-अलग देशो मे और अलग-अलग जातियो मे अलग-अलग नियम है। ऐसी स्थिति मे जब हम इन नियमो को धर्म का रूप दे देते है, या धर्म मान लेते है, तो धर्म का प्रश्न बडा पेचीदा बन जाता है। फिर जनता शीघ्र निर्णय मांगने लगती है कि हम क्या करे और क्या न करें ?

वास्तविक बात यह है कि धर्म को जिस रूप मे ग्रहण करना चाहिए, हमने उसे उस रूप मे ग्रहण नही किया। धर्म का वास्तविक रूप कुछ और था और हमने समझ कुछ और ही लिया है। यही से धर्म के सम्बन्ध मे अज्ञान का प्रारंभ होता और हम धर्म का मार्ग भूल कर विपरीत मार्गगामी हो पडते है।

धर्म, पंथ एवं परम्परा :

धर्म एक चीज है और पंथ दूसरी चीज है। धर्म का रूप अलग होता है और पथ का रूप अलग होता है। जैनधर्म धर्म है या पथ है ? यह विचारणीय प्रश्न है। अंग्रेजी भाषा मे 'रेलीजन' शब्द का प्रयोग होता है और उसी से ही यह इस विषय मे एक प्रकार का गड़बड़झाला पैदा हो गया है।

हजारो परम्पराएँ पनपी, चली और आगे बढी। उनमे से कुछ मिट भी गई और कुछ मौजूद भी है। हजारो नवीन परम्पराएँ जन्म ले रही हैं, वे भी मिटेगी और फिर नवीन जन्म लेंगी। यह मत, पंथ या प्रवाह है। तो क्या जैनधर्म इन मान्यताओ और पथो पर ही रहता है या इनसे ऊपर उसका स्थान है ? मैं सोचता हूँ कि धर्म, पथ से बहुत ऊपर है, वह पथ के घेरे मे सीमित नही है। वह सम्प्रदाय के रूप मे अवश्य है, किन्तु सम्प्रदाय मे बन्द नहीं है। सम्प्रदाय से ऊपर है। सम्प्रदाय के रूप मे मान्यताएँ जब-जब चली, उनमे धर्म अवश्य था, किन्तु जब वह मान्यताएँ सड-गल गई तब भी जैनधर्म का चक्र सबके ऊपर स्थित था और ऊपर ही रहा। परम्पराए सड-गल कर खत्म हो गई, धर्म अपने रूप मे स्थायी बना रहा।

इस प्रकार धर्म के दो रूप हमारे सामने आते है - एक धर्म और दूसरा सम्प्रदाय, पन्थ, मान्यता या परम्परा। धर्म का रूप सर्वोपरि है। सम्प्रदाय पन्थ, या परम्परा मे जब तक धर्म का अश रहता है, विवेक-विचार बना रहता है, तब तक वह परम्परा या मान्यता जनता का कल्याण करती रहती है, समाज मे जागृति उत्पन्न करती रहती है, और उसे आगे बढाती रहती है। इसी रूप मे यदि कोई मान्यता या परम्परा चल रही है तो उसमे धर्म का अश है और उसमे धर्म का अश होने के कारण हम उसे धर्म के रूप मे स्वीकार भी करते है। किन्तु जब उस परम्परा मे से धर्म का अश निकल जाता है, वह परम्परा निर्जीव क्रियाकाण्ड मात्र रह जाती है, तब वह धर्म नही रह जाती। ऐसी परम्परा और मान्यता को भंग कर देना हमारा आदर्श है। हम हजारो वर्षों से यही करते आये हैं। हम धर्महीन जड परम्पराओ को खत्म करते आये है और नवीन प्रणालियो को जन्म देते आए है।

हमारे नाखूनो के दो विभाग है। नाखून का जो भाग उँगलियो से सटा हुआ है, वह जिंदा नाखून है। उस जिंदा नाखून को काटेगे तो दर्द शुरू हो जायगा। आप अहकारवश कदाचित् उसे काट डालेंगे तो वह आपको व्यथा उपजाएगा और आपका महत्वपूर्ण अग कटकर शरीर से अलग हो जायगा और यदि नाखून के निर्जीव भाग को, जो उँगली से आगे बढ कर आगे का रास्ता ले रहा है, उसे यह समझ कर नही काटेगे कि यह भी तो हमारे ही शरीर का अंग है, इसे काटें, तो कैसे काटे ? तो वह आपको हानि ही पहुँचाएगा। जहाँ कही लगेगा, लोहू-लुहान कर देगा। उसमे मैल भरेगा और वह मैल भोजन के साथ पेट मे जाकर भयकर बीमारियो को उत्पन्न करेगा।

तात्पर्य यह कि जो नाखून जिंदा है उसे नही काटना चाहिए। वह उंगली की रक्षा करता है, उंगली को बलिष्ठ बनाता है और इस रूप मे वह एक उपयोगी अग है। इतने पर भी यदि कोई उसे काटने पर ही उतारू हो जाता है, तो उसे कष्ट भुगतना पडेगा। हाँ, मुर्दा नाखून जो बढ गया है, उसे न काटना भी पीडा का कारण है। अतएव उसे काट फेंकने मे ही कल्याण है।

यही बात परम्पराओ और रीति-रिवाजो के विषय मे भी है। रीति-रिवाजो के नाखून को लेकर बडे सघर्ष हो रहे है। एक ओर से यह कहा जा रहा है कि "पुराने जमाने से चले आ रहे ये रीति-रिवाज हमारे काम के नही है, इन्हे जड से उखाड कर फेंकना चाहिए। जो लोग नई रोशनी के है, वे जब धर्म के नाम पर कोई गडबड देखते है तो कहते है कि इस धर्म को ही बर्बाद कर दो। धर्म ने प्रजा के सिर फुडवाये हैं, हमे आपस मे लडाया है और स्वार्थसाधन करना सिखलाया है। हम धर्म से ऊब गये है, बेचैन हो गये हैं। धर्म से कल्याण नही होने वाला है।"

मैं समझता हूँ कि ऐसे लोगो ने पथो, सम्प्रदायो और रूढियो को ही धर्म समझ लिया है। उन्होने धर्मात्मा कहलाने वाले कुछ व्यक्तियो के गलत जीवन का अध्ययन कर लिया है इसलिए वे जिंदा नाखून को भी काट फेकने के लिए तैयार हो गये हैं। इससे समाज का भला नही होगा। फिर भी यदि काट कर फेक ही दिया गया तो असह्य दर्द होगा और कनई भलाई नही होगी।

दूसरी ओर पुराने विचारो के लोग है। उनका आग्रह हो रहा है कि जो नाखून मुर्दा हो गया है, बढा हुआ है, उसमे जीवन नही रह गया है, जब-तब खून बहाता है, उसमे मैल भरता है, फिर भी उसको मत काटो। यह तो हमारा धर्म है, सम्प्रदाय है, हमारी परम्परा है। इस तरह दोनो ओर अति हो रही है और इस कारण सारे भारत के समाज, पथ, मत और मान्यताएँ आज बेचैन है।

किन्तु जिस रूप मे हम सोच रहे हैं, उस रूप मे जैनधर्म ने नही सोचा है। उसने तो यही कहा है कि धर्म दो रूप मे है जिंदा और मुर्दा। जो सम्प्रदाय, मान्यता या रूढि अच्छी है, जिससे समाज का कल्याण हो रहा है, उसे नही काटना है, उसे नष्ट नही करना है। आखिर उसे नष्ट करके भी क्या किया जायेगा उसकी जगह कोई नई परम्परा गढनी पडेगी। फिर उसी को क्यो नही जारी रहने दे? जब उससे समाज का कल्याण हो रहा है, तो फिर उसे काट कर फेकने की क्या आवश्यकता है?

हाँ, जो मान्यताएँ या परम्पराएँ सड गई हैं और हमारे जीवन को कोई उल्लास नही दे रही है, जो निर्जीव नाखून की तरह बढ गई हैं, उनको काट कर फेंक देना ही हमारा कर्त्तव्य है। ऐसा करने का भगवान् महावीर आदि महापुरुषो ने भी हमे अधिकार प्रदान किया है। उन्होने हमे आदेश दिया है कि गलत और हानिकारक परम्पराओ को काट कर नई परम्पराएँ बनाते रहो, जिससे जागृति कायम रहे।

तो, अभिप्राय यह है कि जो सम्प्रदाय जिन्दा नाखून के समान है, जिसमे जीवन है, उसे मत काटो, किन्तु जिसमें से धर्म निकल गया है और जो परम्परा धर्म से आगे निकल गई है, समाज को दुख दे रही है, बर्बाद कर रही है उसको काट फेकना परम आवश्यक है। यही बात जैनधर्म बताता है। यह हमारे जीवन की गति को रोकता नही है और गलत ढग से काट फेकने की आज्ञा नही देता है। वह हर जगह विवेक और विचार को उत्तेजना देता है, कभी किसी एकान्तवाद को प्रश्रय प्रदान करने की बात नहीं करता।

पंथ और धर्म परस्पर संबद्ध है:

सम्प्रदाय, पथ और धर्म का सम्बन्ध घनिष्ठ है, हमे अपनी

विवेक-बुद्धि से उनका विश्लेषण करना चाहिए। विश्लेषण किये जाने पर ही पता चलेगा कि धर्म का रूप और है तथा पथ का मतलब कुछ और है। किन्तु लोगो ने पथ को ही धर्म समझ लिया है और इसी कारण आज बडी गडबडी फैली हुई है।

पथ मे धर्म रह सकता है, किन्तु धर्म मे पथ नही है। किसी परम्परा मे धर्म हो सकता है किन्तु वह परम्परा, धर्म पर सवार नही हो सकती। यही कारण है कि आज के युग तक जैन परम्परा मे भी समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते आये हैं। धर्म ध्रुवसत्य है, वह त्रिकाल अबाधित है और उसमे कभी कोई परिवर्तन नही हो सकता। किन्तु परम्पराओ मे, मान्यताओ मे परिवर्तन होते आये हैं और होते रहेगे। परम्पराएँ तीर्थंकरो के युग मे भी बदली है और बाद मे भी बदली है।

इस प्रकार एक कर्त्तव्य, एक समय और एक जगह पर धर्म होता है तो दूसरे समय और दूसरी जगह पर अधर्म हो जाता है। अतएव परम्परा को हमे धर्म नही मान लेना चाहिए। जब हम ऐसा मान बैठते हैं तभी गडबडी पैदा होती है, और गलतफहमी फैलने लगती है।

जैनधर्म से कोई प्रश्न करे कि जन्म का उत्सव कैसे किया जाए? विवाह-शादी कैसे करें? तो जैनधर्म इन प्रश्नो का क्या उत्तर दे? जैनधर्म मे विवाह आदि की कोई रूपरेखा नही है, कोई प्रणाली नही है। कपडे की दुकान करना धर्म है या चाँदी-सोना की दुकान करना, यह जैनधर्म नही कहता। मृत्यु के सम्बन्ध मे उससे पूछा जाय कि मृतक को जला देना धर्म है या गाड देना? तो वह क्या बतलाए? मतलब यह कि इन सब बातो का धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नही है। यह तो मात्र विधियाँ है, मान्यताएँ और रूढियाँ है, जो कही किसी रूप मे प्रचलित हैं और कही किसी रूप मे। यहाँ धर्म का कोई प्रश्न नही है। अलबत्ता जैनधर्म यह अवश्य कहता है कि जिस रूढि और परम्परा मे विवेक और विचार को स्थान हो, उसे कायम रखो और जो विवेक और विचार के विरुद्ध हो, उसे छोड दो। उदाहरणार्थ, जैनधर्म यह कहेगा कि मृतक शरीर को यदि फेंक या गाड दिया जाता है तो वह सडेगा और असंख्य सम्मूर्छिम जीव पैदा होगे, परन्तु

अग्नि मे जला देने पर जीव पैदा नही होगे । वह एक ही बार में भस्म हो जायगा । अधिक हिंसा नहो होगी ।

जिस किसी परम्परा के द्वारा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की वृद्धि हो रही हो, वासना कम हो रही हो, अन्याय और अत्याचार कम हो रहे हो, वह परम्परा धर्मयुक्त है। और जिस परम्परा से अहिंसा, सत्य आदि की हानि होती हो, अन्याय तथा अत्याचार की वृद्धि होती हो, वह अधर्म है। और जिस परम्परा मे जितने अश मे ये बाते होगी, वह उतने ही अश मे धर्मरूप या अधर्मरूप होगी ।

इस प्रकार जैनधर्म के पास एक ही सिद्धान्त है कि जिस क्रिया के द्वारा तुम्हारा जीवन ऊँचा उठ रहा है, वह धर्म है, और जिसके द्वारा जीवन नीचे गिर रहा है, वह अधर्म है ।

जैनधर्म और वैदिक धर्म मे अन्तर :

जैनधर्म और वैदिकधर्म की मूल सस्कृति मे यही बडा अन्तर है। वैदिक सस्कृति मे बच्चा जन्मता है तो अपने साथ नियमो की गठरी लेकर आता है। बच्चे के जन्म के साथ ही अमुक प्रकार के विधि-विधान करो, इतने दिन बाद उसे चाँद-सूरज के दर्शन कराओ, इतने दिनो मे मुडन कराओ, अमुक तरह से यज्ञोपवीत (जनेऊ) पहनाओ, इस प्रकार से विवाह-सस्कार करो ! जन्म से लेकर मरण तक ही नही, जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात् भी वैदिक धर्म मे रीति-रिवाज आबद्ध है। मरने के बाद भी कोई न कोई मन्त्र पढता हुआ पुरोहित सामने खडा दिखाई देता है ! आशय यह है कि वैदिक सस्कृति ने जीवन के प्रत्येक कार्य को धर्म के साथ बाँध देने की कोशिश की है, परन्तु जैनधर्म अपने मूल रूप मे, ऐसी बातो से दूर रहा है । वह भी यदि रीति-रिवाजो के दल-दल मे फँस जाता तो स्वच्छ नही रह सकता था ।

जैनधर्म तो बहने वाला धर्म है। वह किसी के पैरो की बेडियाँ नही बनना चाहता। किसी लौकिक रिवाज के विषय मे जैनधर्म से पूछा जाय कि अमुक रिवाज धर्म-सम्मत है या नही है, तो जैनधर्म यही कहेगा कि अगर अमुक रिवाज विवेक से परिपूर्ण है तो वह धर्म

है, अन्यथा नही। दिगम्बर सम्प्रदाय के एक सद्गृहस्थ और जैनधर्म के विद्वान् आचार्यकल्प पण्डित आशाधरजी ने इस सम्बन्ध मे बडा ही महत्त्वपूर्ण निर्णय दिया है

> "सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
> यत्र सम्यक्त्वहानिर्न. यत्र नो व्रतदूषणम् ॥"

जैनो को सभी लौकिक रीति-रिवाज मान्य हो सकते है, परन्तु शर्त केवल यही है कि उनसे सम्यक्त्व की किसी प्रकार की हानि न हो और व्रतो मे कोई दोष न आता हो।

यह तो है नही कि जैनधर्मो का जीवन और किसी ढग से चलता हो और वैदिक धर्मी का जीवन किसी और ढग से, जैन और तरह से मरता हो और वैदिकधर्मी और तरह से। दोनो को मरना पडता है, दोनो को जन्म लेना पडता है और दोनो को जीवन-निर्वाह के प्राय. एक जैसे ही ढग अपनाने पडते है। जैन भी विवाह करता है और वैदिक भी, जैन भी भोजन करता है और वैदिक भी। यह तो नही है कि जैन भोजन करे और वैदिक न करे। किन्तु इन वातो मे रीति-रिवाज वताने की जैन शास्त्रो को आवश्यकता ही नही जान पडती। आखिर इन वातो को वतलाने की आवश्यकता ही क्या है? यह तो मनुष्य अपने वातावरण और संस्कारो से अपने आप ही सीख जाता है। और, यह भी कैसे कहा जा सकता है कि अमुक रिवाज धर्म है और अमुक रिवाज अधर्म है? चोटी रखवाने का रिवाज धर्म है और न रखवाने का रिवाज अधर्म है इन वातो मे धर्म या अधर्म का प्रश्न ही खडा नही होता। धर्म और अधर्म तो क्रमश विवेक और अविवेक मे है। तुम किसी भी रिवाज का अनुसरण करो, अपने सम्यक्त्व और चरित्र की रक्षा करते रहो, जैनधर्म का वस एक मात्र यही सिद्धान्त है।

व्रत और रीति-रिवाज :

पुराने युग मे एक ऐसा रिवाज प्रचलित था कि विवाह के समय वैल को ताजा मार कर उसका गीला, खून से भरा लाल चमडा वर-वधू को ओढाया जाता था। परन्तु जैनो को यह रिवाज कव मान्य हो सकता था? इसका अनुसरण करने से तो अहिंसा व्रत दूषित होता है। व्रतो के सामने रीति-रिवाजो का क्या मूल्य है? तो

जैन इस रिवाज के लिए क्या करे ? वैदिक परम्परा के कुछ लोग तो ऐसा किया करते थे और सम्भव है उन्होने इस चीज को धर्म का भी रूप दिया हो। परन्तु जैन लोग इस प्रथा को स्वीकार नही कर सकते थे। उन्होने इसमे सम्यक्त्व और व्रत दोनो की हानि देखी। अतएव जैनगृहस्थो और जैनाचार्यो ने उस हिंसापूर्ण परम्परा मे सशोधन कर लिया। उन्होने कहा गीला चमडा न ओढाये जाए, उसके स्थान पर लाल कपडा ओढ लिया जाये, तो अति उत्तम हो। ऐसा करने से प्रचलित परम्परा का मूल उद्देश्य भी कायम रह जायेगा और सम्यक्त्व तथा व्रतो मे दूषण भी न लगने पाएगा।

लाल कपडा प्रसन्नता का अनुराग का द्योतक माना जाता है। इस प्रकार जैनो ने रक्त से लथपथ चमडे के वदले लाल कपडा ओढने की जो परम्परा चलाई, वह आज चल रही है। आज भी विवाह आदि अवसरो पर स्त्रियाँ लाल कपडे पहनती है। तो जैनो ने उस दूषित परम्परा को वदलने के साथ कितनी बडी क्रान्ति की है, इस वात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषय मे अधिक देखना चाहे तो **'गोभिल्ल गृह्यसूत्र'** मे विस्तार से देख सकते है।

उसी युग मे एक परम्परा और थी। उत्सव के अवसर पर लोग मनुष्य की खोपडी लेकर चलते थे। परन्तु जब जैनधर्म का प्रचार बढा, तो खोपडी रखने की भद्दी परम्परा समाप्त हो गई। जैनधर्म ने उसके स्थान पर नारियल रखने की परम्परा प्रचलित की। इस प्रकार जैनधर्म की वदौलत खोपडी की जगह नारियल की परम्परा धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गई। आप देखेंगे कि नारियल ठीक खोपडी की शक्ल का होता है, वह मानव की सी आकृति का है। इस रूप मे नारियल नरमुण्ड का प्रतीक है। उस समय के जैनियो ने विचारा खोपडी रखने से क्या लाभ ? खोपडी तो अपावन और अशोभन वस्तु है और जगलीपन की निशानी है। नारियल रखने से उस परम्परा का पालन भी हो जायगा और जगलीपन की निशानी भी दूर हो जायगी।

इस प्रकार उस समय के जंगली रिवाजो को जैनधर्म ने दूर किया, जिसमे देवी देवताओ के आगे मनुष्य की खोपडी चढाई जाती थी। मैं समझता हूँ, जैनियो ने उस हिंसक परम्परा को खत्म करके और

उसकी जगह इस अहिंसक नवीन परम्परा को कायम करके मानवीय वृत्ति की स्थापना की। जैनो ने नारियल के रूप मे खोपडी को प्रतीक रक्खा, उसे अन्य धर्मावलम्बियो ने भी स्वीकार कर लिया और आज तक वह कायम है। इस प्रकार तो जैनधर्म द्वारा स्थापित की हुई प्रथाओ और परम्पराओ मे सर्वत्र आप अहिंसा की ही स्फुरणा देखेगे।

जैनधर्म और व्यवसाय :

व्यापार-धन्धे के विषय मे भी जैनधर्म यही कहता है कि विवेक और विचार को आगे रक्खो। वह प्रत्येक कार्य मे विवेक को आगे रखने का परामर्श देता है। कहता है :

"पन्ना समिक्खए धम्मं।"

प्रज्ञा द्वारा विवेक-बुद्धि द्वारा धर्म की समीक्षा करनी चाहिए, उसका अन्वेषण करना चाहिए।

जिस काम मे जितना ही विवेक रखा जायेगा और जितनी भी वासना कम करोगे, उसमे उतनी ही कम हिंसा होगी। और अहिंसा की दिशा मे जितना बढा जायेगा, उतनी ही धर्म की अभिवृद्धि होगी।

जैनधर्म ने व्यवसायो मे भी अनार्य और आर्य का भेद किया है और अनार्य व्यवसायो का परित्याग करके आर्य व्यवसायो को अपनाने का विचार प्रचलित किया है। आर्य व्यवसायो मे भी यथोचित विवेक-बुद्धि रखने की प्रेरणा दी है।

सबसे श्रेष्ठ बात तो यह है कि उसने व्यर्थ की परम्पराओ और चीजो को पनपने नही दिया है बल्कि उन्हे जडमूल से नष्ट कर देने का ही प्रयास किया है।

जैनधर्म और क्रियाकांड :

पुराने जमाने मे कई प्रकार के क्रियाकाण्ड प्रचलित थे। यज्ञ और होम आदि के रूप मे अनेक हिंसामय परम्पराएँ चल रही थी और वैदिक सम्प्रदाय ने उन्हे धर्म का रूप दे रक्खा था, परन्तु जैनो ने उन्हे मानने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होने व्यर्थ की हिंसा को कभी आश्रय नही दिया और न सम्यक्त्व की जड काटने वाली परम्परा को कभी पाला-पोसा। यही कारण है कि वैदिक सम्प्रदाय मे आज

भी श्राद्ध करने की परम्परा चल रही है, पर जैनधर्म ने इसका विरोध किया है। उन्होने कहा है अगर तुम्हे दान करना हो तो और तरह से कर सकते हो, किन्तु यह समझना कि यहाँ ब्राह्मणो को खिलाने-पिलाने से पितरो का पेट भर जायगा और देने से पितरो को मिल जायगा, एकदम मिथ्या समझ है। इसमे कोई तथ्य नही है। पिण्ड पितरो को पहुँच जाता है, इससे बढकर तर्कहीन कल्पना और क्या हो सकती है?

जैनधर्म और सम्यक्त्व :

जैनधर्म ने इस परम्परा में जब सम्यक्त्व की अर्थात् सत्यनिष्ठा की जड कटती देखी तो उसे सर्वथा अस्वीकार कर दिया। उन्होने दान देने की दूसरी प्रणाली को ही अपनाया, जिससे अहिंसा आदि के तत्त्वो का ठीक-ठीक रूप में पालन किया जा सके।

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि परम्पराएँ बदलती रहती है और उनके लिए जैनधर्म कोई विधि-विधान नही करता। वर्तमान आगमो मे आपको कही भी ऐसी किसी परम्परा या रूढि का विधान नही मिलेगा। मरने, जीने और विवाह-शादी आदि की रीतियो के सम्बन्ध मे न उसने कोई विधान किया और न कोई निषेध ही किया।

यदि जैनधर्म किसी एक जाति के रिवाजो को ठीक और दूसरी जाति के रिवाजो को गलत कहता, तो वह एक ही जाति मे बन्द हो जाता, वह हमारे पैरो की बेडी बन जाता। इसके अतिरिक्त रिवाज तो रिवाज है, धर्म एक का खंडन और दूसरे का मंडन क्यो करेगा? वह तो जब भी कहेगा, अहिंसा और सत्य की ही बात कहेगा।

वास्तव में ऐसा करके जैनधर्म ने बडी क्रान्ति उत्पन्न की है। उसे तो ससार की सभी जातियो के पास पहुँचना था, राजमहल से लेकर गरीबो की झोपडियो तक जाना था। अतएव जैनधर्म ने ससार के नियमो के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा, उसे इस पचडे मे पडने की कोई आवश्यकता भी नही थी।

बाद के आचार्यो ने कई लौकिक बातो को प्रमाण माना, किन्तु उन पर भी एक शर्त लगाते हुए साधको से कहा कि किसी भी

लौकिक परम्परा का पालन करने से पहले यह देख लो कि उसका पालन करने से तुम्हारे सम्यक्त्व का ह्रास तो नही हो रहा है ? तुम्हारे किसी व्रत, नियम और प्रतिज्ञा मे तो कोई दोष नही लग रहा है ?

इस प्रकार हम देखते है कि जैनधर्म ने लौकिक रीतियो और रिवाजो का पालन करना प्रारंभ किया सही, परन्तु उन्होंने शास्त्रो में उसका विधान नही किया। इसी कारण जैनधर्म सुरक्षित रह भी सका।

कल्याण का मार्ग :

जैनधर्म तो मिथ्या विश्वासो, अन्धपरम्पराओ और अन्याय-अत्याचार की पृष्ठभूमि पर जमी हुई रूढियो को काट कर फेंक देने में विश्वास करता है। ऐसी कुरूढियो को बढे हुए नाखून की तरह काट कर फेक देने मे ही धर्म का कल्याण है। तभी वह सत्य के द्वार तक पहुँच सकता है। धर्म के नाम पर, जनता के हित का विघात करने वाली बातों को कितने दिन तक सहन किया जा सकता है ?

जिसे धर्म का शुद्ध मार्ग अंगीकार करना है, उसे इन रीति-रिवाजो और रूढियों की पुकार नही सुननी चाहिए। उसे तो अपने व्रतो, नियमो और प्रतिज्ञाओ पर दृढ रह कर त्याग का मार्ग पकडना चाहिए। उसे किसी न किसी रीति-रिवाज का पालन तो करना ही होगा, क्योकि गृहस्थावस्था मे उसके बिना काम नही चल सकता। किन्तु उसे अपनाने से पहले वह अपने लाभ-हानि का विचार अवश्य करले, अपने सम्यक्त्व और चारित्र की सुरक्षा का ध्यान अवश्य रखे।

जो व्यक्ति जीवन मे इस दृष्टि को लेकर चलता है, वह अपना भी कल्याण करता है और अपने व्यवहार के द्वारा स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करके मानवजाति का भी महान् कल्याण करता है।

●

२७-१०-५० को कवि श्री जी का दिया गया प्रवचन।

५

हमारी खाद्य-समस्या और आचार-विचार

एक विचारक ने ठीक ही कहा है

"Past is always Glorious
Present is always Insatisfactory
And future is always in dark."

"उज्ज्वल, सुखकर, पूत पुरातन
वर्तमान् कसमस पीडाच्छन्न
और भविष्यत् तमसावर्तन।"

हमारा स्वर्णिम अतीत :

हम जैसे-जैसे ही अपने अतीत के पृष्ठो पर अवलोकन करते है, एक सुखद गौरव-गरिमा से हमारा अतस्तल खिल पडता है। हमारा वह अपरिमित ऐश्वर्य, वह विपुल वैभव, दूध की लहराती नदियाँ, दूर-दूर तक आकाश के छोर को छूते सागरतल, मीलो लम्बी पर्वत-शृखलाएँ, जहाँ प्रतिदिन छहो ऋतुएँ गुजार करती है, हमारा वह सादा-सुखमय जीवन किंतु उच्च विचार, जिसके बीच से ओइम्, अर्हम् का प्रणव नाद गूजा करता था। हमारा वह देवोपम जीवन, जिससे देवता भी होड लेते थे, और

"गायन्ति देवा किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतु भूते,
भवन्ति भूय. पुरुषा. सुरत्वात्॥"

हमारे दृष्टिपथ मे तडित-कंप-सा चमक कर क्षण को न जाने किस अज्ञात सुखद लोक मे उडा ले जाता है। हम हस के-से स्वप्निल पंखो पर उडकर स्वर्गिक् सुख का उपभोग करने लगते है। सचमुच हमारा अतीत कितना सुहाना था, कितना श्रेयष्कर ! कि हम आज भी उसको यादकर गौरव से फूले नही समाते ! सबसे पहले हमारे यहाँ ही जीवन का अरुणिम प्रकाश प्राची मे फूटा था, जिसके लिए कहा है -

"ऊषा ने हँस अभिनंदन किया,
और पहनाया हीरक हार !"

और उस हीरक-हार की रजत-रश्मियो का, उस अरुण की अरुणिम किरणो का प्रकाश दूर क्षितिज के पार तक पहुँचाने को

"अरुण केतन लेकर निज हाथ,
वरुण-पथ मे हम बढ़े अभीत।"

चाहे जैन धर्म हो, चाहे बौद्ध धर्म, चाहे वैदिक धर्म हो, चाहे अन्य ऐतिहासिक परम्परा राओ ने हमारे अतीत की बडी ही रम्य झाँकी प्रस्तुत की है। वह स्वर हमारा ही स्वर था, जिसने ध्वनि-प्रतिध्वनि बन विश्व के कोने-कोने मे जागरण का उन्माद भरा।

हमारा क्षुधित वर्तमान

किन्तु, उस अतीत की गाथाओ को दुहराने मात्र से भला क्या लाभ ? आज तो हमारे सामने, एक विराट् प्रश्न बनकर, हमारा वर्तमान खडा है, समाधान माग रहा है। कल्पना की सुषमा को भी मात कर देने वाला हमारा वह भारत आज कहाँ है ? क्या आज भी किसी स्वर्ग मे देवता इसका महिमा का गीत गाते है ? भारतवासियो के सबध मे क्या आज भी वे वही पुरानी गाथाएँ दुहराते होगे ? आज के भारत को देखकर तो ऐसा लगता है कि वे किसी कोने मे बैठकर आठ-आठ आँसू बहाते होगे और सोचते होगे आज का भारतवर्ष कैसा है ? क्या यह वही भारत है, जहाँ अध्यात्म का वायवीय प्राण कभी तो राम, कभी कृष्ण और कभी बुद्ध तो कभी महावीर बनकर जिसकी मिट्टी को महिमान्वित करता था ? जहाँ प्रेय श्रेय के चरणो की धूल का तिलक करता था। क्या यह वही भारत है ?

अंग्रेजी कवि हेनरी डिरोजियो ने अपने काव्य 'झंगीरा का फकीर' की भूमिका में ठीक ऐसी ही मन स्थिति में लिखा है

"My Country : in the days of Glory Past
A beauteous halo circled round thy brow
And worshipped as a deity thou wast :
Where is that glory, where is that reverence now
The eagle pinion is chained down at last
And grovelling in the lowly dust art thou ·
Thy minstrel hath no wreath to weave for thee
Save the sad story of thy misery."

आज यही सत्य हमारे सामने आ पड़ा है। आज का भारत अत्यंत गरीब है। सुदूर अतीत नही, १७ वी शताब्दी के भारत को ही ले लीजिए। उस समय के भारत को देखकर फ्रांसीसी यात्री वरनियर ने क्या कहा था ? उसने कहा था

"यह हिन्दुस्तान एक अथाह गड्ढा है, जिसमे संसार का अधिकाश सोना और चाँदी चारो तरफ से अनेक रास्तो से आ-आकर जमा होता है और जिससे बाहर निकलने का उसे एक भी रास्ता नही मिलता।"[1]

आज का जीवन :

किन्तु, लगभग दो सौ वर्षों की दुःसह गुलामी के बाद भारत के उस गड्ढे मे वैसे-वैसे भयकर छिद्र बने कि भारत का रूप बिलकुल ही उलट गया। उस दृश्य को देखते आँखे झेपती हैं, आत्मा कराह उठती हैं। विलियम डिगवी, सी० आई० ई० एस० पी० के शब्दो मे

"बीसवीं सदी के शुरू मे करीब दस करोड मनुष्य ब्रिटिश भारत मे ऐसे है, जिन्हे किसी समय भी पेट भर अन्न नही मिल पाता .... इस अधःपतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी सभ्य और उन्नतिशील देश मे कही पर भी दिखाई नही दे सकती।"[2] वह सोने का देश भारत आज इस हालत मे पहुँच चुका है कि जिस ओर दृष्टि डालिए

१. भारत मे अंग्रेजी राज (द्वितीय खण्ड) सुन्दर लाल,
२. वही वही

उधर ही हाय-हाय, तडप-चीख और भूख की हृदय-विदारक चित्कार सुनाई देती है। विषमता की दुर्लंघ्य खाई के बीच कीडे के समान मानव कुलबुला रहा है। एक तरफ काम करने वाले श्रमिक कोल्हू के बैल-से पिसते-पिसते कृश एवं क्षीण होते जा रहे है, दूसरी तरफ ऊंची हवेलियो में रहने वाले ऐशो-आराम की जिन्दगी गुजार रहे है। एक तरुणी के लज्जा-वसन बेच ब्याज चुकाता है, दूसरा तेल-फुलेलो पर पानी-सा धन बहाकर दंभी जीवन बिताता है। परन्तु, फिर भी यह वर्ग भी सुखी नही। शोषण की नीव पर खडी इमारत में दुःख के, पीडा के, तृष्णा के कीडे कुलबुलाते रहते है। कुछ और, कुछ और की चाह उन्हे न दिन मे हँसने देती है, न रात मे सोने देती है। आज का भारत तो अस्थिपंजर का वह कंकाल बना है कि जिसे देखकर करुणा को भी करुणा आती है। वह स्वर्ग का योग-क्षेमकर्त्ता आज असहाय भिक्षुक बन पथ पर ठोकरे खाता है

"वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।
साथ, दो बच्चे भी हैं,
सदा हाथ फैलाये,
बाएं से वे मलते हुए पेट को चलते
और दाहिना दया दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए,
भूख से सूख ओठ जब जाते,
दाता भाग्य-विधाता से क्या पाते?
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे, कुत्ते भी है अड़े हुए।"

यह है आज के हमारे भारत की सच्ची तसवीर ! वही यह देश है जो कभी संसार को अन्न का अक्षय दान देता था । संसार को रोटी और कपड़े का दान देता था । जिसकी धर्म की पावन टेर आज भी सागर की लहरियों में सिसक रही है सर तोड़ती, उठती-गिरती ! जिसके स्मृतिचिन्ह आज भी जावा, सुमात्रा, लंका, चीन आदि देशों मे देखने को मिल जाते हैं । जिसकी दी हुई संस्कृति की पावन भेंट संसार को मनुष्यता की सीख देती रही है, क्या इसमें आज भी वह क्षमता है ? किन्तु कहां ? आज तो, कल का दाता, आज का भिक्षुक बना हुआ है । कल की सहायता देने वाला आज सहायता को हाथ पसारे अन्य देशों की ओर अपलक निहार रहा है । 'एगे आया' का व्याख्याता, जिसने **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का पावन संदेश इस भूतल पर दिया था, स्वयं नोन, तेल, लकड़ी के चक्कर मे तबाह हो चला है ।

आज हमारे सामने इतिहास का एक जलता प्रश्न खड़ा है कि हम कैसे रहें ? कैसा जीवन अपनाएँ ?

हमारा युगधर्म

मैं उस परम्परा को महत्व देता हूँ, जिसमे मैंने यह साधुवृत्ति ली है । मैने इस धर्म की विचारधारा का गहरा अध्ययन किया है । उसमे मुझे बड़ा रस आया है, बड़ा आनन्द मिला है । किन्तु सवाल यह है कि क्या हम उस विचारधारा को सिर्फ पढ़कर, समझकर आनंद लेते रहे, मात्र आदर्श का कल्पनामय सुख ही प्राप्त करते रहें, या यथार्थ को भी पहचानें, युगधर्म की आवाज भी सुनें ? भारतवर्ष का कुछ काल से यह दुर्भाग्य रहा है कि वह अपने जीवन के आदर्शों को, अपने जीवन की ऊँचाइयों को, जिन्हे कि कभी पूर्व पुरुषों ने प्राप्त किया था, उसे लेकर वह लम्बी-लम्बी उड़ानें भरता रहा है । और, उस लम्बी उड़ान मे इतना उड़ता रहा है कि यथार्थ उससे कोसों दूर छूट गया है । वह जीवन की समस्याओं को भुलाकर, उसके विचार करना तक छोड़कर मरणोत्तर स्वर्ग और मोक्ष की बातें कर करके अहं की तुष्टि करता रहा है । स्वर्ग और मोक्ष की इस मोहक कल्पना मे वह कड़ी-से कड़ी साधनाएँ तो करता रहा है परंतु यथार्थ के ऊपर कभी धोखे से भी विचारणा नहीं किया है । धर्म को यदि हम देखें, तो इसके स्थूलरूप से दो भेद होते हैं (१) शरीर धर्म और (२) आत्म-धर्म आत्मा का

धर्म। इन दोनों का समन्वित रूप ही युगधर्म है। सिर्फ आत्मा का धर्म अपनाना भी उतना ही एकांगी है जितना सिर्फ शरीर का धर्म धारण करना। दोनों में तट और तरी का संबंध है, गुंबद और नींव का सम्बन्ध है। जिस प्रकार बिना तरी के धारा के पार तट की कल्पना कल्पना भर है, उसी प्रकार आत्मा का धर्म, शरीर धर्म के बिना नींव के बिना भवन-निर्माण से कुछ ज्यादा नहीं जान पड़ता। एक विचारक ने सत्य ही कहा है

"Sound mind in a sound body"

— "नीरुज तन में शुचिमन सधान।
क्षीणता हीनतामय अज्ञान॥"

जीवन का आधार :

मैं समझता हूँ, कोई भी देश स्वप्नों की दुनियाँ में जीवित नहीं रह सकता। माना स्वप्न जीवन से अधिक दूर नहीं होता, जीवन में से ही जीवन का स्वप्न फूटता है, परन्तु कोई-कोई स्वप्न दिवास्वप्न भी होता है-ख्याली पोलाव, बेबुनियाद, हवाई किला-सा। पक्षी आकाश में उड़ता है, उसे भी आनन्द आता है, दर्शक को भी, किंतु क्या उसका सदा आकाश में उड़ते रहना संभव है? मैं समझता हूँ कभी नहीं। आखिर दाना चुगने के लिए तो उसे पृथ्वी पर उतरना ही पड़ेगा। कोई भी संस्कृति और धर्म जीवन की वास्तविकता से दूर कल्पना की दुनियाँ में आवद्ध नहीं रह सकता। यदि रहे तो उसी में घुटकर मर जाये, जीवित न रहे। उसे कल्पना की संकीर्ण परिधि के पार निकलना ही होगा, जहाँ जीवन यथार्थ आधार की ठोस भूमि पर नानाविध समस्याएँ लिए खड़ा है। उसे इसे सुलझाना ही होगा। ऐसा किए बिना हम न तो अपना भला कर सकते हैं, न देश का ही। विश्व कल्याण का स्वप्न तो स्वप्न ही बना रहेगा। मैं कोरे आदर्शवादियों से मिला हूँ और उनसे गंभीरता से बातें भी की हैं। कहना चाहिए, हमारे विचारों को, हमारी वाणी को कहीं आदर भी मिला है, तो कहीं तिरस्कार भी मिला है। जीवन में कितनी बार कड़वे घूँट पीने पड़े हैं किन्तु इससे क्या? हमें तो उन सिद्धान्तों व विचारों के पीछे, जो जीवन की समस्याओं का निदान यथार्थवादी दृष्टिकोण से करने का मार्ग

दिखाते हैं, कडवे घूँट पीने के लिए तैयार रहना चाहिए। और, यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि सत्य के लिए लडने वालों को सर्वप्रथम सर्वत्र जहर के प्याले ही पीने को मिलते हैं, अमृत की रसधार नही। विश्व का कल्याण करने वाला जब तक हालाहल का पान न करेगा, वह कल्याण करेगा कैसे ? इसको पीये बिना कोई भी शिव नही बन सकता।

हाँ, तो इस रूप मे भारतवर्ष की बडी पेचीदा स्थिति है। जीवन जब पेचीदा हो जाता है तो वाणी भी पेचीदा हो जाती है और जीवन उलझा हुआ होता है तो वाणी भी उलझ जाती है। जीवन का सिद्धात साफ नही होगा तो वाणी भी साफ नही होगी। अतएव हमें उन समस्याओं को सुलझाना है और वाणी को साफ बनाना है और जब तक धर्मगुरु तथा राष्ट्र और समाज के नेता अपनी वाणी को उस उलझन मे से निकाल नही लेंगे और अपने मन को साफ नही बना लेंगे, तब तक ससार को देने के लिए उनके पास कुछ भी नही है।

लोग मरने के बाद स्वर्ग की बातें करते है, किन्तु इस जीवन में भी स्वर्ग की बात सोचनी चाहिए। जो वर्तमान जीवन मे होता है, वही भविष्य मे प्राप्त होता है। जो जीते जी यहाँ जीवन मे कुछ नही बना है, वह मरने के बाद भी देश को मृत्यु की ओर ही ले जायगा। वह देश को जीवन की ओर नही ले जाएगा।

हम देहात मे से गुजरते है तो देखते हैं कि बेचारे गरीब ऐसी रोटियाँ और ऐसा अन्न खाते है कि शायद आप उसे देखना भी पसद न करे और हाथ मे भी न लें। यही आज भारत की प्रधान समस्या है और इसी को आज सुलझाना है। आप जबतक अपने आपमे बद रहेगे, कैसे मालूम पडेगा कि ससार कहाँ रह रहा है ? किस स्थिति मे जीवन गुजार रहा है ? ससार को रोटियाँ मिल रही है कि नही ? तन ढँकने को कपडा मिल रहा है या नही ?

आज का भारतवर्ष इतना गरीब है कि बीमार अपने लिए दवा भी नही जुटा सकता और यदि आराम लेना चाहता है तो वह भी नही ले सकता ! जिसके पास एक दिन के लिए दवा खरीदने को भी पैसा नही है, वह आराम किस बूते पर कर सकेगा ? इन सब बातो पर आपको गभीरता से विचार करना है।

अन्न : पहली समस्या :

अन्न मनुष्य की सबसे पहली आवश्यकता है। मनुष्य इस शरीर को इस पिण्ड को, लेकर खड़ा है और सर्व प्रथम अन्न की और फिर कपड़े की ही इसको आवश्यकता है। इस शरीर को टिकाये रखने के लिए भोजन अनिवार्य है। भोजन की आवश्यकता पूरी हो जाती है तो धर्म की बड़ी से बड़ी ग्रन्थियाँ भी हल हो जाती है। हम पुराने इतिहास को देखेंगे और विश्वामित्र आदि की कहानी पढ़ेंगे, तो मालूम होगा कि बारह वर्ष के दुष्काल मे वह कहाँ से कहाँ पहुँचे और क्या-क्या करने को तैयार हो गए! वे अपने महान् सिद्धान्त से गिर कर कहाँ-कहाँ भटके? मैंने उस कहानी को पढ़ा है और उसे आपके सामने दुहराने लगूँ तो सुन कर आपकी आत्मा भी तिलमिलाने लगेगी। उस द्वादशवर्षीय अकाल मे बड़े-बड़े महात्मा केवल दो रोटियो के लिए इधर से उधर भटकने लगते हैं और धर्म-कर्म को भूलने लगते है। स्वर्ग और मोक्ष किनारे पड़ जाते हैं और पेट की समस्या के कारण, लोगो पर जैसी गुजरती है, उससे देश की संस्कृति नष्ट हो जाती है और केवल रोटी की फिलॉसफी ही सामने रह जाती है।

पृथ्वी के तीन रत्न :

तो अन्न की समस्या ऐसी समस्या है कि सारे धर्म-कर्म की विचार-धाराएँ और फिलॉसफियाँ ठिकाने लग जाती है। अन्न के बिना एक दो दिन बिताये जा सकते हैं, जोर लगा कर कुछ ज्यादा दिन भी निकाल देंगे, किन्तु आखिरकार भिक्षा के लिए पात्र उठाना ही पड़ेगा। एक आचार्य ने कहा है

"पृथिव्या त्रीणि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु, रत्नसंज्ञा विधीयते ॥"
"भूमण्डल मे तीन रत्न हैं पानी अन्न सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकड़ो मे करते, रत्न कल्पना पामर प्राणी ॥"

इस पृथ्वी पर तीन ही मुख्य रत्न हैं अन्न, जल और मीठी बोली। जो मनुष्य पत्थर के टुकड़ो मे रत्नो की कल्पना कर रहा है, आचार्य कहते है कि उससे बढ कर पामर प्राणी और कोई नही है। जो अन्न को रत्न के रूप मे स्वीकार नही करता और जल को तथा मधुर

बोली को रत्न के रूप मे स्वीकार नही करता है, समझ लीजिए कि वह जीवन को ही स्वीकार नही करता है। उससे ज्यादा दया का पात्र और कौन होगा ?

पुराने युग की बात है। एक आचार्य हो गए है, जिन्होने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के सम्बन्ध मे एक बात कही है। वह बात इस तरह है

राम चौदह वर्ष का वनवास भोगने के बाद अयोध्या मे आए। जनता उनके स्वागत के लिए गई। हजारो-लाखो प्रतिष्ठित लोग स्वागत-समारोह मे सम्मिलित हुए। नमस्कार करते समय मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ने सब लोगो मे सबसे पहले यही प्रश्न किया "घर मे अन्न का प्रबन्ध तो ठीक है न ? समय पर भोजन तो भली-भाँति मिल रहा है न ?"

राम ने यह प्रश्न किया तो लोग हँसने लगे। उन्होने सोचा महाराज वनवास से भूखे आये है, वन के कन्दमूल खाते-खाते लौटे हैं, वहाँ महाराज को ठीक तरह भोजन नही मिला, तो समझ रहे हैं कि यहाँ भी नही मिलता होगा। लोगो ने राम से कहा "महाराज, यहाँ अन्न का कोई घाटा नही है। आप देखेगे तो मालूम हो जायगा कि यहाँ भोजन की कोई कमी नही है।"

जनता की मन स्थिति को समझने मे रामचन्द्रजी को देरी नही लगी। उन्होने मन मे सोचा मैंने जीवन का वास्तविक सत्य कहा था, किन्तु यह लोग उसे हँसी मे उडा रहे हैं परतु उस समय वे मौन ही रहे।

जब राम अयोध्या मे पहुँच गये और राजतिलक हो चुका, तो उन्होने जनता से कहा "मैं बहुत वर्षों बाद आया हूँ, अत प्रजा को प्रीतिभोज देना चाहता हूँ। प्रीतिभोज का समय निश्चित हो गया और समय पर जनता की अपार भीड इकट्ठी हो गई। सब को यथास्थान बिठा दिया गया और सबके समक्ष पात्र रख दिये गये। किंतु जब परोसने का समय आया तो राम ने कहा "मैं अपनी प्रजा को स्वय परोसूँगा, अपने हाथ से भोजन अर्पण करूँगा।"

सोने के थालो मे हीरे-मोती-पन्ने भर-भर कर आने लगे। लोगो ने देखा कि सब से पहले मणि और रत्न मिले है तो वे आनन्द मे

विभोर हो गए ! परोस चुकने के पश्चात् राम ने कहा "अब भोजन आरम्भ किया जाये !"

भोजन करने की बात आई तो लोग असमजस मे पड गए । सोचने लगे "कैसे करे भोजन ? क्या खाएँ ?"

राम ने फिर कहा "प्रारम्भ कीजिए न भोजन !" तो सब बोले "महाराज, भोजन प्रारम्भ तो करें, किन्तु भोजन है कहाँ ? जो सामने है, वह तो जेब का भोजन है, पेट का नहीं । इस भोजन के लिए ता जेब छटपटा रही है । आज्ञा हो तो इसे जेब के हवाले करें । यह खाने की चीज नही है । इन्हे खाएँ तो कैसे खाएँ !"

राम ने मुस्कराकर कहा 'यह जेब के लिए नही है । यहाँ तो भोजन की बात है ।'

लोग चकित होकर कहने लगे "महाराज, पर इन्हें खाएँ कैसे ?"

राम बोले "मैं वन मे गया, तो आप लोगो को अन्न खाते छोड गया था और यही समझता था कि आप अब भी अन्न खाते होगे । किंतु जब चौदह वर्ष के बाद लौटा, तो आपकी उस दिन की हँसी देख कर सोचा - 'अयोध्या के लोग अब अन्न नही खाते, अब तो हीरे और मणि-मुक्ता ही खाते होगे । जब मैने अन्न की बात पूछी थी, तो आप लोग हँसने लगे थे । इससे मुझे अनुमान हुआ कि आपको अब अन्न की आवश्यकता नही रही ।"

राम का उत्तर सुनकर लोग अवाक् हो गये । तब राम ने कहा "यह हीरे और मणि-मुक्ता जीवन के अलकार हैं, वास्तविक सत्य तो अन्न ही है !"

कोई कितने ही ऊँचे महल मे रहता हो, वह भी हीरे और मणि-मुक्ता नही खाता है । महलो मे और झोपडियो मे खाने के लिए अन्न ही आवश्यक है । जो ससार की बहुत बडी ऊँचाइयो पर पहुँच गये है, उन्हे भी अन्न चाहिए और जो साधारण स्थिति मे पडे हैं, उन्हे भी अन्न चाहिए । जो धर्मात्मा हैं, उन्हे भी अन्न अनिवार्य है । अन्न की समस्या जीवन के लिए उपेक्षणीय समस्या नही है । अन्य साधनो का अभाव सहन किया जा सकता है, किंतु अन्न का अभाव असह्य है । जबतक जीवन है, अन्न से छुटकारा नही पाया जा सकता ।

अन्न हमारे जीवन की सबसे पहली समस्या है। यदि इस समस्या को हल नही किया गया तो इस देश मे एक बडी जबर्दस्त क्रान्ति आने वाली है। याद रखना चाहिए कि ससार मे आज तक जितने भी इन्कलाब आये हैं, रोटी के पीछे ही आये हैं।

आज भारतवर्ष के एक किनारे पाकिस्तान गुर्रा रहा है और दूसरी ओर चीन मुँह फाडे खडा है। भारतवर्ष आज यदि रोटी की समस्या को हल नही कर लेता है, तो समझ लीजिए कि क्रान्ति का प्रवाह चला ही आ रहा है। वह रुक नही सकता। फिर कौन-सा धर्म है, जो उस प्रवाह के सामने खडा हो सकेगा? कौन सी सस्कृति है, जो सीना तान कर भूखे देश को क्रान्ति के प्रवाह से बचाने के लिए खडी हो सकती है? इन्कलाब बाहर से नही आएगा, बल्कि यहाँ अपने देश के भीतर ही अन्न के एक-एक दाने के लिए क्रान्ति का भूचाल खडा हो जायगा। अगर समय रहते न समझे और पुरानी सस्कृति और राष्ट्रीय नारो की आड मे जिन्दा रहना चाहा, तो याद रखिए कि यह स्वप्नो की दुनियाँ अकाल ही काल कवलित हो जाए।

फ्रास का सम्राट् ऊपर महल मे बैठा था और उसके नीचे से हजारो की सख्या मे रोटी के लिए पुकार करती जा रही थी। हजारो जनता की आवाज सुन कर सम्राट् ने अपने मत्री से पूछा 'क्या बगावत हो रही है?" तब मत्री ने कहा यह बगावत नही, इन्कलाब है। रोटी की आवश्यकता ने इस इन्कलाब को पैदा किया है। जनता बदल गई है। यदि हम जनता का रोटी का प्रश्न हल नही कर सकते हैं, जनता के लिए दो समय का खाना मुहय्या नही कर सकते हैं, तो यही सब हो सकता है!

जिस देश मे हजारो और लाखो लोग भूखे उठते है और भूखे ही सोते हैं, जिस देश मे सर्दी और लज्जा तक से बचने के लिए कपडा नही है और इस प्रकार जो देश अपनी अन्न और वस्त्र की समस्या को हल करने मे असमर्थ है; वह शान्ति से रहना चाहे तो कैसे रह सकता है?

नीचे आग जल रही है और दूध उबल रहा है। आप पानी के छींटे दे-दे कर उसे शान्त करते रहते है। लेकिन वह फिर उबलने लगता है। आप दूध से कहे कि तू क्यो उबलता है? तो दूध यही

कहेगा "नीचे आग जल रही है और तुम चाहते हो कि मैं शान्त पड़ा रहूँ ? ऐसे कैसे शान्त रह सकता हूँ ?"

तो स्थिति यह है कि जनता के पेट मे भूख की ज्वालाएँ धधक रही है और आप उन्हे ठडा करने के लिए राष्ट्रीयता के, धर्म के तथा महावीर, वुद्ध, कृष्ण या राम के नामो के छीटे देते रहे तो, मैं समझता हूँ, आप जनता के मन को ठडा नही कर सकते। हाँ, कुछ देर के लिए आप उसे भुला सकते है, पर जवतक वह ज्वालाएँ शान्त न होगी आग नही वुझेगी तव तक जनता शान्त नही हो सकती।

जव से हम अपनी मर्यादा को भूल गये, तव से वडी विकट परिस्थिति हमारे सामने आ गई है। आकाश से रोटियाँ वरसती होती और कोई खुदा, भगवान् या देवता उन्हे वरसा देता, तव तो जीवन की समस्या ही कुछ और होती, किन्तु ऐसा तो है नही। रोटियाँ आप को ही पैदा करनी है और इसी भूमि से पैदा करनी है।

इन्सान जव तक दुनियाँ मे है, उसके सामने आकाश है और भूमि है। आकाश से कुछ होने वाला नही है। वह शून्य है। जो कुछ है, वह भूमि ही है और उसी से समस्या का समाधान होने वाला है।

हमारा विचार-स्तर एवं जीवन :

दुर्भाग्य से सव धर्मों मे जहर के कीटाणु लग गए है और उन्होने इतना प्रवल रूप धारण कर लिया है कि जो लोग दूसरो को भी रोटी मुहय्या करते हैं, जो सर्दी और गर्मी सहन करके अपने जीवन को घुला देते है, जो सव से ज्यादा श्रम करके उत्पादन करते है, उनकी प्रतिष्ठा को खत्म कर दिया है। जब उनकी प्रतिष्ठा खत्म हो गई तो उन्होने भी समझ लिया कि हम हीन है, नीच है, वुरे है और पापी है, हमने पाप का काम ले लिया है। दूसरा वर्ग, जो विचारको का था, वह धर्म और सस्कृति के नाम पर आगे वढ गया तो, कोई पैसे के वल पर आगे वढ गया। उसने अच्छे-अच्छे दृष्टिकोण वना लिए और उसने समाज मे अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। उसने समझ लिया कि उत्पादक वर्ग नीचा है और वह पाप कर रहा है। इस रूप मे मजदूर और किसान गुनहगार है और महापापी हैं। और हम श्रेष्ठ है, पाप नही कर रहे हैं।

आज इसका यह परिणाम है कि किसान और श्रमिक लोग आज अपनी ही निगाहो मे गिर गये है। उन्हे न अपने प्रति श्रद्धा है और न अपने धधे के प्रति। उन्होने प्रतिष्ठा के भाव खो दिये है। और उनका वह महत्त्वपूर्ण पद, जो जनता की आँखो मे ऊँचा होना चाहिए था, नीचा हो गया है और अपने कर्त्तव्य के विषय मे किसी को कुछ रस नही रह गया है।

इस प्रकार की धारणाएँ जबतक बनी हैं, उत्पादन की समस्या हल होने वाली नही है। जिन वर्गों को आज आप नीचा समझ रहे है, उन्हे नीचा समझना छोड दीजिए और उनके मन मे उत्साह पैदा कीजिए कि वे बडा भारी यज्ञ कर रहे है जो जनता के लिए रोटियाँ पैदा कर रहे है। महलो मे विलास करने वाले अब 'अन्नदाता' नही रहे। उनका आसन खाली हो गया है। उनकी जगह 'अन्नदाता' के रूप मे कृषको की प्रतिष्ठा कीजिए, जो सही अर्थ मे अन्नदाता है। जो अन्न के रूप मे आपको जीवन दे रहे है, उन्हे महापापी और नीच समझना छोड कर जीवनदाता समझिए। अगर आपके मन मे, उनके लिए प्रतिष्ठा और इज्जत की भावना उत्पन्न नही होती है तो कोई काम बनने वाला नही है और आज 'अधिक अन्न उपजाओ' के राष्ट्रीय नारे व्यर्थ ही साबित होगे।

तो इस रूप मे भारत को अपनी पुरानी भूलो को दूर करना है कि जिसने खाने वालो को धर्मात्मा और पैदा करने वालो को पापी समझ लिया है। जबतक इस प्रकार की मनगढन्त परिभाषाओ मे परिवर्तन नही कर लिया जाता और ठीक-ठीक रूप मे पापी और धर्मात्मा की समस्या को हल नही कर लिया जाता, तबतक यही हालत रहेगी। उसे रोटियो की भीख मांगनी पडेगी। वह अपनी जीवन की गुत्थियाँ सुलझा नही सकेगा।

विचारणीय समस्या :

आज आपके लिए दूसरे देशो से रोटियाँ आ रही है। यदि दुर्भाग्य से स्थिति बदल जाय, युद्ध के मँडराते हुए बादल कदाचित् बरस पडे और रोटियाँ बाहर से न आ सके, तो आपकी क्या दशा होगी ?

जो देश अपनी रोटी स्वय नही पैदा कर सकता और दूसरे देशो

से, हजारो मीलो दूर से रोटी मॉगने के लिये हाथ फैलाता है, वह देश कवतक जिदा रहेगा ? जो भी देश या समाज भीख पर जीवित रहना चाहता है, वह इतनी भयानक भूल करता है कि एक दिन उसका दड उसको और उसकी हजारो पीढियो को भोगना पडता है।

व्यापार के तीन साधन :

आप देखेगे तो पता चलेगा कि संसार का व्यापार तीन भागो मे वँटा हुआ है—(१) उत्पादन (२) रूपान्तर और (३) स्थानान्तर। उत्पादन जमीन से होता है। कृषि के रूप मे अन्न और कपडा भी जमीन से आ रहे हैं। महल भी जमीन से आ रहे हैं। और जो कुछ जमीन से आया, उसीसे यह सृष्टि, इस रूप मे वनी दिखाई देती है।

और ये हजारों-लाखों जो कारखाने हैं, वे क्या कर रहे है ? वे रूपान्तर कर रहे हैं। कारखाने मे कपास आया और उसने रूपान्तर कर दिया। इस प्रकार कल-कारखाने उत्पादन कुछ भी नही करते, सिर्फ रूपान्तर भर किया करते है। रूपान्तर का अर्थ है किसी वस्तु को एक हालत से दूसरी हालत मे ला देना। किंतु जव मूल मे वस्तु होगी तभी तो रूपान्तर होगा ! वस्तु के अभाव मे रूपान्तर किसका होगा ?

व्यापारी वर्ग अकड कर खडा है और कहता है—मैं देश को वहुत कुछ दे रहा हूँ और वदले मे यह थोडा सा ले रहा हूँ। किंतु वह न उत्पादन कर रहा है और न रूपान्तर ही कर रहा है। वह केवल स्थानान्तर करता है। एक जगह की चीज को दूसरी जगह पहुँचा रहा है। यह स्थानान्तरीकरण भी उत्पादन पर ही निर्भर है। उत्पादन न होगा तो किसे एक जगह से दूसरी जगह ले जायगा ?

तो इस प्रकार सारे के सारे कल-कारखाने और समस्त व्यापार उत्पादन के ही सहारे चल रहे हैं, किन्तु आप देखते हैं कि जो वर्ग उत्पादन कर रहा है, वही सव से ज्यादा गरीव है और रूपान्तर करने वाले चैन की गुड्डी उडा रहे है। जिसने देश की गरीवी को दूर करने के लिए अथक परिश्रम किया है, उसी की गरीवी का ठिकाना नही है ! यही नही, धर्म और सस्कृति के नाम पर उस वर्ग को धक्का दिया जा रहा है और उन्हे नफरत की निगाहो से देखा जा रहा है। ऐसी स्थिति मे देश की स्थिति कैसे सुधर सकती है ? उत्पादन के प्रति किस

प्रकार उत्साह वढाया जा सकता है ? अगर आप चाहते है कि देश अन्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर वने और उसे किसी के आगे हाथ न पसारना पडे तो आपको उत्पादन-कर्त्ताओ की प्रतिष्ठा वढानी होगी कि वे वहुत ऊँचा कर्म कर रहे है। जव किसान अपनी प्रतिष्ठा को अनुभव करेगा और अपने कर्म मे गौरव का आभास पायेगा तभी देश की समस्या हल हो सकेगी।

भूख : हमारी ज्वलंत समस्या :

आज इस देश की दशा कितनी दयनीय हो चुकी है ! अखवारो मे आये दिन देखते है कि अमुक युवक ने आत्महत्या कर ली है और अमुक रेलगाडी के नीचे कट कर मर गया। किसी ने तालाव मे डूव कर अपने प्राण त्याग दिये हैं और पत्र लिख कर छोड गया है कि मैं रोटी नही पा सका, भूखो मरता रहा, अपने कुटुम्व को भूखो मरते नही देख सका, इस कारण आत्महत्या कर रहा हूँ। जिस देश के नौजवान और जिस देश की इठलाती हुई जवानियाँ रोटी के अभाव मे ठडी हो जाती है, जहाँ के लोग मर कर ही अपने जीवन की समस्या को हल करने की कोशिश करते हैं, उस देश को क्या कहे ? स्वर्गभूमि कहे या नरक भूमि ? मैं समझता हूँ, किसी भी देश के लिए इससे वढकर कलक की वात दूसरी नही हो सकती। जिस देश का एक भी आदमी भूख के कारण मरता हो और गरीवी से तग आकर मरने की वात सोचता हो, उस देश के रहने वाले लाखो-करोडो लोगो के ऊपर यह वहुत वडा पाप है।

एक मनुष्य क्यो भूखा मरा ? इस प्रश्न पर यदि गभीरता के साथ विचार नही किया जायगा और एक व्यक्ति की भूख के कारण की हुई आत्महत्या को राष्ट्र की आत्महत्या न समझा जायगा, तो समस्या हल नही होगी। जो लोग यहाँ वैठे हैं और मजे मे जीवन गुजार रहे है और जिनकी निगाह अपनी हवेलियो की चहारदिवारी से वाहर नही जा रही है और जिन्हे देश की हालत पर सोच-विचार करने की फुरसत नही है, वे इस जटिल समस्या को नही सुलझा सकते।

आज भुखमरी की समस्या देश के लिए सिर-दर्द हो रही है। इस समस्या की भीषणता जिन्हे देखनी है, उन्हे वहाँ पहुँचना होगा। उस गरीवी मे रह कर दो चार मास व्यतीत करने होगे ! देखना होगा

कि किस प्रकार वहाँ की माताएँ और बहिनें रोटियों के लिए अपनी इज्जत बेच रही है और अपने दुधमुँहे लालों को, जिन्हे वह रत्नों की ढेर पाने पर भी देने को तैयार नही हो सकती थी, दो-चार रुपयों में बेच रही हैं!

इस पेचीदा स्थिति में आपका क्या कर्त्तव्य है ? इस समस्या को सुलझाने मे आप क्या योग दे सकते है ? याद रखिए कि राष्ट्र नामक कोई अलग पिण्ड नही है। एक-एक व्यक्ति मिल कर ही समूह और राष्ट्र बनता है। अतएव जब राष्ट्र के कर्त्तव्य का प्रश्न आता है, तो उसका अर्थ, वास्तव मे सम्मिलित व्यक्तियो का कर्त्तव्य ही होता है। राष्ट्र को यदि अपनी कोई समस्या हल करनी है, तो राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को वह समस्या हल करनी है। हाँ तो, विचार कीजिए, आप अन्न की समस्या को हल करने मे अपनी ओर से क्या योगदान कर सकते है ?

समस्या का ठोस निदान

अभी-अभी जो बातें आपको बतलाई गई हैं, वे अन्न-समस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिए हैं। परन्तु इस समय देश की हालत इतनी खतरनाक है कि स्थायी उपायो के साथ-साथ हमे कुछ तात्कालिक उपाय भी काम मे लाने पड़ेंगे। मकान में आग लगने पर कुआँ खुदने की प्रतीक्षा नही की जाती। उस समय तात्कालिक उपाय बरतने पड़ते है। तो अन्न-समस्या को सुलझाने या उसकी भयकरता को कुछ हल्का बनाने के लिए आपको तत्काल क्या करना है ?

जो लोग शहर मे रह रहे है, वे सबसे पहले तो दावतें देना छोड दें। विवाह-शादी आदि के अवसरो पर जो दावतें दी जाती हैं, उनमे अन्न बर्बाद होता है। दावत, अपने साथियो के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने का एक तरीका है। जहाँ तक प्रेम-प्रदर्शन की भावना का प्रश्न है, मैं उस भावना का सम्मान करता हूँ, किन्तु इस भावना को व्यक्त करने के तरीके देश और काल की स्थिति के अनुरूप होने चाहिएँ। भारत में दावतें किस परिस्थिति में आईं ? एक समय था जबकि यहाँ अन्न के भण्डार भरे थे। खुद खाएँ और संसार को खिलाएँ, तो भी अन्न समाप्त होने वाला नही था। पाँच-पचास की दावत कर देना तो कोई

बात ही नही थी ! किन्तु आज वह हालत नही रही है । देश दाने-दाने के लिए मुँहताज है । ऐसी स्थिति मे दावत देना देश के प्रति द्रोह है और राष्ट्रीय पाप है । एक ओर लोग भूख से तडप-तडप कर मर रहे हो और दूसरी ओर पूडियाँ, कचौरियाँ और मिठाइयाँ जबर्दस्ती गले मे ठूँसी जा रही हो ! इसे आप क्या कहते हैं ? इसमे करुणा है ? दया है ? सहानुभूति है ? अजी मनुष्यता भी है या नही ? यह विचार करो ।

मैने सुना है, मारवाड मे मनुहार बहुत होती है । थाली मे पर्याप्त भोजन रख दिया हो और बाद मे यदि पूछा नही गया तो जीमने वाले की त्योरियाँ चढ जाती हैं । मनुहार का मतलब ही यह है कि दबादब-दबादब थाली मे डाले जाना और इतना डाले जाना कि वह खाया न जा सके और खाद्य-पदार्थ का अधिकाश बर्बाद हो जाय !

मेरठ और सहारनपुर जिले से सूचना मिली है कि वहाँ के वैश्यो ने, जिनका ध्यान इस समस्या की ओर गया, बहुत बडी पचायत जोडी और यह निश्चय किया कि विवाह मे इक्कीस आदमियो से ज्यादा की व्यवस्था नही की जायगी । उन्होने स्वय प्रण किया है और गाँव-गाँव और कस्बो-कस्बो मे यही आवाज पहुँचा रहे है और इसके पालन कराने का प्रयत्न कर रहे है । क्या ऐसा करने से उनकी इज्जत बर्बाद हो जायेगी ? नही, उनकी इज्जत मे चार चाँद लग जाएँगे । आपकी तरह वे भी खिला सकते है और चोर-बाजार से खरीद कर हजारो आदमियो को खिलाने की क्षमता रखते है । किन्तु उन्होने सोचा, इस तरह हम मानव जीवन के साथ खिलवाड कर रहे है और भूखो के पेट के साथ खिलवाड कर रहे है । यह खिलवाड अमानुषिक है और हमे इसे बद कर देना चाहिए ।

तो सबसे पहली बात यह है कि बडी-बडी दावतो का सिलसिला बद हो जाना चाहिए । विवाह-शादी के नाम पर या धर्म-कर्म के नाम पर जो दावते चल रही है, कोई भी भला आदमी उन्हें आदर की दृष्टि से नही देख सकता । अगर आप सच्चा आदर पाना चाहते है तो आपको सकल्प कर लेना है कि आज से हम अपने देश के हित मे दावते बद करते हैं । जब देश मे अन्न की बहुतायत होगी तो खाएँगे और खिलाएँगे, किन्तु मौजूदा हालत मे अन्न के एक कण को भी बर्बाद नही करेंगे ।

दूसरी बात है जूठन छोडने की । भारतवासी खाने बैठते है तो खाने

की मर्यादा का खयाल नही करते। पहले अधिक से अधिक ले लेते है और फिर जूठन छोड देते हैं, किन्तु भारत का कभी आदर्श था कि जूठन छोडना पाप है। जो कुछ लेना है, मर्यादा से लो, आवश्यकता से अधिक मत लो। और जो कुछ लिया है उसे जूठा न छोडो। जो लोग जूठन छोडते है, वे अन्न का अपमान करते हैं। उपनिषद् का आदेश है **'अन्नं न निन्द्यात्।'**

जो अन्न को ठुकराता है और अन्न का अपमान करता है, उसका भी अपमान अवश्यम्भावी है।

एक वैदिक ऋषि तो यहाँ तक कहते है **'अन्नं वै प्राणाः।'**

अन्न तो मेरे प्राण है। अन्न का तिरस्कार करना, प्राणो का तिरस्कार करना है।

इस प्रकार जूठन छोडना भारतवर्ष मे हमेशा से अपराध समझा जाता रहा है। हमारे प्राचीन महर्षियो ने उसे पाप माना है।

जूठन छोडना एक मामूली बात समझी जाती है। लोग सोचते है कि आधी छटाँक जूठन छोड दी तो क्या हो गया? इतने अन्न से क्या बनने-बिगडने वाला है? परन्तु इस आधी छटाँक का हिसाब लगाने बैठें तो आँखें खुल जाएँगी। इस रूप मे एक परिवार का हिसाब लगाएँ तो साल भर में इक्यानवे पौंड अनाज देश की नालियो मे बह जाता है। अगर ऐसे पाँच हजार परिवारो मे जूठन के रूप मे छोडे जाने वाले अन्न को बचा लिया जाय तो बारह सौ आदमियो को राशन मिल सकता है।

यह विषय इतना सीधा-सादा है कि उसे समझने के लिए वेद और पुरान के पन्ने पलटने की आवश्यकता नही है। आज के युग का तकाजा है कि थाली मे कुछ न छोडा जाय। जरूरत से ज्यादा लिया ही न जाय और न जबरदस्ती परोसा जाय। यही नही जो जरूरत से ज्यादा देने-लेने वाले है, उनका विरोध किया जाय और उन्हे सभ्य-समाज मे न गिना जाए।

ऐसा करने मे न तो किसी को कुछ त्याग ही करना पड़ता है और न किसी को कोई कठिनाई ही उठानी पडती है। यही नही, बल्कि सब दृष्टियो मे स्वास्थ्य की दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से और सास्कृतिक

दृष्टि से लाभ ही लाभ है। ऐसी स्थिति मे आप क्यो न यह संकल्प कर ले कि हमे जूठन नही छोडनी है और जितना खाना है, उससे ज्यादा नही लेना है। अगर आपने ऐसा किया तो अनायास ही करोडो मन अन्न बच सकता है। उस हालत मे आपका ध्यान अन्न के महत्त्व की ओर आकर्षित होगा और अन्न की समस्या को सुलझाने की सूझ भी उत्पन्न होगी।

आज राशन पर तो नियंत्रण होता है किन्तु खाने पर नियन्त्रण नही होता। जब आप खाने बैठते हैं तो सरकार आपका हाथ नही पकडती। यह नही कहती कि इतना खाओ और इससे ज्यादा न खाओ। मैं नही चाहता कि ऐसा नियन्त्रण आपके ऊपर किया जाए। परन्तु मालूम होना चाहिए कि आप थाली मे डालकर ही अन्न को बर्बाद नही करते बल्कि पेट मे डालकर भी बर्बाद करते हैं। इसके लिए आचार्य विनोबा ने ठीक ही कहा है कि—'जो लोग भूख से पेट से ज्यादा खाते है, वे चोरी करते हैं।' चोरी, अपनेसे है, अपने समाज से है, अपने देश से है। अपने शरीर को ठीक रूप मे बनाये रखने के लिए जितने परिमाण में भोजन की आवश्यकता है, लोग उससे बहुत अधिक खा जाते है। उस सबका ठीक तरह रस नही बन पाता और इस प्रकार वह भोजन व्यर्थ जाता है। ठीक तरह चबाया जाए और इतना चबाया जाए कि भोजन लार मे मिलकर एकरस हो जाय, तो मौजूदा भोजन से आधा भोजन भी पर्याप्त हो सकता है, ऐसा कई प्रयोग करने वालो का कहना है। अगर इस विधि से भोजन करना आरम्भ कर दे तो आपका स्वास्थ्य अच्छा बन सकता है और अन्न की भी बहुत बड़ी बचत हो सकती है।

अन्न की समस्या के सिलसिले में उपवास का महत्वपूर्ण प्रश्न भी हमारे सामने है। भारत मे सदैव उपवास का महत्त्व स्वीकार किया गया है। खास तौर से जैन-परम्परा में तो उसकी बडी महिमा है और आज भी बहुत-से भाई-बहिन उपवास किया करते है। प्राचीन काल के जैन महर्षि लम्बे-लम्बे उपवास किया करते थे। आज भी महीने में कुछ दिन ऐसे आते है, जो उपवास मे ही व्यतीत किये जाते है।

वैदिक परम्परा मे भी उपवास का महत्त्व कम नही है। मैंने पढा है कि वर्ष के तीन सौ साठ दिनो मे ज्यादा दिन उपवास के ही पडते है।

इस प्रकार जब देश मे अन्न की प्रचुरता थी और उपभोक्ताओं के पास आवश्यकता से अधिक परिमाण मे अन्न मौजूद था, तब भी भारतवर्ष मे उपवास किये जाते थे, तो आज की स्थिति मे यदि उपवास आवश्यक हो, तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है ? किन्तु आप है जो रोज-रोज पेट को अन्न से लादे जा रहे हैं ! जड मशीन को भी एक दिन आराम दिया जाता है, परन्तु आप अपनी हाजिरी को एक दिन भी आराम नही देते और निरन्तर काम के बोझ से दबे रहने के कारण वह निर्बल एव रुग्ण हो जाती है। आपकी पाचन शक्ति कम पड जाती है, तब आप डाक्टरो की शरण लेते है और पाचन शक्ति बढाने की दवाइयाँ तलाश करते फिरते है ! मतलब यह है कि आवश्यकता से अधिक खा रहे है और उससे भी अधिक खाने की इच्छा रख रहे हैं। एक तरफ तो करोडो को जीवन-निर्वाह के लिए भी खाना नही मिल रहा है, देश के हजारो-लाखो आदमी भूख से तडप-तडप कर मर रहे है और दूसरी तरफ लोग अनाप-शनाप खाये जा रहे हैं और भूख को और अधिक उत्तेजना देने के लिए दवाइयाँ तलाश कर रहे हैं !

तो, इस अवस्था मे उपवास करना धर्मलाभ है और लोकलाभ भी है। देश की भी सेवा और स्वर्ग का भी रास्ता है। जीवन और देश की राह मे जो खदक पड गई है, उसे पाटने के लिए उपवास एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उपवास करने से हानि तो कुछ भी नही, लाभ ही लाभ है। शरीर को लाभ, आत्मा को लाभ और देश को लाभ, इस प्रकार इस लोक के साथ-ही साथ परलोक का भी लाभ है।

हाँ, एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए। जो लोग उपवास करते है वे अपने राशन का परित्याग कर दें। यह नही कि इधर उपवास किया और उधर राशन भी जारी रक्खा। एक सज्जन ने अठाई की और आठ दिन तक कुछ भी नही खाया। वह मुझसे मिले तो मैंने कहा 'तुमने यह बहुत बडा काम किया है, किन्तु यह बताओ कि आठ दिन का राशन कहाँ है ? उसका भी कुछ हिसाब-किताब है ?' उसका हिसाब-किताब यही था कि वह ज्यो का त्यो आ रहा था और घर मे जमा हो रहा था। यह पद्धति ठीक नही है। उपवास करने वालो को अपने आपमे प्रामाणिक और ईमानदार बनना चाहिए। अत जब वे

उपवास करे तो उन्हे कहना चाहिए कि आज हमको अन्न नही लाना है। मैंने उपवास किया है तो मैं आज अन्न कैसे ला सकता हूँ ?

वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो जो अन्न नही खा रहा है, उसका अन्न लेना चोरी है। इस कथन मे कटुता हो सकती है, परन्तु सचाई है। अतएव उपवास करने वालों को इस चोरी से बचना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि प्रामाणिकता के साथ अगर उपवास किया जाए तो देश का काफी अन्न बच सकता है और भारत को खाद्य समस्या के हल करने में बडा भारी सहयोग मिल सकता है। सप्ताह मे या पक्ष मे एक दिन भोजन न करने से कोई मर नही सकता, उलटा मरने वाले का जीवन बच सकता है। इससे आत्मा को भी बल मिलता है, मन को भी बल मिलता है और आध्यात्मिक चेतना भी जागृत होती है। इस प्रकार आपके एक दिन का भोजन छोड़ देने से लाखो लोगों को खाना मिल सकता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और विचार करने जैसी है। जब हमारे देश में अन्न का भण्डार भरपूर था और दुनियाँ भर की भोजन सामग्री बिखरी पडी थी, लोग स्वयं खाते और दूसरो को भी खिलाते थे, फिर भी अन्न बचा रहता था। तब, मनुष्य उस अन्न को लेकर पशु-पक्षियो के पास पहुँचा और उन्हे देने के लिए उसके हाथ उठे। उस समय हमारे देश मे जो परम्पराएँ आई, हम उनका आदर करते हैं। मनुष्य ने भर पेट खाया और दूसरों को दिया। जब दूसरो ने कह दिया कि हमारे पास पहले ही आवश्यकता से अधिक मौजूद है, हम और लेकर क्या करेंगे ? तो मनुष्य ने उसे सडने के लिए पडा रहने नही दिया। उसने पशुओ और पक्षियो को बाँटना शुरू किया। भारतवर्ष का यह महान् गौरव है कि वह एक दिन पशुओ और पक्षिओ को भी बाँटने को जुट गया और बोला 'मेरे पास है, आओ तुम भी लो।" इस प्रकार जो प्रकृतिजीवी थे और जिन्हे अन्न की आवश्यकता नही थी, उन्हे भी उसने अन्न अर्पण किया। यह क्या साधारण बात थी ? नही, यह बहुत बडी बात थी।

एक जापानी सज्जन मुझे मिले, अहिंसा के सम्बन्ध मे वार्ता चली तो मैंने कहा 'देख लीजिये, भारत मे अब भी साँपो को दूध पिलाया जाता है। यह भारत की संस्कृति का एक सुन्दर नमूना है।

जो साँप काटने को है और वश चले तो खत्म ही करदे, किन्तु भारत का हृदय इतना उदार रहा है कि वह, उस जानलेवा साँप को भी दूध पिलाता है।'

किसी समय भारत मे इतना दूध था कि लोगो ने स्वय पिया, दूसरो को पिलाया, अपने पडोसियो को बाँटा। कोई आदमी दूध के लिए आया और उसे दूध न मिला, तो यह एक अपराध माना जाता था। भारत के वे दिन ऐसे थे कि किसी ने पानी माँगा तो उसे दूध पिलाया गया। विदेशियो की कलमो से भारत की यह प्रशस्ति लिखी गई है कि भारत मे किसी दरवाजे पर जाकर पानी माँगा तो उन्हे दूध मिला है! एक युग था जब यहाँ दूध की नदियाँ बहती थी!

परन्तु आज? आज यह स्थिति है कि कोई बीमार पडता है तो उसके लिए भी दूध मिलना मुश्किल हो जाता है। आज दूध के लिए पैसे देने पर भी दूध के बदले पानी पीने को मिलता है। और वह पानी भी दूषित होता है, जो दूध के नाम से देश के स्वास्थ्य को नष्ट करता है, वह दूध कहाँ है?

गायो के सम्बन्ध मे बात चलती है, तो हिन्दू कहता है 'वाह गाय हमारी माता है। गाय मे तेंतीस कोटि देवताओ का वास है! गाय के सिवाय हिन्दूधर्म मे और है ही क्या?'

और जैन अभिमान के साथ कहता है 'देखो, हमारे पूर्वज को, एक-एक ने हजारो-हजारो और लाखो-लाखो गाये पाली थी।

इस प्रकार क्या वैदिक और क्या जैन, अपने वेदो, पुराणो और शास्त्रो की दुहाइयाँ देने लगते है। किन्तु जब उनसे पूछते है तुम स्वय कितनी गायें पालते हो, तो दाँत निपोर कर रह जाते है। कोई उनसे कहे कि तुम्हारे पूर्वज गाये पालते थे, तो आज तुम्हे क्या लाभ है?

तो जिस देश मे गाय का असीम और असाधारण महत्त्व माना गया, जिस देश ने गाय की सेवा को धार्मिक रूप तक प्रदान कर दिया, जिस देश के एक-एक गृहस्थ ने हजारो-लाखो गायो का सरक्षण और पालन-पोषण किया और जिस देश के अन्यतम महापुरुष कृष्ण ने अपने जीवन-व्यवहार के द्वारा गोपालन का महत्त्व स्थापित किया,

जिस देश की संस्कृति ने गायों के सम्बध मे उच्च से उच्च और पावन से पावन भावनाएं जोड़ी, वह देश आज अपनी संस्कृति को, अपने धर्म को और अपनी भावनाओ को भूलकर इतनी दयनीय दशा को प्राप्त हो गया है कि वह बीमार बच्चों को भी दूध नही पिला सकता !

दूसरी ओर अमेरिका है, जिसे आप म्लेच्छ देश कहा करते हैं और घृणा बरसाया करते है ! आज उसी अमेरिका में होने वाले दूध का हिसाब लगाया गया है, तो पाया गया है कि वहाँ एक दिन मे इतना दूध होता है कि तीन हजार मील लम्बी, चालीस फुट चौडी और तीन फुट गहरी नदी दूध से पाटी जा सकती है !

हमारे सामने यह बडा ही करुण प्रश्न उपस्थित है कि हमारा देश कहाँ से कहाँ चला गया है ! यह देवो का देश किस दशा मे पहुँच गया है ! देश की इस दयनीय दशा को दूर करके समस्या को हल करना है तो उसे संस्कृति और धर्म का रूप देना होगा । इंसान जब भूखा मरता है तो मत समझिए कि वह भूखा रह कर यो ही मर जाता है । उसके मन मे घृणा और हा-हाकार होता है, और जब ऐसी हालत मे मरता है तो देश के निवासियो के प्रति घृणा और हा-हाकार लेकर ही जाता है ! वह समाज और राष्ट्र के प्रति एक दुर्भावना लेकर परलोक के लिए प्रयाण करता है । और खेद है कि हमारा देश आज हजारो मनुष्यो को इसी रूप मे विदाई देता है ! किन्तु प्राचीन समय मे ऐसी बात नही थी । भारत ने मरने वालो को प्रेम और स्नेह दिया है और उनसे प्रेम और स्नेह ही लिया है । उनसे घृणा नही ली थी, द्वेप और अभिशाप नही लिया था !

आप चाहते है कि भारत से और सारे विश्व से चोरी और झूठ कम हो जाय । किन्तु भूख की समस्या को सन्तोपजनक रूप मे हल किये विना यह पाप किस प्रकार दूर किये जा सकते है ? आज व्यसन से प्रेरित होकर और केवल चोरी करने के इरादे से चोरी करने वाले उतने नही मिलेंगे, जितने अपनी और अपनी स्त्री तथा बच्चो की भूख से प्रेरित होकर, सब ओर से निरुपाय होकर, चोरी करने वाले मिलेंगे । उन्हे और उनके परिवार को भूखा रख कर आप उन्हे चोरी करने से कैसे रोक सकते है ? धर्मशास्त्र का उपदेश वहाँ कारगर नही हो सकता । नीति की लम्बी-चौडी बातें उन्हे पाप से रोकने मे समर्थ

नही हैं। नीतिकार तो साफ कहते हैं

"बुभुक्षित' किं न करोति पापम् ?
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।।"

भूखा क्या नही कर गुजरता ? वह झूठ बोलता है, चोरी करता है, हत्या कर बैठता है, दुनियाँ भर के जाल, फरेब और मक्कारियाँ भी कर सकता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि भूख की समस्या का धर्म के साथ भी गहरा सम्बन्ध है और इस समस्या के समाधान पर धर्म का उत्थान निर्भर है।

इस अहिंसा के देश मे .

आप जानते हैं कि भारत मे आज क्या हो रहा है? जैन तो अहिंसा के उपासक रहे ही है, वैष्णव भी अहिंसा के बहुत बडे पुजारी रहे है, किन्तु उन्ही के देश मे, हजारो-लाखो रुपयो की लागत से बडे-बडे तालावो मे मछलियो के उत्पादन का और उन्हे पकडने का काम शुरू हो रहा है। यही नही, धार्मिक स्थानो के तालावो मे भी मछलियाँ उत्पन्न करने की कोशिश की जा रही है ? यह सब देखकर मैं सोचता हूँ कि आज भारत कहाँ जा रहा है ? आज यहाँ हिंसा की जड जम रही है और हिंसा का मार्ग खोला जा रहा है।

अगर देश की अन्न की समस्या हल नही की गई और अन्न के विशाल सग्रह काले वाजार मे वेचे जाते रहे, तो उसका एकमात्र परिणाम यही होगा कि मासाहार बढ जायगा। हिंसा का ताण्डव होने लगेगा और भगवान् महावीर और बुद्ध की यह भूमि रक्त से रजित हो जायगी। इस महापाप के प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष भागीदार वह लोग बनेगे, जिन्होने अन्न का अनुचित संग्रह किया, अपव्यय किया और चोर बाजार किया है। दुर्भाग्य से देश मे एकबार मासाहार की जड जम गई तो उसका उखाडना कठिन हो जायगा। अन्न आ जाएगा और सुकाल आ जाएगा, फिर भी मासाहार कम नही होगा ! मास का चस्का बुरा होता है और लग जाने पर उसका छूटना सहज नही। अतएव दीर्घ-दर्शिता का तकाजा यही है कि पानी आने से पहले पाल बाँध ली जाय, बुराई पैदा होने से पहले ही उसे रोक दिया जाय।

अन्न का दान किसे ?

आज देखते है कि करोडो इन्सान भूखो मर रहे है और हमारे भावुक भाई कोडियो, वन्दरो और मछलियो को अन्न खिलाते है। मैं भूतदया की इस भावना का विरोध और निषेध नही कर रहा हूँ, वल्कि यह कहता हूँ कि सवसे पहले उस इन्सान का पेट भरो, जिसकी जिंदगी अन्न पर ही निर्भर है और जिसके भूखे रहने पर मासाहार की महापातकमयी प्रवृत्ति के प्रचलित होने का अदेशा है और जो मनुष्य दया का प्रथम पात्र है। अगर आपने मानवदया को प्राथमिकता नही दी, तो मैं नही समझता कि आपने दयाधर्म के मर्म को समझा है। उस हालत मे वन्दरो को वचाना भी कठिन हो जायगा और लोग उन मछलियो को भी पकड-पकड कर खा जाएँगे, जिन्हे आप आटा खिला खिला कर मोटी वना रहे है! अगर आपकी दया पत्तो से शुरू होगी, जड से नही होगी, तो जड़ तो सूखेगी ही, साथ ही जड के सूखने पर पत्ते भी हरे-भरे नही रह पाएँगे! मनुष्य जीवित रहेगा और भरपेट खाने को पाएगा तो पशु-पक्षी भी वच सकेंगे और यदि मनुष्य ही भूखा तडपता रहा, तो पशुओ और पक्षियो की भी खैर नही! अतएव इस तथ्य को हमे ध्यान मे रखना चाहिए कि प्राणिमात्र की दया मानव-दया पर अवलम्वित है। ध्यान न रक्खा गया तो देश मे इतनी वडी क्रान्ति होगी और इन्किलाव होगा कि उसका प्रतिरोध करने के लिए कोई भी शक्ति काम न आ सकेगी। जव अन्नमात्रजीवीमानव भूखा मर रहा हो, उस समय कोडियो, वदरो और मछलियो को अन्न खिलाना दया का उपहास करना है!

मे आपसे एक प्रश्न करता हूँ। आपके सामने दो व्यक्ति हैं। एक वालक है जो भूख से छटपटा रहा है। वह दुधमुँहा वालक है, और दूध के विना जीवित नही रह सकता। दूसरा वालक वयस्क है जो दूध भी पी सकता है और दूसरी चीज भी खा-पीकर अपना जीवन वचा सकता है और जो आपके दूध के लिए लालायित नही है। आपके पास थोडा-सा दूध है। अव आप वह दूध किसे पिलाना उचित समझेंगे? उस पुरुष को जो भूखा नही है, जिसे आपके दूध की परवाह नही है और जो दूसरे तरीके से अपना निर्वाह कर सकता है? अथवा उस वालक को, जो दूध न मिलने के कारण दुनियाँ से चल वसने को

तैयार है ? इस सम्बन्ध में दया धर्म आपको क्या आदेश देता है ?

मैं नही समझता था कि कोई भी दयालु या सहृदयपुरुष बालक की उपेक्षा करके उस समय दूसरे को अनावश्यक रूप मे दूध पिलाने को तैयार होगा। यही बात यहाँ भी समझ लेनी चाहिए।

उचित यही है कि इन्सान का हक इन्सान को और पशु-पक्षियो का हक पशु-पक्षियो को दिया जाय। जो जिस हक का दावेदार है और जो जीवन की आवश्यकता को लेकर बैठा है, उसे उसका हक उसकी आवश्यकता के अनुरूप मिलना चाहिए।

अन्त में हम सोचते है कि उक्त चर्चाओ पर यदि सहृदयता से विचार किया गया और उसको अमल में लाने का प्रयत्न किया गया तो भारतवर्ष फिर अपनी पुरातन गरिमा को प्राप्त कर सकता है, फिर सुरगण-स्पृहणीय बन सकता है।

१६-११-५० को दिया गया प्रवचन

आध्यात्मिक-जीवन

६

अन्तर्जीवन

आन्तरिक जीवन की शुद्धता जीवन की समुचित तैयारी के लिए परम आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि आन्तरिक जीवन की पवित्रता के बिना कोई भी बाह्य आचार, कोई भी क्रियाकाण्ड और गभीर विद्वता व्यर्थ है। जैसे, सख्या के अभाव मे हजारो शून्यो का कोई मूल्य नही होता, उसी प्रकार अन्त शुद्धि के बिना बाह्याचार का कोई मूल्य नही। जो क्रियाकाण्ड केवल शरीर से किया जाता है और अन्तरतम के भाव से नही किया जाता, उससे आत्मा पवित्र नही बनती। आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिए आत्मस्पर्शी आचार की अनिवार्यता स्वयसिद्ध है।

अतःशुद्धि के निमित्त बाह्याचार :

जो बाह्य आचार अन्त शुद्धि के फलस्वरूप स्वत समुद्भूत होता है, वस्तुत मूल्य उसी का है। कोरे दिखावे के लिए किए जाने वाले बाह्य आडम्बरो से उद्देश्य की सिद्धि कदापि नही हो सकती। हम सैकडो को देखते हैं, जो बाह्य क्रियाकाण्ड नियमित रूप से करते है और करते-करते बूढे हो जाते है, किन्तु उनके जीवन मे कोई शुभ परिवर्तन नही हो पाता, वह ज्यो का त्यो कलुपित ही बना रह जाता है। इसका कारण यही है कि उनका क्रियाकाण्ड केवल कायिक है, यान्त्रिक है, उसमे आन्तरिकता का कतई समावेश नही है।

अंतःशुद्धिपूर्वक बाह्य आचार · कल्याण पद का आधार :

यह तो नही कहा जा सकता कि बाह्य क्रियाकाण्ड करने वाले सभी लोग पाखण्डी, दभी और ठग हैं। यद्यपि अनेक विचारको की

ऐसी धारणा बन गयी है कि जो दंभी और पाखण्डी है, वह अपने दंभ और पाखण्ड को छिपाने के लिए क्रियाकाण्ड का आडम्बर रचता है और दुनिया को दिखाना चाहता है कि वह बहुत बड़ा धर्मात्मा है ! और उनकी यह धारणा एकदम निराधार भी नही कही जा सकती, क्योंकि दुर्भाग्य से अनेक लोग धर्म के पावन अनुष्ठान को इसी उद्देश्य से कलुषित भी करते है और उन्हे देख-देख कर बहुत से लोग उस अनुष्ठान से भी घृणा करने लग जाते है। फिर भी हमारे विचार से कुछ लोग ऐसे भी है जो सरल हृदय से धर्म का बाह्य अनुष्ठान करते है भले ही उनके क्रियाकाण्ड मे आन्तरिकता न हो, पर सरलता अवश्य होती है। वह सरलभाव उनका कल्याण कर देता है। और, कोई-कोई विरल व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते है, जो अन्तःशुद्धिपूर्वक बाह्य क्रियाएँ करते है। ऐसे व्यक्ति ही वस्तुत अभिनन्दनीय है। वे निस्सन्देह परम कल्याण पद के भागी होते हैं।

अंतःशुद्धि कैसे करें ?

अन्त शुद्धि किस प्रकार हो सकती है, इस सम्बन्ध मे तरह-तरह के विचार सामान्यजनो के सामने प्रस्तुत किये जाते है। उनकी भाषा मे भेद हो सकता है, भाव मे नही। मैं समझता हूँ कि अन्त शुद्धि के लिए साधक को सबसे पहले अपने अन्तरंग को टटोलना चाहिए।

आप आन्तरिक जगत् की ओर दृष्टिपात करेंगे तो देखेंगे कि वहाँ राक्षस भी अपना अड्डा जमाये हुए हैं और देवता भी। राक्षसी भाव दुनियाँ की ओर घसीटते है, बुराइयो की ओर ले जाते हैं, और मनुष्य की जिंदगी को नरक मे डाल देते है। और, आत्मा मे जो दैवी संस्कार है, वही भीतर के देवता हैं। वे हमारी जिंदगी को अच्छाइयो की ओर ले जाते है और स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार उन्मुक्त करते है।

देवासुर का अनंत संघर्ष :

तो अन्दर के राक्षस और देवता परस्पर संघर्ष किया करते है, उनमे निरन्तर महाभारत छिड़ा रहता है। महाभारत तो एक बार हुआ था और कुछ काल तक जारी रह कर खत्म हो गया, किन्तु हमारे अन्दर का महाभारत अनादिकाल से चल रहा है। उसकी यहाँ आदि नही है और अन्त कब और कैसे होगा, नही कहा जा

सकता। इस महाभारत मे भी कौरव और पाण्डव लड रहे हैं। हमारे अन्दर की बुराइयाँ कौरव है और अच्छाइयाँ पाण्डव है। इन दोनों के युद्ध का स्थल-कुरुक्षेत्र हमारा स्वय का हृदय है।

कौरव-पांडव और विजय केन्द्र :

अबतक मानव-जीवन का इतिहास ऐसा रहा है कि हजार बार कौरव जीते, परन्तु अन्त मे पाण्डवो की ही विजय हुई। पाण्डव जुआ खेलने मे भी हारे और युद्ध मे भी हारे, किन्तु आखिरी युद्ध मे वही जीते। और इधर अनन्तकाल से जो लडाई लडी जा रही है, उसमे क्रोध ने शान्ति पर विजय प्राप्त की, लोभ ने सन्तोष का गला घोट दिया। अहकार ने नम्रता को निष्प्राण कर दिया।

कौरव-पाण्डवो की अन्तिम लडाई कृष्ण के निर्देशन मे लडी गई। कृष्ण पथप्रदर्शक बने और अर्जुन योद्धा बने। इस लड़ाई के सम्बन्ध मे व्यास को कहना पडा।

"यत्र योगेश्वर' कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥"

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, १८।८७

जहाँ योगेश्वर कृष्ण युद्ध का नेतृत्व करेगे, अर्जुन अपना धनुष उठाकर लडेंगे, वहाँ विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? वहाँ विजय है, अभ्युदय है और जीवन की ऊँचाई है। यह मेरा निश्चित मत है।

हमारा हृदयस्थल : अर्जुन और कृष्ण का समन्वय :

वास्तव मे यह मत गलत नही है कि महामारत मे कृष्ण और अर्जुन थे और हमारे हृदय मे भी कृष्ण और अर्जुन विराजमान है। कृष्ण ज्ञानयोग के प्रतीक है और अर्जुन कर्मयोग के प्रतीक। कर्मयोग अकेला सिद्धि प्राप्त नही कर सकता। वह तो अंधे की तरह टकराएगा। उसको नेतृत्व मिलना चाहिए, एक समर्थ पथप्रदर्शक चाहिए। वह पथप्रदर्शक ज्ञान के अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? ज्ञान जब कर्म का पथप्रदर्शन करता है, तो दोनो का समन्वय हो जाता है। यही कृष्ण और अर्जुन का समन्वय है। इस समन्वय के साथ जब जीवन का महामारत लड़ा जाता है, तो उसमे विजय होना ध्रुव है

और वासना रूपी कौरवों का पतन भी निश्चित है।

क्रोध और मान :

हमारे भीतर बहुत बडी-बडी बुराइयाँ घुसी हुई है, उनमे क्रोध और मान की गिनती पहले होती है। भगवान् महावीर ने भी कषायों मे क्रोध और मान का नाम पहले लिया है। चार कषाय, जो जन्म-मरण का नाटक रचते रहते हैं और जन्म-जन्मान्तर मे दुःख देते रहते है, इनमे क्रोध पहला और मान दूसरा है।

लोकप्रियता का आधार : प्रेम

यह तो आप जानते है कि मनुष्य की मूल प्रकृति शान्त रहना और प्रेमपूर्वक चलना है। और मनुष्य ससार में जहाँ कही भी रहना चाहता है, अकेला नही रह सकता। उसको साथी चाहिए और साथी बनाने के लिए प्रेम जैसी चीज भी चाहिए। प्रेम से ही एक व्यक्ति दूसरे से जुडता है। परिवार में दस-बीस आदमी रह रहे हैं तो प्रेम से ही जुडे होकर रह सकते है। घृणा का काम तो जोडना नही, अलग करना है! इसी तरह बिरादरी मे हजारो आदमी जुडे रहते है। उन्हे जोडने वाला एकमात्र प्रेम ही है। तो परिवार मे पारिवारिक प्रेम, समाज मे सामाजिक प्रेम और राष्ट्र मे राष्ट्रीय प्रेम ही आपस मे मनुष्य जाति को जोडे हुए है। जिसके हृदय मे प्रेम का वास है, वह अपने हजारो और लाखो प्रेमी बनाता चलता है।

प्रेम और क्रोध परस्पर विरोधी हैं :

मनुष्य क्रोध कर ले और प्रेम भी कर ले, यह नही हो सकता। ये दोनो परस्पर विरोधी है। जहाँ क्रोध होगा, प्रेम नही हो सकता और जहाँ प्रेम है, वहाँ क्रोध का अस्तित्व नही। ईश्वर की भी शक्ति नही कि वह दिन और रात को एक सिंहासन पर ले आए। दिन और रात एक साथ नही रह सकते। राम और रावण दोनो एक सिंहासन पर नही बैठ सकते। एक बैठेगा तो दूसरे को हटना पडेगा। राम की पूजा करनी है तो रावण को सिंहासन से उतारना पडेगा और यदि रावण को पूजना है तो राम को उतारना पडेगा।

मन का भयानक कालुष्य : क्रोध

जब इन्सान के मन मे मलिनता आती है, तो चमकती हुई

ज्ञान की लौ धुँधली पड जाती है। और जब मन मे काम और क्रोध की लहर उठती है, तो मन का दर्पण मैला पड जाता है। आपको अनुभव ही होगा कि दर्पण मे फूँक मार देने पर वह धुँधला हो जाता है। उसमे चेहरा देखने पर साफ नजर नही आता। दर्पण अपने स्वरूप मे तो स्वच्छ है, किन्तु जब मुँह के भाप ने असर किया, तो वह मैला बन गया। इसी प्रकार मन का दर्पण साफ है, ठीक हालत मे है और वह प्रतिविम्ब को ग्रहण कर सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से क्रोध की फूँक लगती है, तो वह इतना मैला हो जाता है कि उस पर ठीक-ठीक प्रतिविम्ब नही झलक पाता। जिनके मन का दर्पण साफ नही है, वे मित्र को मित्र के रूप मे ग्रहण नही कर पाते, पति को पति के रूप मे, पत्नी को पत्नी के रूप मे और पिता-पुत्र को, पिता-पुत्र के रूप मे नही देख पाते। उनके मन पर पडने वाले प्रतिविम्ब जब इतने धुँधले होते है, तो वे अपने कर्त्तव्य को भी साफ-साफ नही देख पाते और न अपनी भूलो को ही साफ देख पाते हैं।

क्रोध एक भयानक विघातक :

क्रोध मे पागलपन ही नही, पागलपन का आवेश भी होता है। जिसे दुनियाँ पागल समझती है, वह पागलपन उतना भयानक नही होता, जितना क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य भयानक होता है। अन्तर मे क्रोध की आग सुलगते ही विवेक-बुद्धि भस्म हो जाती है और उस दशा मे मनुष्य जो न कर बैठे, वह गनीमत है! वह आत्मघात कर लेता है, पर का घात कर देता है और ऐसे-ऐसे काम कर डालता है कि जिनके लिए उसे जिदगी भर पछताना पडता है। क्रोध के आवेश मे मनुष्य अपने सारे होश-हवास खो बैठता है।

क्रोध पर ही क्रोध :

तो, हमे यह निर्णय कर लेना है कि क्रोध हमारे जीवन के लिए सब प्रकार से घातक है, उसको अपने मन मे कतई स्थान नही देना है। जब क्रोध आने को हो, तो उसको बाहर के दरवाजे से ही धक्का देकर निकाल देना चाहिए। हाँ, यदि क्रोध करना ही है तो, हमे क्रोध पर ही क्रोध करना है। हमारे यहाँ यह सिद्धान्त आया है कि "यदि क्रोध करना है तो उसको निकालने के लिए क्रोध पर ही क्रोध करो। क्रोध के अतिरिक्त और किसी पर क्रोध मत करो।"

इस प्रकार जब क्रोध मन से निकल जायगा, तो जीवन मे स्नेह की धाराएँ स्वत प्रवाहित होने लगेगी। हृदय शान्त और स्वच्छ हो जायगा और बुद्धि निर्मल हो जायगी।

शांत मस्तिष्क ही निर्णय देने मे समर्थ :

जब हम शान्त भाव मे रहते हैं और हमारा मस्तिष्क शान्त सरोवर के सदृश होता है, तभी हममे सही निर्णय करने का सामर्थ्य आता है। उसी समय हम ठीक विचार कर सकते है और दूसरो को भी ठीक बात समझा सकते हैं।

आपको क्रोध आ गया, गुस्सा चढ गया तो आपने अपनी बुद्धि की हत्या कर दी और जब बुद्धि का ही ढेर हो गया, तो निर्णय कौन करेगा? क्रोधी का निर्णय सही नही होगा और कदाचित् वह जीवन मे बडा ही भयकर साबित होगा। वह निर्णय कभी भी शान्ति-दायक नही हो सकता। यदि हम अपने जीवन को शान्तिपूर्वक बनाना चाहते है, तो वह क्रोध से शान्तिपूर्ण कभी नही बन सकता।

क्रोध का शमन : कैसे

प्रश्न हो सकता है कि क्रोध से किस प्रकार बचा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जब घर मे आग लगती है तो उसे बुझाने के लिए जिस प्रकार पानी का प्रबन्ध किया जाता है उसी प्रकार जब क्रोध आये तो उसे क्षमा एव सहनशीलता के जल से बुझा दे और अभिमान से लडने के लिए नम्रता को अडा दें। जब तक विरोधी चीजे नही आएँगी, तब तक कुछ नही होगा। क्रोध को क्रोध से और अभिमान को अभिमान से कभी भी नही जीता जा सकता। गरम लोहे को गरम लोहे से काटना कभी सभव नही। उसे काटने के लिए ठडे लोहे का प्रयोग करना ही पडेगा। जब ठडा लोहा गरम हो जाता है तो उसकी अपने आपको बचाने की कडक कम हो जाती है। वह ठडा होने पर अधिक देर तक टिक सकता है, किंतु गरम होकर तो उसने अपनी शक्ति ही गँवा दी। वह ठडे लोहे से कटना शुरू हो जाता है। तो इस रूप मे मालूम हुआ कि गरम लोहे को गरम लोहे से नही काट सकते, उसको ठंडे लोहे से ही काटना सभव होगा।

भगवान् महावीर ने कहा है

'कोहो पीइं पणासेइ।' दशवैकालिक

प्रेम के बिना प्राणी सर्वथा अकेला :

क्रोध प्रेम की हत्या कर डालता है। इसका मतलब यह हुआ कि जो चीजे प्रेम के सहारे टिकने वाली है, क्रोध उन सबका नाश कर डालता है। इस रूप मे विचार कीजिए तो मालूम होगा कि परिवार समाज और गुरु-शिष्य आदि का सम्बन्ध स्नेह के आधार पर ही टिका हुआ है। वहाँ अगर क्रोध उत्पन्न हो गया है तो वह कोई भी प्रेम-सम्बन्ध टिकने वाला नही, यह अनुभवगम्य सत्य है। जहाँ क्रोध की ज्वालाएँ उठती है, वहाँ भाई-भाई का, पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का और सास-बहू का सम्बन्ध भी टूट जाता है और तब परिवार मे रहता हुआ भी इन्सान अकेला रहता है। देश मे करोडो लोगो के साथ रहता हुआ भी वह अभागा अकेला ही भटकता है।

लक्ष्मी का निवासस्थान :

तो यह विचार स्पष्ट है कि जीवन का आदर्श है प्रेम। भारती साहित्य मे जिक्र आता है कि एकबार इन्द्र कही जा रहे थे। उन्हे लक्ष्मी रास्ते मे बैठी दिखलाई दी। तब इन्द्र ने लक्ष्मी से पूछा आजकल आप कहाँ विराजती हैं? लक्ष्मी ने कहा आजकल का प्रश्न क्यो? मै तो जहाँ रहती हूँ, वही सदा रहती हूँ। मैं ऐसी भगोडी नही कि कभी कही और कभी कही रहूँ। अस्तु हमेशा रहने की जगह यदि पूछो तो बतला दूँ! इन्द्र ने मुस्कराकर कहा—यह तो और भी अच्छी बात है। बतला दीजिए। तब लक्ष्मी ने कहा

"गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वाणी यत्र सुसस्कृता।
अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र! वसाम्यहम्॥"

बडी सुन्दर बात कही है! बात क्या है, यह तो संसार के लिए एक महान् आदर्श वाक्य है। वास्तव मे लक्ष्मी ने अपनी ठीक जगह बतला दी है। लक्ष्मी कहती है—"इन्द्र! मैं वहाँ रहती हूँ जहाँ प्रेम का अखण्ड राज्य है, जिस परिवार एव समाज मे आपस मे कलह नही है। मैं उन लोगोके पास रहती हूँ, जो लोग प्रेमपूर्वक मिल-जुल कर काम करते है। एक दूसरे के सहकारी बन कर जहाँ लोग अपनी जीवन-यात्रा की तैयारी करते है। जहाँ आपस मे सगठन है और जो

एक-दूसरे के लिए अपने स्वार्थ को निछावर कर देने को तैयार रहते हैं और अपनी इच्छाओ को भी कुचलने के लिए तैयार रहते है, जहाँ प्रेम की जीवनदायिनी धाराएँ निरंतर बहती रहती हैं, जहाँ कलह, घृणा और द्वेष नही होता, मैं उसी जगह निवास करती हूँ।"

लक्ष्मी के इस कथन ने अनंत-अनंत काल के प्रश्न हल कर दिये हैं। बडे-बडे परिवारो को देखा है, जहाँ लक्ष्मी के ठाट लगे रहते थे। किन्तु जब उन परिवारो मे मनमुटाव आया, क्रोध की आग जलने लगी, वैरभाव पैदा हो गया, तो वह वैभव और आनन्द बना नही रह पाया। धीरे-धीरे वह क्षीण होने लगा और लक्ष्मी रूठ कर चल दी।

परमानद का केन्द्र : प्रेम :

जहाँ प्रेम है, वही आनन्द है। लाखो और करोडो की सम्पत्ति होने पर भी जहाँ प्रेम नही है, बल्कि पारस्परिक द्वेष और घृणा है, वहाँ जीवन का आनन्द नही। वह जीवन भारस्वरूप बन जाता है। कहने को तो नरक और स्वर्ग बाहर है, किन्तु हमारे महान् विचारको ने ठीक ही कहा है कि वे वास्तव मे मानव के मन के अन्दर हैं। जब व्यक्ति घृणा और द्वेष से घिर जाता है, दूसरे की निन्दा करने मे मग्न हो जाता हैं और बात-बात मे क्रोध की अग्नि में झुलसने लगता है, तो उसके मन मे नरक का वास हो जाता है। और जब वह दूसरे की सेवा-सहायता के लिए तैयार होता है और दूसरो पर हृदय के स्नेहामृत को छिडकने के लिए उद्यत होता है, तब वह निश्चय ही अपने भीतर स्वर्ग की रचना करता होता है। यहाँ भी उसे उसका सुफल मिलेगा और आगे भी। इसीलिए कहा गया है—

'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'।

अर्थात् जो पिण्ड मे है, वही ब्रह्माण्ड मे है। जो मन मे नही है, वह बाहर कही भी नही मिलेगा। मनुष्य के मन मे जो मूर्त हो गया है, वह ससार मे भी दीखने लगा और जो मन मे मूर्त्त नही बन पाया तो वह ससार मे भी नही बन पाया।

गृहस्थ जीवन का आदर्श :

कबीर की आध्यात्मिक वाणी ने सर्व साधारण जनता को जितना प्रभावित किया है, वह सर्वविदित है। वह बनारस मे रह रहे थे।

बनारस तो विद्वानो का धाम है। वहाँ एक ब्रह्मचारी सज्जन थे, जिन्होने अपना जीवन विविध शास्त्रो के अध्ययन मे व्यतीत किया था। वेदान्त की चर्चा मे अपना समय लगाया था। वह अपना ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर भविष्य निर्माण की बात सोच रहे थे। उन्होने अनेक विद्वानो से सम्मति ली, किन्तु मन को ठीक समाधान नही मिला। तब उन्होने कबीरजी से सामाधान पाने की इच्छा की। वह बडे-बडे प्रश्नो को बहुत सुन्दर रूप से सुलझा देते थे। दिन का समय था, सूरज चमक रहा था। कबीर उस समय धूप मे बैठे सूत सुलझा रहे थे। ब्रह्मचारी ने उन्हे नमस्कार किया और कहा मैं एक समाधान प्राप्त करने आया हूँ। मैं विद्याध्ययन कर चुका हूँ। वेद-वेदान्त पढ चुका हूँ। अब मेरे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित है कि मुझे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहिए अथवा सन्यास ग्रहण करना चाहिए ? मैं इस विषय मे कुछ भी समझ नही पा रहा हूँ आप बताएँ, मैं क्या करूँ ?

कबीर ने कहा अच्छा, ठहरो, जवाब देता हूँ।

ब्रह्मचारी को बैठे-बैठे बहुत देर हो गई। इस पर कबीरदास जी से उसने पुन कहा— उत्तर दीजिए। आप चुप क्यो है ? कबीर ने कहा जरा सूत तो सुलझा लूँ।

थोडी देर मे सूत सुलझाते-सुलझाते बडबडाने लगे। पत्नी आयी तो उससे कहने लगे यह भी कोई घर है ? यहाँ इतना अधेरा है कि सूत सुलझाऊँ तो कैसे सुलझाऊँ ?

पत्नी ने यह बात सुनी। वह खडे पैरो लौट गई और दीपक जला लाई।

ब्रह्मचारी पण्डित यह देख कर चकित रह गए। सोचने लगे—लोग कहते है कि कबीरजी बडे तत्वज्ञ है। किन्तु यह तो पागल मालूम होते है। चमकती हुई धूप मे भी इन्हे अधकार दिखाई देता है और दीपक जलवा रहे है। और इनकी पत्नी भी ऐसी ही दीखती है। उसने भी तो चुपचाप दीपक ला कर रख दिया। नही यह कहा कि प्रकाश फैला हुआ है सूरज चमक रहा है। यहाँ अधकार कहाँ है ?

वह ऐसे ही विचारो मे डूबता-उतराता रहा और थोडी देर चुप बैठा रहा। आखिर ऊब कर उसने कहा मेरे प्रश्न का उत्तर मिल जाना चाहिए।

कबीर बोले उत्तर दे तो दिया! और क्या चाहते हो? विस्तार में सुनना चाहते हो तो देखो, यदि तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहते हो तो तुम्हें ऐसा परिवार बनाना होगा। परिवार को अपने अनुकूल बना सकते हो और स्वयं परिवार के अनुकूल बन सकते हो तो गृहस्था-श्रम में प्रवेश करने में कोई हानि नहीं है। दिन में दीपक जलाना चाहो तो वह भी जला सको, तुम्हारी पत्नी बिना किसी तर्क-वितर्क के तुम्हारी आज्ञा का पालन कर सके और तुम्हारा प्रेम एवं स्नेह इतना महान् हो कि उसके बल पर जो भी चाहो वही परिवार में करवा सको, पत्नी और सन्तान को आज्ञाकारी बना सको और जीवन में हर जगह स्नेह और ममता का आदान-प्रदान कर सको तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकते हो। और यदि सन्यासी बनना है तो उसका भी आदर्श बतलाए देता हूँ।

संत जीवन का आदर्श :

सत जीवन के आदर्श के लिए कबीरजी ब्रह्मचारी को लेकर एक टीले पर पहुँचे। वहाँ एक जरा-जीर्ण सन्यासी रहते थे। हिलना-डुलना भी उनके लिए बहुत कठिन था। कबीरजी ने वहाँ पहुँच कर आवाज लगाई—महाराज, दर्शन देना!

महाराज नीचे आये लड़खड़ाते हुए, बड़ी ही कठिनाई से। कबीरजी से बोले—कहिए, क्या बात है?

कबीर—कुछ नहीं, आपके दर्शन करने थे।

दर्शन देकर संन्यासी ऊपर चले, काँपते हुए, गिरते-पड़ते हुए। अब कबीर ने फिर आवाज लगाई महाराज, दर्शन देना, बात कहना तो बाकी रह गया!

सन्यासी फिर नीचे आए। दम फूलने लगा, पसीने से तर हो गए और हाथ-पैर लड़खड़ाने लगे। फिर भी अतिशय शान्त मुद्रा में बोले कहिए, क्या बात है?

कबीर—बात कुछ नहीं है। दर्शन हो गए!

सन्यासी जैसे के तैसे, प्रसन्न मुद्रा में वापिस लौट गए। उनके चेहरे पर तनिक भी क्रोध और आवेग की झलक दिखाई नहीं दी।

तब कबीरजी ने उस ब्रह्मचारी से कहा उत्तर मिल गया? सन्यासी बनना है तो ऐसे बनना! मैंने बुलाया तो अशक्त होते हुए भी नीचे आ गए। फिर बुलाया तो फिर चले आए। और देखा, शान्त भाव से लौट गए! तुमने उनके चेहरे पर क्रोध या अभिमान की एक रेखा देखी? कुछ भी चिन्ह नजर आया आवेग का? वे जिस शान्त भाव से नीचे उतरे, उसी शान्त भाव से ऊपर चढ गए। तुम्हे यदि सन्त बनना है तो ऐसे सन्त बनना!

ब्रह्मचारी पण्डित ने कबीरजी को नमस्कार किया और कहा—मैं कृतार्थ हुआ। आपने बहुत सुन्दर मार्गप्रदर्शन किया है! मैं सोचूँगा और जो कुछ बनना है, आप के बनाये आदर्श के अनुकूल बनने का प्रयत्न करूँगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हमे अपने जीवन का विश्लेषण करना चाहिए। साधु बनना है तो असीम क्षमा की आवश्यकता है। हमे अपने विकारो से लडना है। क्रोध और अहकार की एक छोटी-सी लहर भी अन्तस्तल मे नही उठने देनी है। अगर उठ खडी हुई तो जीवन न इधर का रहेगा, न उधर का रहेगा।

यदि गृहस्थ भी बनना है तो वह भी एक आदर्श गृहस्थ बनना है। वहाँ भी क्रोध और अहकार की लपटो से बचना है। यह लपटे उठती रही तो गृहस्थी की सरसता पनप नही सकती और इसके अभाव मे जीवन नारकीय बन जाएगा।

मै और मेरा का अत विनय का आरम्भ :

आशय यह है कि मनुष्य किसी भी आश्रम मे और किसी भी स्थिति मे रहे, कोध और अहकार से बचता रहे। पहले 'मैं' को हटा दे तो 'मेरे' का हट जाना भी सरल हो जायगा। 'मैं' मूल है और 'मेरा' उस का पत्ता है। 'मैं' नही टूटा और इस प्रकार यदि मूल बना रह गया तो पत्तो को नोचने से लाभ क्या होगा? जहर का वृक्ष आगन मे लहरा रहा है। उसका मूल सुदूर गहराई को छूकर रस पाता जा रहा है तो पत्तो को नोचने से काम नही चल सकेगा। अत सिद्धान्त की दृष्टि से 'मैं' और 'मेरा' यह दोनो त्याज्य हैं, किन्तु जब तक 'मैं' का विषवृक्ष नही उखाड फेका जाएगा, 'मेरा' का उखाडना सभव नही है। इस 'मैं'

अर्थात् अभिमान को तोड़ने के लिए हमारे यहाँ साधना का सबसे बड़ा अंग विनय है। भगवान् महावीर से पूछा गया कि धर्म का मूल क्या है? तो उन्होने कहा

"धम्मस्स विणओ मूलं।"

धर्म का मूल विनय है। जो साधक अभिमान से फूला हुआ है, भूला हुआ है और अपने सामने किसी को कुछ नही समझता है, वह किसी साधु या भगवान् के पास जा करके भी खाली हाथ ही लौटेगा। वह फूटे हुए घड़े के समान है, जो सदा खाली ही रहने को है! अभिमानी ज्ञान के प्रकाश से वचित ही रहता है। जहाँ विनय है, ज्ञान का प्रकाश भी वही होगा।

जीवन को सोना बनाएँ, लोहा नहीं :

विचारने की बात है कि सोना भी धातु है और लोहा भी। किन्तु यदि रत्नो से जडना होता है तो सोने को ही क्यो जडा जाता है? लोहे को क्यो नही? कारण यही है कि सोने मे नम्रता है, लचक है और इस कारण वही हीरे से जडने योग्य होता है। वह हीरे से जडा जाता है तो उसकी कीमत कितनी बढ जाती है! एक तोला सोना भी अगर हीरे से जड दिया जाता है तो उसकी कीमत लाखो की हो जाती है। यदि सोना लोहे की तरह कठोर होता और अपने आप मे किसी हीरे को जगह देने मे समर्थ न होता तो उस की कीमत लाखो की नही हो सकती थी। अत. जीवन को भी विनम्र बनाने का अर्थ सोना बनाना है और जब वह सोना बन जाता है तो उसमे अहिंसा, दया, प्रेम और करुणा के असख्य हीरे स्वत. जड जाते हैं! वह जीवन बहुमूल्य अलकार बन जाता है। इस दृष्टि से आपको सोना बनना है कठोर लोहा नही, विनम्र सोना बनना है।

नरक कौन जाता है?

इधर-उधर घूमते हुए एक बडे सन्यासी किसी गाँव मे पहुँचे। उन्हे एक गृहस्थ के यहाँ भोजन का निमत्रण मिला और समय पर बुलावा आया। तब गुरुजी ने अपने शिष्य से कहा मैं अभी पूजापाठ करूँगा, तुम जाओ और भोजन कर लो। शिष्य भोजन के लिए चला गया। वह भोजन के लिए आसन पर बैठा। भोजन की थाली परोस दी गई।

खाने को पहला कौर तोडा ही था कि एक व्यक्ति आकर सामने खडा हो गया। उसने कहा महाराज, मेरा एक प्रश्न है। वह यह कि नरक मे कौन जाता है? शिष्य ने कहा जो क्रोध करता है, दभ करता है, निन्दा करता है, वह नरक मे जाता है।

प्रश्नकर्त्ता ने कहा—महाराज, ठीक समाधान नही हुआ।

सन्त ने नियम बना रक्खा था कि जब तक सही समाधान न कर दे, भोजन नही करेगे। अत उसने तोडा हुआ कौर थाली मे वापस रख दिया और गुरुजी की प्रतीक्षा करने लगा। वे आएँ और समाधान कर दें तो भोजन शुरू किया जाय। थोडी देर मे गुरुजी आ गए और देखा कि शिष्य चिन्तित है। उन्होने शिष्य से चिन्ता का कारण पूछा। शिष्य ने कहा मुझसे एक प्रश्न किया गया है और मैंने उसका यह उत्तर दे दिया है, परतु वह सही नही माना गया। आपकी प्रतीक्षा की जा रही है कि आप कोई सही समाधान निकाले।

गुरुजी सब कुछ ताड गए। उन्होने सोचा—क्या शका-समाधान के लिए और कोई समय नही मिल सकता था? जब सैकडो आदमी बैठे हैं भोजन करने की तैयारी पूरी हो चुकी है, तो, क्या ऐसे समय ही प्रश्न पूछना आवश्यक था?

समझदार पुरुष को वास्तविक स्थिति समझने मे देर नही लगती है। गुरुजी को परिस्थिति समझते देर न लगी। उन्होने तुरत पूछा कौन है प्रश्न करने वाला?

प्रश्नकर्त्ता अभिमान मे तन कर खडा था। बोला—महाराज, 'मैं' हूँ।

गुरुजी बोले बस, यह 'मैं' ही नरक मे जाता है। गाँव मे क्या तुम अपने आपको बहुत बडा ज्ञानी समझते हो? तुम प्रभु की भक्ति करते हो, शास्त्र पढते हो और इधर यह साधु भोजन करने बैठा तो प्रश्न लेकर खडे हो गये हो? क्या आगे-पीछे प्रश्न नही किया जा सकता था? यह मुँह मे कौर डालने को तैयार हुआ तब तुम्हे प्रश्न करने की सूझी है? तुमने मुँह के पास पहुँचे हुए कौर को वापिस लौटा लिया है। यह तुम्हारा अहकार है, और जो अहकारी है, वही नरक मे जाता है। अस्तु, यह 'मैं' ही नरक मे ले जाने वाला है, और कोई नही। बात बडे अलकारपूर्ण ढग से कही गई है। यह जीवन की वह सच्चाई है, जिसे कोई झुठला नही सकता।

आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि हृदय मे क्रोध और अभिमान ने किस प्रकार अड्डा जमा रक्खा है और किस-किस रूप मे वे व्यक्त हुआ करते है। हृदय का विश्लेषण करने पर आपको उस जहर के नाना रूप दिखाई देने लगेगे। आज के जितने संघर्ष है, उनमे से अधिकाश क्रोध और अहकार से ही उत्पन्न हुए है। अन्दर ही अन्दर छुरियाँ चल रही है और एक-दूसरे को वर्वाद करने की चेष्टाएँ हो रही है। परिवार वर्वाद हो रहे है, समाज जल रहा है और राष्ट्र तहस-नहस हो रहा है। यह सब क्या है? अहंकार का ही फल है। जब तक हम वडो का आदर करते रहे, अपने जीवन का सारा उत्तरदायित्व पूरा करते रहे, और जव तक मर्यादाएँ चलती रही, सुन्दर परिवार वने रहे, जो हजारो वर्षो तक चलते रहे। और आज परिवार वना कि, वस उसे विगडते देर नही लगती है।

कल्याण का मार्ग

एक सन्त से कलियुग की पहचान पूछी गई तो उन्होने कहा—जब पुत्र पिता से अलग होने की कोशिश करेगा तो समझ लेना कि कलियुग आ गया है, जहाँ क्रोध और अभिमान का बोलबाला हो जाय और मनुष्य अपने ही स्वार्थो को मुख्यता देने लगे, वहाँ कलियुग की ही रोशनी होगी। आखिर आकाश मे कलियुग नही आता, चाँद-सूरज मे और प्रकृति की दूसरी चीजो मे भी कलियुग नही आता। वे तो छोटे-मोटे हेरफेर के साथ सदैव अपने मूलस्वरूप मे ज्यो के त्यो वने रहते है। सूर्य अनादि काल से पूर्व मे उदित हो रहा है, वह पश्चिम मे उदय होने वाला नही। हवा अपना कार्य ज्यो का त्यो कर रही है। चाँद और तारे भी उसी रूप मे कार्य कर रहे है। फिर कलियुग आता है, तो कहाँ आता है?

सच पूछो तो कलियुग सर्वप्रथम हमारे मन मे आता है और वह क्रोध, अहकार आदि असख्य रूपो को धारण किये आता है। यदि उन्हे निकालना है, तो जीवन मे क्षमा, शान्ति, नम्रता और विनम्रता धारण करनी होगी। जीवन को करुणामय वनाना होगा। ऐसा करने पर आपके जीवन मे इसी समय सतयुग चमकने लगेगा और आपका कल्याण स्वतः हो जायेगा।

२७-११-५० को दिया गया प्रवचन।

७

तीन परिणतियाँ

किसी भी साधक की साधना अपनी सफलता की परिणति तभी प्राप्त कर पाती है, जबकि उसकी साधना का आधार सापेक्ष हो। सापेक्ष-अर्थात् जिसकी साधना के लिए साधक को अपेक्षा होती है, उसके विना जीवन की तैयारी कदापि पूरी नही हो सकती। यहाँ हम यह विचार करेंगे कि साधना की सफलता का आधार क्या है ? साधना किन माध्यमो से होकर अपनी परिणति पाती है।

साधना की परिणति . केवल ज्ञान की प्राप्ति :

साधक जीवन में शास्त्रो का बहुत बडा महत्त्व है। मनुष्य जब तक अपूर्ण है, जब तक उसे ज्ञान की पूरी सामग्री नही मिलती है, जब तक उसे केवल ज्ञान का महाप्रकाश नही मिल पाता है, तब तक उसके पास कौन-सी आँखे है, जिनसे वह अपना मार्ग तलाश कर सकेगा ? हाँ, केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् तो उसकी स्वय की वाणी ही शास्त्र बन जाती है, उसके मुख से निकले हुए शब्द ही शास्त्र का रूप ले लेते है। इसलिए आचाराग सूत्र मे कहा गया है—**'उद्देसो पासगस्स नत्थि।'**

जो द्रष्टा है, जिन्होने अच्छी तरह सत्य और असत्य का निर्णय जान लिया है और जिन्होने ज्ञान की पूर्ण भूमिका को प्राप्त करके पूर्ण रूप से परमार्थ को समझ लिया है, उन्हे किसी उपदेश की आवश्यकता नही है। वे उपदेश लेने के लिए नही, बल्कि देने के लिए है। जीवन मे जो कुछ प्राप्त करने योग्य था, उन्होने प्राप्त कर लिया है। उनके लिए मोक्ष भी दूर नही रह गया है। वहाँ तक पहुँचने के लिए

अब उन्हे शास्त्रो को टटोलने की कोई आवश्यकता नही रह गई है।

सामान्य साधक का आधार शास्त्र :

किन्तु जो साधक नीचे की भूमिका पर है, उसके लिए शास्त्र को बहुत बडा महत्त्व है। जो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए गति कर रहे हैं और साधु या गृहस्थ के रूप मे चल रहे है, वे शास्त्र के अतिरिक्त और किसके सहारे चल सकते है? ऐसे साधको के लिए एक महान् आचार्य ने कहा है **'आगमचक्खू साहू।'**

जो साधक साधना कर रहा है, वह तो शास्त्रो की ही आँखे लगाकर चलता है। शास्त्र से ही उसे पता लगता है कि कौन-सा मार्ग नरक का, महारभ का, हिंसा या निर्दयता का है और कौन-सा मार्ग स्वर्ग और मोक्ष का है? दया और करुणा का है?

नरक का मार्ग :

मानव जब क्रूर हिंसा मे सलग्न होता है। महारभ और महा-परिग्रह का पथ अपनाता है, लोभ और आसक्ति का शिकार होता है, तब वह नरक गति की राह पकड़ता है।

तिर्यंच का मार्ग :

मनुष्य की आँखे बाहर की चीजो को देख सकती हैं, किन्तु अन्तरंग के पुण्य-पाप को आसानी से नही देख सकती। जो जीवन अज्ञान मे पडा हुआ है और मालूम करना चाहता है कि तिर्यञ्च या पशु किन मार्गो से चलकर बनता है, तो शास्त्रो की आँखो से ही पता लगेगा कि छल, कपट, धोखा और पापाचार करने से, अर्थात् मन मे कुछ और आचरण मे और ही कुछ है, तो वहाँ तिर्यञ्च बनने का मार्ग तैयार हो रहा होता है। जीवन को इस प्रकार टुकडे-टुकडे करके बाँट देने से ही पशुयोनि मिलती है।

मानव जीवन का मार्ग :

शास्त्र की आँख से ही मालूम होता है कि जिसके हृदय मे दया और करुणा की लहर लहरा रही हो, बडो के प्रति आदर का भाव भरा हो और जो जीवन को सरल भाव मे रखता हो, वह निश्चय ही मनुष्य बनने की राह तय कर रहा है।

देव जीवन का मार्ग :

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि देवलोक के सुख और वैभव का अधिकारी कौन होता है ? देवलोक की ओर ले जाने वाली सडक कौन-सी है ? तो यह बात भी शास्त्र से ही जानी जा सकती है। कहा भी है

"सरागसंयम-संयमासयमा-कामनिर्जरा-बालतपांसि देवस्य ।"

तत्त्वार्थसूत्र

देवगति का कारण : सराग सयम :

वह साधु जो जीवन के नानाविध बंधनो को तोडकर आत्मा का आवरण हटाकर मोक्ष के मार्ग की ओर लक्ष्य किये बढ रहा था किन्तु अपनी साधना-जीवन की पूरी तैयारी न कर पाया, बन्धनो को नही तोड सका और रागभाव को पूरी तरह से नही छोड सका, तो उसे देवगति प्राप्त होती है ।

बात यो है कि श्रावक के रूप मे या साधु के रूप मे जो भी सयमी हैं, और जितना-जितना सयम का अंश उनमे विद्यमान है, वह उसे न नरक, न तिर्यंच की ओर न मनुष्यगति की ओर ले जाता है और न ही देवगति की ओर ले जाता है ।

यहाँ प्रश्न यह है कि फिर देवगति मे ले जाने वाले कौनसे कारण है ? उत्तर है कि सरागसयम और संयमासयम आदि ही देवगति के कारण हैं । अगर सयम ही देवलोक का कारण होता या सयमासयम ही कारण होता, तो यहाँ सयम के साथ 'सराग' विशेषण लगाया गया है, उसका क्या उद्देश्य है ? जैन शास्त्रो की यही विशेषता है कि वहाँ एक-एक अक्षर और एक-एक मात्रा बडे महत्त्व की चीज है, उसका बहुत बडा महत्त्व है । जब हम इस बात को ध्यान मे नही रखते हैं, तो काँटो मे उलझ जाते हैं ।

सराग सयम का अर्थ :

अत स्पष्ट है कि सरागसयम ही देवगति का कारण है। वीतरागसयम वीतरागता की ओर ले जाता है और सरागसयम स्वर्ग की ओर उन्मुख करता है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या सयम भी

कभी सरागी होता है? संयम तो राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए है, इनको नष्ट करने के लिए है। जितने-जितने अंश में राग-द्वेष कम हो जाता है, उतना ही उतना संयम बढ़ता जाता है। जैसे मिश्री कड़वी नहीं होती, अतः उसके लिए कड़वेपन का विशेषण नहीं लगाया जा सकता, उसी प्रकार संयम के लिए भी सराग विशेषण नहीं लगाना चाहिए। क्योंकि संयम राग-द्वेष को कम करने के लिए है न कि उसे और बढ़ाने के लिए। जितने अंश में संयम होगा, उतने ही अंश में राग-द्वेष कम होता जायगा। फिर भी शास्त्रकारों के सरागसंयम को देवगति का कारण कहा है, इसका क्या अभिप्राय है?

इसका अभिप्राय यह है कि जब तक साधक संयम की निम्न भूमिका पर चलता है, साधना कर रहा होता है, वह राग-द्वेष को कुछ कम तो कर लेता है, और उन पर कुछ विजय भी प्राप्त कर लेता है, किन्तु राग और द्वेष उससे पूरी तरह छूट नहीं पाता है, ऐसी स्थिति में, साधक जब तक रहता है, तब तक का उसका संयम देवगति का कारण होता है, मोक्ष का कारण नहीं। संयमी आत्मा में जो रागभाव अवशिष्ट रह जाता है, वही देवगति का कारण बनता है।

शास्त्रों में बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें निहित हैं। उनका ज्ञान गहरा चिन्तन और मनन करने से ही मिल पाता है। यह ठीक है कि उस संयमी का वह रागभाव कोई सांसारिक रागभाव नहीं होता। सामान्य जनों राग के समान वह कदापि नहीं होता। उसके लिए तो अध्यात्म जीवन के बहुत से ऊँचे-ऊँचे रागभाव है। किन्तु फिर भी राग तो राग ही है, जो बन्धनों को तोड़ने नहीं देता।

साधना की सफलता स्वयं चमकती है :

आपने सुना होगा कि गौतम गणधर एक बार कैलाश की ओर गए थे। वहाँ १५०३ तापस साधना कर रहे थे। कुछ तो केवल वनफल खाकर अपना निर्वाह कर रहे थे, कुछ सूखी घास के तिनके चबाकर निर्वाह कर रहे थे। और एक दल ऐसा भी था, जो न वनफल खाता या और न घास ही खाता था बल्कि निराहार रह कर साधना कर रहा था। सभी तापस अशक्त और जर्जर हो गये थे और एक तरह से उनके शरीर में हड्डियों के अतिरिक्त और कोई तत्त्व शेष नहीं रह गया था।

वे समस्त अंधेरे मे भटक रहे थे। उन्हे प्रकाश नही मिल रहा था। वे सोच रहे थे साधना मे इतने-इतने वर्ष गुजार दिये, किन्तु सत्य का दर्शन क्यो नही मिल रहा है ?

ज्यो ही गौतम उनके सामने पहुँचे, एक दिव्य ज्ञान का चमकता हुआ प्रकाश सहसा जगमगा उठा। सभी स्वागत मे तुरत खडे हो गये और कहने लगे, मालूम होता है, आपने कुछ पा लिया है ?

जिसने पा लिया हो, वह छिपा नही रहता। एक आदमी दो-चार दिन का भूखा हो और दूसरो के सामने लम्वी-लम्वी डकारे ले तो क्या उसकी स्थिति छिप सकती है ? तात्पर्य यह कि भूखे की डकारें और तरह की होती है तथा भोजन किए हुए की और तरह की। इसी प्रकार जो अज्ञानी है, वह कितना ही ज्ञानी होने का दंभ करे, किन्तु उसकी अज्ञानता छिपी नही रहती। और, जिसको ज्ञान मिल चुका है, सत्य की रोशनी मिल चुकी है और जिसका जीवन ऊँचा उठ चुका है, उसके चेहरे से, उसकी वाणी से ऐसा मालूम होगा कि वह साधक ज्ञान के अखड आनन्द मे झूम रहा है और ऐसा महान् आत्मा जिस गली-कूचे मे से निकलता है, सत्य की रोशनी बिखेरता चलता है।

गौतम स्वामी मे ज्ञान की अपूर्व आभा थी। उन्हे देख कर तापस कहने लगे जान पडता है, इनको वह चीज मिल गई, जिसकी खोज मे हम सव है। ये परमार्थ को पा गये हैं। यहाँ एक पुरानी वाणी याद आती है

"ब्रह्मविद् इव ते सौम्य ! मुखमाभाति।"

प्रकाश प्राप्त साधक का मुख मडल ऐसा चमक रहा है, जैसे इसने परमब्रह्म के रहस्य को ज़ान लिया हो !

तव सभी तापस साग्रह कहने लगे—आपने जो पाया है, वह हमे भी वताने की कृपा करे।

गौतम वोले क्या वतलाऊँ !

"अहो कष्टमहो कष्टं, पुनस्तत्वं न ज्ञायते।"

सत्य की प्राप्ति का मार्ग

गौतम कहते है कष्ट तो वहुत झेले, परन्तु समीचीन साधना

का रूप नही पा सके। इससे बड़े कष्ट और क्या होगे कि जीवन को होम देने की तैयारियाँ हो चुकी है! फिर भी सत्य तत्त्व की उपलब्धि नही हो पाई। इसका कारण यही है कि सत्य कही और जगह है और तुम्हारे कदम कही और पड रहे है। तुम शरीर से तो लड रहे हो, किन्तु मन से नही लड पाते। तुमने शरीर की हड्डियो को गला-गला कर नष्ट कर दिया, तो भी क्या हुआ? सत्य के द्वार पर तो नही जा सके। ऐसे मे सत्य कभी भी नही मिलने वाला है!

सघर्ष का अनिश्चित आधार :

हम कर्मो से जूझ रहे है, कर्मो के बधनो को तोडने के लिए लड रहे है, और विकारो से सघर्ष कर रहे हैं, किन्तु हम मे से कुछ की यह स्थिति भी है कि वे साँप से तो लडने चले है, किन्तु साँप का उन्हे पता ही नही है। कह कहाँ है? वे अन्धाधुन्ध साँप की बाँबी पर ही लाठियाँ बरसा रहे है। यदि साँप के घर पर लाठियाँ बरस रही है तो इससे साँप का क्या बिगडता है। वह तो गहराई मे बैठा हुआ है। जब तक उसको पकडने की कल नही सीखी जाएगी, तब तक साँप को नही पकडा जा सकता।

ज्ञानी और अज्ञानी की साधना :

हमारा शरीर साँप की बाबी है और मन साँप है। हमारी साधनाए शरीर को तो दुर्बल बना देती है, किन्तु मन पर उनका कुछ भी असर नही होता। इस रूप मे चलने वाली लम्बी से लम्बी और कठोर से कठोर साधना भी कोई अभीष्ट फल नही दे पाती। वह निष्फल हो जाती है और साधक उद्विग्न हो जाता है, ऊब जाता है। और वह फिर साधना के प्रति अनास्थाशील बन जाता है। यही कारण है कि ज्ञानी और अज्ञानी की साधना मे महान् अन्तर होता है। कहा भी है

> "ज अन्नाणी कम्म खवेइ बहुयाइ वासकोडीहि।
> त नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण ॥"

एक अज्ञानी और विवेकहीन साधक, जिसने अपनी आत्मा को पहचाना और परखा नही है, जो आत्मा के निकट तक नही पहुँचा है, जिसे आत्मा की झाँकी नही मिली है, वह लाखो-करोडो वर्षो तक तप

करके शरीर को गला-गला कर जितने कर्मों को खपा पाता है, उतने कर्मों को, ज्ञानी साधक, जो विवेकशील है, विचारशील है, जिसे ज्ञान का प्रकाश मिल गया है, जो मूल रूप मे अपनी आत्मा को समझ गया है जिसने जगत् के साथ प्रेम और दया का मीठा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, वह अत्यन्त अल्पकाल मे ही खपा डालता है।

ज्ञानी और अज्ञानी मे इतना अतर है! जिन कर्मों का क्षय करने के लिए अज्ञानी को करोडो वर्षो तक जूझना पडता है, ज्ञानी उन्हे एक साँस मे क्षय कर डालता है! यही बात दौलत रामजी ने कही है

"कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरें जे,
ज्ञानी के क्षण मे त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते।"

जैन धर्म और साधना :

जैनधर्म की साधना, एक विशिष्ट साधना है, कोरा कष्टसहन नही। वह ज्ञान के साथ चलती है, अज्ञान के साथ नही। सत नरसी मेहता ने ठीक ही कहा है

"ज्या लगी आत्मातत्व चीन्यो नहीं,
त्यां लगी साधना सर्व झूठी।"

जबतक आत्मा का पता नही पाया, आत्मा की सही आवाज नही सुनी, नही जाना कि अन्दर मे कौन विराजमान है? वहाँ परमात्मा का रूप है या राक्षस का? और जब विश्व की आत्माओ को स्नेह, प्रेम और मित्रता की आँखो से देखने की कला नहीं सीखी है, तबतक जितनी भी साधनाएँ है, सब झूठी हैं। वे साधनाएँ नही, कोरा कष्ट है!

गौतम स्वामी ने तापसो की उन कठोर साधनाओ के विषय मे कहा है कि कष्ट तो बहुत बडा है, किन्तु सत्य का मार्ग नही मिला है! आखिर महाप्रभु की वाणी ने उनके अन्दर के पट खोले और ज्ञान का चमचमाता हुआ प्रकाश उन्हे मिला। और इस प्रकार १५०३ तपसो की आँखे खुल गई। फिर गौतम उनको लेकर भगवान् महावीर के दर्शन कराने चले। गौतम रास्ते मे उनसे कहने लगे मुझको तुमने बहुत समझ लिया है, परन्तु मैं तो कुछ भी नही हूँ। मैंने तो ज्ञान-सागर के किनारे बैठ कर अभी तक शख और सीपियाँ ही देख

पाई है। रत्नो का भण्डार तो तुम्हे मेरे गुरु के पास मिलेगा। वास्तव मे जीवन की कला सीखनी है, तो उन महाप्रभु से ही सीखना।

जब मनुष्य का मन ससार के विषय-विकारो से हट जाता है, आत्मा की झाँकी पाने लग जाता है, और सत्य मार्ग पर दौड लगाने लग जाता है तो मोक्ष दूर ही कितना रह जाता है ?

राम ने लका पर चढाई करने से पहले वानर-वीरो से प्रश्न किया लका कितनी दूर है ? तब जाम्बवन्त ने, जो वानर सेना का सेनापति था, उत्तर दिया—जो कायर है, बुजदिल है और जिसके जीवन मे साहस नही है, उसके लिए लका बहुत दूर है, जन्म-जन्मान्तर मे भी वह वहाँ तक नही पहुँच सकता। किन्तु जिनके जीवन मे साहस है, बल का झरना अजस्र प्रवाहित हो रहा है और जो अपना सर्वस्व होम करने को उद्यत हो गए है, उनके लिए लंका कुछ भी दूर नही है !

सेनापति ने सेनापति के योग्य ही उत्तर दिया था, और तब राम ने सन्तोप के साथ कहा तब तो निश्चय ही हमारे लिए लंका दूर नही है।

राम के पास असीम साहस था। राज सिहासन ले या नही, यह निर्णय करने मे उन्होने एक भी मिनट नही लगाया था। वह तत्काल फैसला करके वन को चल पडे थे। और, अब भी उसी साहस के साथ तत्काल निर्णय कर लिया कि वह लंका जाएँगे और सीता को मुक्त करके रहेगे।

अत यह निश्चित है कि जब साधक साधना के मार्ग पर अविचल भाव से चल पडता है, तो मोक्ष उसके लिए कोई दूर नही रह जाता।

सचमुच मोक्ष दूर नही है। केवल आत्मा का पथ बदलना है और उसके बदलते ही अनेको जन्म बदल जाते है। जब आत्मा मे तरगे पैदा हो जाती है, जब आध्यात्मिक रस का झरना मन के कण-कण मे झरने लगता है, तो वह सारे कूडे-कर्कट को बहा कर दूर कर देता है। और उस समय मोक्ष दूर नही रह जाता है।

माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे-बैठे अन्तर्मुहूर्त मे ही मोक्ष प्राप्त कर लिया था। इस विपय मे भगवान् महावीर का चिन्तन गजब का है। भगवान् के पास एक साधक आता है, जिसने विपय-वासना के

वशीभूत रह कर सारी जिन्दगी बिता दी है और अब ढलती उम्र है, सिर का एक-एक केश पक गया है, उसने आज ही प्रवचन सुना तो रोने लगा आह! कल्याण कैसे होगा? मैंने तो सारी जिंदगी धूल मे मिला दी है! और अब मेरा क्या होगा?

और भगवान् उसे प्रतिबोध देते है—हताश मत हो, निराश मत हो! अब भी क्या बिगड गया है? तेरा मन जाग गया है, तो तू अब भी वह चीज प्राप्त कर सकता है, जो सारी जिंदगी नही प्राप्तकर सका। कहा है

"पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छति अमरभवणाइं।
जेंसि पियो तव संजमो य खंती य बंभचेरं च॥"

दशवैकालिक सूत्र, ४

बहुत पीछे से ढली हुई उम्र में, और तो क्या, आखिरी साँसो में भी जो इस धर्म के मार्ग पर आया है, बाहर से ही नही भीतर से आया है, जिसको वास्तव मे अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और त्याग-वैराग्य से प्रेम उपजा है। और जिसने इनके साथ नाता जोड लिया है, उसे बहुत लम्बे समय की आवश्यकता नही, उसे जीवन मे सँभलने के लिए दो-चार साँस भी मिल जाएँ, तो वह भी अमरलोक मे जा सकता है। वह स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जीवन का श्रेय और समय :

जीवन के श्रेय के लिए वर्षो और महीनो का कोई हिसाब नही है। वहाँ तो दिशा बदल जाने का ही प्रश्न है। दिशा बदल जाती है तो दशा तत्काल बदल जाती है।

हाँ तो १५०३ साधक ज्यो ही भगवान् के निकट पहुँचे कि उनको केवल ज्ञान हो गया। फिर भी गौतम उन्हे शिक्षा देते जा रहे है। जब वे समवसरण मे पहुँचे तो गौतम ने प्रभु को पहले नमस्कार किया और सोचा कि ये पीछे करेंगे। किन्तु उन केवलियो ने तीर्थंकर को तीन प्रदक्षिणाएँ दी और केवल ज्ञानियो की परिषद् मे जाकर बैठ गये। जब गौतम ने यह देखा तो कहा तुम लोग भगवान् की आसातना कर रहे हो! आओ वन्दना करो और उधर नही, इधर बैठो!

भगवान् बोले गौतम! केवल ज्ञानियो की आसातना मत करो।

इन्हे जहाँ बैठना चाहिए था, वही ये बैठ गये है, ये अयोग्य जगह पर नहीं बैठे है। ये सत्य के साक्षात् द्रष्टा है, अत इन्हे उपदेश की आवश्यकता नही है, इनके लिए उपदेश नही है

"उद्देशो पासगस्स नत्थि।"

गौतम ने कहा क्या, प्रभो! इन्हे केवलज्ञान हो गया?

भगवान् बोले हाँ गौतम! इन्हे केवल ज्ञान हो गया है।

यह सुनकर गौतम को हर्ष भी हुआ और साथ ही साथ मन के एक द्वार से विषाद के भाव भी अदर मे प्रवेश कर गए। वह सोचने लगे है--'अभी-अभी मैं इन्हे लाया हूँ! ये अज्ञान अन्धकार मे भटक रहे थे और कुछ भी नही समझ रहे थे। मैंने इन्हे सत्य की एक प्रेरणा दी और इन्होने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया! और एक मैं हूँ जो चिरकाल मे साधना कर रहा हूँ और प्रभु के इतने निकट आ चुका हूँ, फिर भी केवलज्ञान नही पा रहा हूँ! तो मेरे लिए यह द्वार बंद क्यों है? मैं उस परम सत्य को पा भी सकूँगा या नही?'

कुछ इसी प्रकार की भावना गौतम के मन मे जागी और उन्होंने भगवान् से निवेदन किया। तब भगवान् ने कहा

"तिण्णो हु सि अण्णवं मह, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पार गमित्तए, समयं गोयम! मा पमायए॥"

उत्तराध्ययन १०

हे गौतम! तुम महासमुद्र को लाँघ चुके हो, अब बिल्कुल किनारे पर हो। जहाँ छिछला पानी है, वहाँ तुम्हारे कदम पहुँच चुके है और किनारा तुम्हारे सामने है। तुम क्यों नही छलाग लगा लेते हो? समय मात्र का प्रमाद ही तो जीवन की प्रगति को रोके रहता है और जब वह नहीं रहता है तो केवलज्ञान की भूमिका प्राप्त हो जाती है।

गौतम बोले 'प्रभो! वह प्रमाद क्या है?'

भगवान् ने कहा 'तुम्हारी साधना ऊँची है और इतनी ऊँची है कि उसकी समानता अन्यत्र मुश्किल से ही मिल सकती है। किंतु तुम्हारा प्रमाद यही है कि मेरे प्रति, तुम्हारे मन मे रागभाव विद्यमान है। जब तक मेरे प्रति स्नेह और राग का भाव तुम्हारे अन्त करण से दूर नही

होगा, तुम केवलज्ञान की भूमिका पर नहीं पहुँच सकोगे। साधना का चरम स्वरूप यह है

"मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः।"

आत्मविकास की उच्चतर भूमिका पर पहुँचे हुए मुनि के मन में संसार के प्रति निस्पृहता भाव तो आ ही जाता है, मोक्ष की कामना भी उसके मन से दूर हो जाती है। वह मोक्ष की भी इच्छा से अतीत हो जाता है **"यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।"**

मोक्ष का अधिकारी कौन ?

जिसके अन्तर में मोक्ष की भी इच्छा शेष नही रहती है, वही मोक्ष का अधिकारी होता है। जब तक मोक्ष पाने की इच्छा बनी हुई है, मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष के लिए मोक्ष पाने की इच्छा का भी परित्याग करके, परिपूर्ण निस्पृहभाव धारण करना होता है।

भगवान् कहते है 'गौतम! केवलज्ञान पाना है तो तुम्हे मेरे प्रति अनुराग के बन्धन को भी तोड कर फेक देना होगा। यही बन्धन केवलज्ञान की प्राप्ति मे बाधक है।

प्रश्न हो सकता है कि राग नही होगा तो तीर्थ करो का गुणगान कैसे किया जाएगा? अन्तर के राग भाव से स्तुति और वन्दना की जाती है। राग न रहेगा तो यह सब किसकी प्रेरणा से किया जायगा?

मैं समझता हूँ, वन्दना, स्तुति और साधना जो कुछ भी करो, वह श्रद्धापूर्वक मात्र कर्त्तव्य की प्रेरणा से करो, अनुराग और स्नेह की प्रेरणा से मत करो। अपनी किसी भी साधना के साथ मोह और राग को मत जोड़ो। साधना के लिए मोह कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है।

इसीलिए जैनशास्त्र कहते हैं कि साधक तू जब साधना के मार्ग पर चले तो समभाव लेकर चल। संसार और मोक्ष के प्रति भी समभाव रख। तू जब तक संसार मे है तब तक भोगावली कर्म का उदय है। और वह तुझे भोगना पडेगा ही। क्यो उद्विग्न होता है कि मैं अभी तक संसार मे पडा हूँ! मोक्ष क्यो नही मिल रहा है! मोक्ष की ओर तेरी जो यात्रा है, वह बन्धनो को तोडने के लिए है। बन्धनो को तडतड़ तोडे जा। उकताता क्यो है? जल्दी ही मोक्ष पा लेने की बुद्धि और

चिन्ता मन मे मत रख । जब तेरा अन्तःकरण निस्पृहता की चरम सीमा को छूने लगेगा, राग से मुक्त हो जाएगा और पूरी तरह समरस बन जाएगा तो जीवन का कल्याण अपने आप हो जायगा, मुक्ति स्वत प्राप्त हो जाएगी । वीतरागभाव ही परमकल्याण का मार्ग है । इससे भिन्न कोई दूसरा मार्ग नही है ।

अशुभ, शुभ और शुद्ध दशाएँ :

राग से छुटकारा पाने का क्या उपाय है? शास्त्रकारो ने जीवो की आन्तरिक स्थिति का तीन भागो मे वर्गीकरण किया है । उन्हे अशुभ दशा, शुभ दशा और शुद्ध दशा कहते है और शास्त्रो की भाषा मे अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग कह सकते है

"परिणति सब जीवन की तीन भाँति वरणी ।
एक पुण्य, एक पाप, एक रागहरणी ॥"

मनुष्य जो बुराइयो मे और विषय-विकारो मे चलता है, अपने जीवन को ससार की वासनाओ मे भटकाता है, और भोग-विलासो मे आसक्ति रखता है, वह उसकी अशुभदशा है और वह नरक तथा तिर्यच गति का कारण है । इस अशुभ दशा से जब वह ऊँचा उठता है तो शुभदशा मे आता है । इस दशा मे वह अशुभ विचार नही रखता है, पाप की भावना से अलग हो जाता है, परोपकार, सेवा, दान आदि के शुभ सकल्प करता है फिर भी राग भाव से सर्वथा छुटकारा नही पाता । अप्रशस्त राग के स्थान पर प्रशस्त राग के मागलिक रंग से उसका अत करण रंगा रहता है । वह वीतराग देव और धर्म के प्रति राग रखता है । यह प्रशस्त राग मनुष्य को उस ऊँचाई तक ले जाता है, जहाँ स्वर्ग लोक है किन्तु इससे ऊपर एक और अवस्था है, जिसे शुद्धोपयोग और शुद्धदशा कहते है । शुद्धोपयोग आने पर न अप्रशस्त राग रहता है, न प्रशस्त राग ही रह जाता है ।

अशुभदशा पाप का कारण है, शुभदशा पुण्य का कारण है । और शुद्धदशा पाप और पुण्य-दोनो को काट कर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करने वाली है ।

भगवान् महावीर मे कौन सा राग था ? दोनो मे से एक भी नही था । यदि राग का कुछ भी अश होता तो केवलज्ञान की भूमिका

ही उन्हे प्राप्त नही होती। बारहवें गुणस्थान मे, जब प्रशस्त राग भी धुल जाता है तभी तेहरवे गुणस्थान में केवलज्ञान की भूमिका प्राप्त होती है।

यह जीवन के उत्थान के सोपान हैं। अशुभ परिणति से बचने के लिए शुभ परिणति मे जाना अच्छा है, परन्तु उसे ही जीवन का चरम लक्ष्य, विकास की चरम सीमा और उन्नति की पराकाष्ठा न मान ले। हमारा लक्ष्य तो उस दशा को प्राप्त करना है, जहाँ अशुभ भी नही है, शुभ भी नही है, जहाँ लोहे की बेडियाँ भी नही है और सोने की बेडियाँ भी नही है। आत्मा अपने सहज स्वरूप मे है, निजानन्द मे लीन है, और किसी भी प्रकार का औपाधिक भाव नही है।

बेडी चाहे सोने की हो, चाहे लोहे की हो, बेडी आखिर बेडी ही है। सोने मे चाँदी मिला दी जाय तो सोना खोटा कहलाता है। और यदि चाँदी मे सोना मिला दिया जाय तो वह भी क्या खोटा नही कहलाएगा? वह खोटा ही है क्योकि वह अपने असली शुद्ध स्वरूप मे नही है। किसी भी वस्तु मे जब दूसरी वस्तु का सम्मिश्रण या लगाव हो जाता है, तो वह शुद्ध (pure) नही रह जाती है।

एक कपडा मूल मे स्वच्छ है, सफेद है, और उसे बढिया बनाने के लिए यदि कोई केसरिया रग चढाता है, तो भले उस रग से वह कपडा बढिया दिखाई देने लगे, किन्तु है वह कपडे का विकार ही। हाँ, उसे आप शुभ विकार कह सकते हैं, जबकि कोयले का रग अशुभ विकार है। परन्तु वस्त्र का अपना मूल रूप तो दोनो ही रगो मे नही है।

बात यही है कि कोई वस्तु कितनी ही अच्छी क्यो न हो, उसमे विजातीय तत्त्व का मिश्रण होते ही वह अशुद्ध बन जाती है, विकृत हो जाती है।

इस दृष्टि से हमे आत्मा को भी अपने शुद्ध स्वरूप मे लाना है, अत उसे शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के विकारो के मुक्त करना है। चाहे हम ऊँचा उठने के लिए थोडी देर के वास्ते, नीचे की दशा का सहारा ले ले, पर अतत उस सहारे को छोडना ही पडेगा।

ससार के साधारण प्राणी अशुभ उपयोग मे रम रहे है। उन सबसे यह आशा नही की जा सकती कि वे एकदम ऊँची और

लम्बी छलॉग भर कर शुद्ध दशा मे पहुँच जाएँगे। उसके लिए तो गहरा मथन करना पडता है। उसके समानान्तर पूर्ववर्ती भूमिका शुभदशा है और शुभदशा के पश्चात् ही शुद्ध दशा प्राप्त होती है। यही कारण है कि ससारी प्राणियो को अशुभ दशा से छुटकारा पाने के लिए शुभ दशा का उपदेश दिया जाता है।

कोई व्यक्ति कोयले से कपडे को काला कर रहा है, तो उसे आप क्या कहते हैं? यही न कि भाई, क्यो कपडे का सत्यानाश कर रहा है? रगना ही है तो अच्छे (शुभ) रग से रग!

इसी प्रकार ज्ञानीजन कहते है हे जगत् के जीवो! अशुभ भावनाओ, विचारो, सकल्पो और अध्यवसायो के कोयले से अपनी आत्मा को मलिन मत करो। मन को विकल्पो से रोक नही सकते तो शुभ विकल्पो के केसरिया रग से ही उसे रगो!

पाप और पुण्य :

पाप और पुण्य के विषय मे कई आचार्यों का चिन्तन और मनन हमारे सामने है। उन्होने यही निष्कर्ष निकाला है कि पाप का बन्धन अशुभ दशा मे होता है और पुण्य का बंधन शुभ दशा मे होता है। बुराई की ओर ले जाने वाला पाप है और अच्छाई की ओर ले जाने वाला पुण्य है। इस प्रकार एक अशुभोपयोग है और दूसरा शुभोपयोग है। किंतु है दोनो आस्रव ही।

हम पुण्य की भाषा मे सोचने के इतने आदी हो गये है कि आत्मा को शुद्ध करने वाली निर्जरा को अधिकाश भूला बैठे है। पुण्य तो पाप से बचने के लिए, थोडी देर का सहारा है।

एक मनुष्य गदी नालियो के किनारे घूम रहा है। दुर्गन्ध से उसकी नाक फटी जा रही है। तब उससे कहा जाता है 'तुझे सैर करनी ही है तो फूलो के बाग की सैर क्यो नही करता? क्यो गदी नालियो के किनारे चक्कर काट रहा है?' यही बात पाप से पुण्य की ओर जाने के सम्बध मे है।

हमारे समस्त पडोसी धर्मो ने अधिकतर पुण्य और पाप की भाषा मे ही सोचा है, किन्तु जैनधर्म इन दोनो के अतिरिक्त तीसरी बात को भी बहुत अधिक महत्त्व देता है। वह क्या है? वह है जिसे धर्म,

निर्जरा और शुद्धोपयोग कहते है।

भारत के पुराने धर्मों मे एक मीमासा धर्म है, जो वेदो का जबर्दस्त समर्थक एव अनुयायी रहा है और यज्ञ-योग आदि क्रियाकाण्ड का हामी रहा है। गौतम आदि ग्यारह गणधर भी पहले इसी धर्म से सम्बन्ध रखते थे। भगवान् महावीर से पहले यह एक विराट् धर्म माना जाता था। किन्तु वह पुण्य आर पाप इन दो ही तत्त्वो मे अटक गया था, नरक और स्वर्ग तक ही पहुँच पाया था। उसने कहा कि जो असत् या दुष्ट कर्म करते हैं, बुराइयो मे लगे हुए है और दुनियाँ भर के विकारो मे फँसे हुए हैं, वे नरक के भागी होते है। इस प्रकार पाप का फल नरक बता कर लोगो को पाप से हटाने का प्रयत्न किया और कहा कि पाप जीवन का लक्ष्य नही है, लक्ष्य है पुण्य। विचारणीय यह है कि जब पाप का फल-नरक लक्ष्य नही है, तो नरक का कारण पाप भी कैसे लक्ष्य हो सकता है?

मनुष्य जो भी काम करता है, फल के लिए करता है। अस्तु जो फल मनुष्य को अभीष्ट नहीं है, जिसे वह अच्छा नही समझता है, उसको पाने के साधन को भी वह अच्छा क्योकर समझेगा? अर्थात् पाप का फल हमे अभीष्ट नही है, तो पाप भी अभीष्ट नही है। इस रूप मे पाप का फल नरक बतलाकर मनुष्य को पाप से हटाने का प्रयत्न किया।

मीमासा के अनुसार दूसरा जीवन स्वर्ग का है। जो भी सत्कर्म किये जाते हैं, यज्ञ-योग, दान, सेवा आदि प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, किसी को सहायता दी जाती है, प्रभु का नाम लिया जाता है, इन सब सत्कर्मो का परिणाम स्वर्ग है। मतलब यह कि हम जो भी पुण्य के काम करते है, उनका फल शुभ होता है और स्वर्ग के रूप मे हमे मिल जाता है।

इस प्रकार स्वर्ग अभीष्ट है, तो पुण्य भी अभीष्ट होना चाहिए। इस रूप मे जीवन की दूसरी धारा स्वर्ग मे जाकर अटक गई है और जीवन दो किनारो मे बन्द हो गया है। जीवन के एक ओर पाप है और दूसरी ओर पुण्य है, एक तरफ नरक और दूसरी तरफ स्वर्ग है।

किन्तु स्वर्ग से भी ऊँची कोई चीज है और स्वर्ग के देवताओ के सिंहासन से भी ऊपर कुछ है, मीमासा ने इस तथ्य का विवेचन नही

किया। उसकी दृष्टि उस ऊँचाई तक नही पहुँच सकी और उसने उसके सम्वन्ध मे इन्कार कर दिया।

आज आर्य समाज की जो धारणाएँ है, वे भी पुण्य और पाप तक पहुँच कर ही अटक गई हैं। आर्य समाज ने मीमासा धर्म की पुरानी परम्पराओं को भी पूर्ण रूप मे स्वीकार नही किया है, वल्कि पुण्य-पाप के रूप मे ही उसने अपनी धारणाओं को निश्चित कर लिया है। माना गया है कि पुण्य करने से उत्थान और पाप करने से पतन होता है। जैसे झूले मे झूलने वाला कभी ऊपर और कभी नीचे आता है, झूले पर वह अपना लक्ष्य स्थिर नही कर पाता है, इसी प्रकार जीवन का भी कोई लक्ष्य स्थिर नही है।

इस रूप मे, जैसा कि मैंने कहा है कि मीमासा धर्म और दूसरे सायी-धर्म पुण्य और पाप के रूप मे सोचते है, इनसे भी ऊपर जो महामार्ग है, उसे वे नही देखते। किन्तु जैनधर्म ने पुण्य और पाप से भी अलग एक और मार्ग ढूँढा है। जैनधर्म कहता है कि जवतक जीवन का किनारा नही पाया जाता है, और पुण्य तथा पाप मौजूद होता है, आत्मा कर्मों के उस महासागर मे ही थपेडे खाती रहेगी, ऊपर आएगी और फिर डूबने लगेगी, वह कभी ऊपर और कभी नीचे आती जाती ही रहेगी। और, इस रूप मे यदि हम जीवन की समस्याओं को नापने चलेंगे तो अनन्त-अनन्त काल तक भी डूबना और उतराना ही होता रहेगा। ऐसी दशा मे जीवन का कोई भी लक्ष्य स्थिर नही होने वाला। लक्ष्य को स्थिर करने मे जो एकमात्र आधार है, वह धर्म है। अत. पाप और पुण्य से भी ऊपर जो मार्ग है, वह धर्म का मार्ग है।

योगदर्शन के भाष्यकार भी दो ही चीजो को मान कर चलते है। पातजल योगदर्शन भाष्य मे कहा गया है

"चित्तनदी उभयतो वाहिनी वहति पुण्याय, वहति पापाय च।"

अर्थात्—चित्त या मन की नदी दो ओर वहती है। वह पुण्य की ओर भी वहती है और पाप की ओर भी वहती है। इसका अर्थ यह है कि वह पुण्य और पाप के दोनो तटो के वीच ही सीमित है। इनसे अलग तीसरी कोई राह नही है। किन्तु जैनदर्शन इससे सहमत नही है। वह कहता है कि हमारा अन्तर्जीवन, जहाँ सघर्ष चलते रहते

हैं और कभी उठती हुई और कभी बैठती हुई लहरे होती है, वह गरजता हुआ महासागर है। वहाँ जीवन की धारा तीन रूप मे बहती रहती है अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग।

एक मनुष्य हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यभिचार करता है, परिग्रह या सचय करता है। क्रोध, मान, माया और लोभ के विकारो मे फँसा रहता है, उसके जीवन की धारा कलुषित रहती है, उसमे से दुर्गन्ध आती है, और जब वह इस रूप मे रहता है, तो अशुभोपयोग मे रहता है। वहाँ भी चिन्तन और ज्ञान है, किन्तु वह ऐसे पानी के समान है जो गदी नाली मे वह रहा है।

अतत जो गदी नालियाँ है, जो शहर भर की गदगी ढोती है, और जो दुर्गन्ध वहाती चल रही हैं, कोई पूछे कि उनमे पानी है या नही? मेरा उत्तर होगा।

'हाँ, पानी तो है। पानी न हो तो वह वहे कैसे? और उस गंदगी को लेकर चले कौन?' उनमे पानी तो मानना ही पडेगा, किंतु उस पानी मे गदगी भर गई है, कूडा-कचरा मिल गया है।

इसी प्रकार चेतना पाप मे भी है। मनुष्य हिंसा करता है तो हिंसा करने मे उसका जो निज का गुण है, ज्ञानशक्ति है और अदर चेतना है, वही उस कूडे-कचरे को वहाये जा रही है। अगर यहाँ उपयोग-अशुभोपयोग न हो तो पाप का कोई अर्थ ही नही रहता। आखिर जड तो पापकर्म नही करता और न पाप-पुण्य का वन्ध ही करता है, चेतन ही पाप और पुण्य का बन्ध करता है।

एक इन्सान लाठी से किसी का सिर फोड देता है, तो सिर फोडने का पाप लाठी को नही लगता, इन्सान को ही लगता है। ऐसा क्यो होता है? सिर तो लाठी ने ही फोडा है, फिर लाठी को पाप क्यो नही लगता? लाठी पाप की भागिनी नही होती और न ही जो उसके पीछे हाथ है, वही पाप के भागी होते है। पाप तो हाथ वाले को इन्सान को ही लगता है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ चेतना है, वहाँ पाप भी, पुण्य भी और धर्म भी होगा। और जहाँ चेतना नही है, वहाँ तीनो ही चीजे नही है। क्योकि हिंसा और असत्य के पीछे भी ये ही वृत्तियाँ हैं और उन्ही

वृत्तियो एव भावनाओ को हम चेतना कहते हैं।

इस प्रकार आत्मा का स्वभाव जो उपयोग है, उसमे जब हिंसा, असत्य, चोरी और व्यभिचार आदि की गदगी मिल जाती है, इनके मिलने से वह उपयोग गदा हो जाता है और जब वह उस गदगी को लेकर चलता है, तब वह अशुभोपयोग कहलाता है।

दूसरा सोपान शुभोपयोग है। शुभोपयोग, अशुभोपयोग से निराला है और उसमे पापो की गदगी नही है, किन्तु वह भी आत्मा की स्वाभाविक परिणति नही है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य अशुभ से हटता है अर्थात् बुरी वृत्तियो और बुरे सकल्पो से दूर हो जाता है और शुभ सकल्प ले लेता है, किन्तु उनमे रग डाले बिना नही रहता। जीवन मे पवित्र सकल्प और ऊँचे सिद्धान्त गूँजने लगे, वह दुखियो की सेवा और सहायता के लिए भी दौडे, और उनके आँसू पोछने को भी चले। जीवन मे जहाँ कही रहे, नम्र होकर रहे, इस प्रकार हम देखते है कि उसने शुभ की साधना की। और गृहस्थ या साधु के रूप मे अपने जीवन को ऊँचा उठाया है। वह जीवन मे पापो की गदगी तो नही मिला रहा है, फिर भी रग डालता है। तसवीर बनाता जाता है और रगरोगन मिलाता जाता है। इससे इतना सौन्दर्य निखार देता है कि हरतरफ चकाचौंध हो जाती है, फिर भी इस पानी मे पानी का अपना मूल रूप तो वह नही कहा जा सकता।

गदी नाली के पानी मे जो गदगी थी, वह इस पानी मे नही है। अतएव गदे और दुर्गन्ध वाले पानी की अपेक्षा, इस पानी की स्थिति ऊँची है। यानी एक आदमी गदी नाली का पानी लेकर मकान को पोतने लगा और दूसरा स्वच्छ पानी मे रग डाल कर पोतने लगा, दोनो मे भेद जरूर है, किन्तु फिर भी दोनो ही जगह पानी के निज का रूप नही है।

तो, पुण्य के साथ जो चेतना और उपयोगधारा है, वह अशुभ की अपेक्षा अच्छी है और ऊँची है। फिर भी कहना चाहिए कि वह पानी का असली रूप नही है—आत्मा का सहज स्वरूप नही है। वहाँ भी अन्त चेतना अपने असली रूप मे व्यक्त नही हुई है।

जहाँ तक जैनदर्शन का सम्बन्ध है, उसने ससार को पूरी तरह

माप लिया है। उसने बतला दिया है कि ससार मे ऊँची से ऊँची जगह कौन-सी है और नीची से नीची जगह कौन-सी है ?

हमे इस तथ्य को विस्मरण नही कर देना चाहिए कि पाप और पुण्य दोनो की भूमिका ससार है और जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, उसमे कोई समझौता नही हो सकता। आखिरकार दोनो ही ससार के दो किनारे हैं। मान लीजिए, किसी को समचतुरस्त्र सस्थान मिला और किसी को कोई दूसरा सस्थान मिला तो इससे क्या हो गया ? शरीर की रचना मे ही तो फर्क हुआ ?

एक आदमी सुख भोग रहा है और एक दु ख भोग रहा है। दोनो को अपनी-अपनी करनी का फल मिल रहा है और दोनो ही ससार की भूमिकाएँ हैं, यह कोई मोक्ष की भूमिका नही है।

जहाँ ससार का प्रश्न है, वहाँ अशुभ और शुभ दो धाराएँ है, किन्तु जहाँ अध्यात्म का प्रश्न है, वहाँ एक तीसरी धारा है, और इसी तीसरी धारा को हम शुद्धोपयोग कहते हैं। वह पाप और पुण्य से अलग और ऊँची एक परम पावन धारा है। आत्मा जबतक पाप और पुण्य की धारा मे बह रही है, तबतक वह ससार की ओर बह रही है और जब वह शरीर की ओर से हट कर अपने घर की ओर आती है, तब उसका घर की ओर जो कदम है, वह पाप या पुण्य का कदम नही, अपने घर का अर्थात् मोक्ष का कदम है।

इसी कारण मैं कहता हूँ कि जितना पवित्र आचरण है, वह पाप या पुण्य के उदय से नही है। सासारिक सुख और दु ख, पुण्य-पाप का कार्य है, परन्तु सयम नही। किसी साधक ने श्रावकपन अगीकार किया और अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि पालने का नियम लिया है तो वह किस पुण्य के उदय से लिया है ? कौन-सा पुण्य है, जिसके उदय से समकित मिलता है ? पुण्य की ४२ प्रकृतियो मे कौन-सी प्रकृति सम्यक्त्व को उत्पन्न करती है ?

साथ ही जो साधुता की राह पर, अहिसा और सत्य की राह पर चल रहा है, वह किस पुण्य के उदय से चल रहा है ? मैं क्षमापणा कर रहा हूँ, ब्रह्मचर्य पाल रहा हूँ और नम्र, उदार तथा सरल हूँ, तो किस पुण्य के उदय से हूँ ?

किसी भाई से जब व्रत-प्रत्याख्यान, नियम वगैरह के लिए कहा जाता है, तो वह कहता है जब शुभ कर्म का उदय होगा, तब तो यह मिल पाएगा। और, जब श्रावकपन या साधुपन की बात कहते है, तो वह कहता है कि कहाँ हमारे सत्कर्म का उदय है? और हमारे ऐसे पुण्य कहाँ है कि हम साधु अथवा श्रावक बन पाएँ? एक नही हजारो ही लोग ऐसा कहते है और एक जगह नही, प्राय सभी जगह ही ऐसा कहा जाता है! तो हजारो और लाखो लोग यही कहने वाले है कि साहब! जबतक शास्त्र हाँ नही भरेगे, हम मानने वाले नही है!

सिद्धान्त की बात यह है कि मनुष्य जन्म तो पुण्य के उदय से मिला है, किन्तु मनुष्योचित सद्गुण अर्थात् सरलता, दयालुता, नम्रता और करुणाशीलता आदि किस पुण्य के उदय से मिलती है? इसका कोई ठीक-ठीक उत्तर नही दे सकता। इसका कारण यही है कि श्रावक की भूमिका कर्मो के क्षयोपशम से होती है, किसी कर्म के उदय से नही होती।

आपको मालूम है, श्रावकपन कब उत्पन्न होता है? जब अप्रत्याख्यान चौकडी का क्षय या क्षयोपशम हो जाता है और आशिक सवर की वृत्ति उत्पन्न होती है, तब श्रावकत्व या देश सयम होता है। और जब प्रत्याख्यानी चौकडी भी दूर हो जाती है, तब साधुत्व की भूमिका प्राप्त होती है।

चारित्र औदयिक भाव मे नही है। क्रोध के लिए कहा जा सकता है कि वह चरित्रमोहनीय कर्म के उदय से होता है, परन्तु क्षमा के लिए ऐसा नही कहा जा सकता। आत्मा की जितनी स्वाभाविक परिणतियाँ हैं, वे किसी कर्म के उदय का फल नही है। वे तो कर्मो के क्षय से होती है। हमे जैनधर्म के इस दृष्टिकोण को समझना चाहिए।

हम पुण्य का भी एक जगह आदर करते है, किन्तु हमारा जो लक्ष्य है, वह कही चूक न जाय और हम बीच मे ही भटक न जाएँ, इस ओर ध्यान रखना भी हमारा कर्त्तव्य है। हमे अपने सिद्धान्त की वास्तविकता को समझने मे कही भूल नही करनी चाहिए। भूल करेंगे तो पानी मे कोयला और रंग ही डालते रह जाएँगे, औदयिक भावो मे ही रचे-पचे रह जाएँगे और शुद्ध दशा की ओर नही बढ सकेगे।

अभिप्राय यह है कि हमारे जीवन की जो पवित्रता है, वह किसी कर्म के उदय से नही आती है। श्रावकत्व और साधुत्व कर्मोदय का फल नही है। गुणस्थानो का विकास भी कर्म के उदय से नही होता है। यह ठीक है कि गुणस्थानो की दशा मे कर्मो की सत्ता बनी रहती है, फिर भी गुणस्थानो का विकास तो कर्मोदय का फल नही है। वह तो कर्मो के क्षय, उपशम या क्षयोपशम का फल है।

इस प्रकार चिन्तन करने से आप अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की बात समझ सकते है। जब हम शुद्धोपयोग को अलग गिनने चलते है, तो इसका अर्थ यह होता है कि शेष दोनो उपयोग उसकी अपेक्षा अशुद्ध है। वास्तव मे यह बात सच्ची है। यही कारण है कि जबतक आत्मा मे पाप और पुण्य की प्रकृति का एक भी अश रहता है, तबतक मोक्ष नही हो सकता। तीर्थ कर नाम कर्म जैसी प्रकृति, जो देवाधिदेव की भूमिका है, उसका भी एक अश या दलिक जबतक शेष रहता है, तबतक ससार की ही भूमिका है। वह मोक्ष नही हो सकता, क्योकि मोक्ष के लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रकट होना आवश्यक है, दोनो से निराली, आत्मा की शुद्ध दशा प्राप्त होने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

सचाई यह है, किन्तु हमारे हजारो साधक पुण्य और पाप के स्वरूप में ही सोचने लगे हैं, वे तीसरी दिशा मे सोचना तो भूल ही गये हैं। और भूलकर वे सासारिकता का सौदा करने में लग गये हैं। इस क्रम मे पासा लूटने के लिए या लुट जाने के रूप मे पड रहा है। इससे तो हमारा जीवन, या तो स्वर्ग मे या राजगद्दी मे भटक जाता है, हम आगे नही बढ पाते।

एक भाई रोज सामायिक करने आते थे। वह दिन नही आए, तो उनसे सवेरे न आने का कारण पूछा। वह कहने लगे—'नही आया तो उसका फल भी तो भोग ही लिया! हमेशा तो ठीक-ठीक चलता था, किन्तु आज सवेरे सामायिक नही की और दुकान पर चला गया तो कुछ ठीक नही रहा।'

मैंने सोचा 'यह भाई जो सामायिक कर रहा है, यह तो सामायिक नही कर रहा बल्कि जुए का पासा खेल रहा है। यह सोचता है

कि सामायिक करके दुकान जाएँगे तो अच्छी माई होगी, और नही करके जाएँगे तो नही होगी।'

इसी प्रकार से एक रोज एक वैष्णव भाई ने कहा 'आज शिव का व्रत किया तो वडा ही अच्छा रहा।' मैंने उससे पूछा 'क्यो भाई, तुम तो वैष्णव हो, शैव नही हो, फिर विष्णु की उपासना क्यो नही करते ?

वह बोला—'विष्णु ठहरे लक्ष्मी के देवता। और जो स्वय बटोरने वाले हैं, वे दूसरो को क्या देगे। शिवजी तो सिर्फ देने मे रहते हैं, लेने मे नही रहते। इसलिए मैं शिव की उपासना करता हूँ।'

तो, यहाँ हमे यह विचार करने को विवश होना पडता है कि जहाँ ऐसी-ऐसी कल्पनाए मनुष्यो के मन मे घुस गई है, जहाँ उन्होने देवो के विषय मे भी फैसले कर लिये है कि अमुक देवता देने वाला है और अमुक लेने वाला है। तो, उस समाज का कल्याण किस प्रकार होगा, समझ मे नही आता।

इसी चिंतन का फल है कि हमारे भगवान् के नीचे भी हजारो देवी-देवता, चक्रेश्वरी पद्मावती और भैरो आदि के रूप मे खडे हो गये है। इस प्रकार भगवान् तो यहाँ एक किनारे पड गये है और उनके सिहासन पर देवी-देवता विराजमान हो गये है।

आपको तो सोचना यह चाहिए कि 'मै अपने कर्त्तव्य का पालन करूँगा और ईमानदारी से काम करूँगा, उसमे फिर नफा-नुकसान, जो भी आएगा, उसे सहर्ष भाव से अगीकार करूँगा।' ऐसा सोचने पर ही आप धर्म की राह पर चलने के अधिकारी हो सकेगे, अन्यथा नही।

मैंने राजकुमार ललितादित्य नामक एक काश्मीरी लडके की कहानी पढी थी। वह एक महान् लड़का था। उसकी उम्र जब बारह वर्ष की थी, उसी समय काश्मीर पर हमला हुआ। मुकाविला करने के लिए सेनापति नही था। ललितादित्य सेनापति बनाया गया। जब वह घोडे पर चढ कर जाने लगा, तो उसकी माता, भाई, बहिन आदि आई और कहने लगी 'जरा हमारा भी ख्याल रखना, अर्थात् बच्चे हो हिम्मत न हार जाना।' यह सुनकर सिपाहियो ने कहा 'आप सब निश्चित रहे, हम अतिम दम तक लडेंगे। आपकी मर्यादा का सदा ध्यान रहेगा हमे।'

जब राजकुमार ने यह हाल देखा तो उसने मन मे सोचा 'ये लोग मुझे कायर समझते हैं, इन्हे समझाना ही होगा। और उसने कहा 'ललितादित्य लडने को जा रहा है, खडा रहने को नही जा रहा है। तुम सब निश्चित रहो। ललितादित्य के साथ मे एक ही चीज है और वह यह कि जब भी शत्रु देखेंगे, मेरी छाती ही देखेंगे, पीठ कभी नही देखेंगे। बस, इतनी ही बात मेरे हाथ मे है। ललितादित्य जीत या हार के लिए नही जा रहा है, वह तो लडने के लिए जा रहा है। वह जब भी भाले या तलवार से घायल होकर गिरेगा तो छाती सामने करके गिरेगा, पीठ दिखाकर नही भागेगा।'

यहाँ ललितादित्य ने जो बात कही है, वह ससार की भूमिका मे कही है, किन्तु जीवन की भी यही बात है। जो जीवन-समर के लिए चला है और अपनी वासनाओ के क्षेत्र मे सघर्ष करने चला है, उसे शुद्ध कर्त्तव्य की बुद्धि रख कर ही चलना चाहिए, फिर चाहे वह समाज की सेवा हो, चाहे देश की या जाति की हो।

जो भी सेवा हो, उसे कर्त्तव्य-बुद्धि से करना ही उचित है। उसमे स्वार्थ एव वासना की भावना का जहर नही घोलना चाहिए। 'मैं आज इसके पैर इसलिए दाब रहा हूँ कि कल यह मेरे दावेगा' यह स्वार्थ की बुद्धि है। 'पैर दावना मेरा कर्त्तव्य है, इसलिए दाब रहा हूँ'—इस प्रकार की भावना कर्त्तव्य की भावना है। जो भी कर्त्तव्य किया जाएगा, उसका फल अवश्य मिलने वाला है। फल की कामना होगी तो भी और कामना न होगी तो भी, फल तो मिलेगा ही। फल कही भाग नही जाएगा। अलबत्ता होता तो यह है कि फल की कामना फल को जहरीला ही बना देती हैं और कामना न करने से, निष्काम कर्म करने से बडा ही मधुर और पूर्ण फल मिलता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य क्यो कामना करके फल को बिगाडते है? मनुष्य की यह एक महान् दुर्बलता है। इसलिए गीता मे यह ठीक ही कहा गया है

"कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

अर्थात् 'हमे मात्र कर्म करने का अधिकार है, फल चाहने का नही।'

कोई व्यक्ति, चाहे अनजान हो या जानकार, यदि सेवा के क्षेत्र मे

निष्काम भाव से चल रहा है, तो वह इस नाते शुद्धोपयोग की भूमिका मे चल रहा है। यदि वह इच्छाएँ और तमन्नाएं लेकर चल रहा है, तो पुण्य-कर्मो के पीछे चल रहा है, और यदि दुष्ट बुद्धि मे चल रहा है, पाप की भावना मे चल रहा है, तो वह अशुभोपयोग मे चल रहा है।

कर्म अच्छे और बुरे दो प्रकार के है। अच्छे कर्मो के पीछे यदि तमन्नाएँ और अभिलाषाएँ है, तो पुण्य का बन्ध होता है तथा बुरे कर्मो के पीछे यदि तमन्नाएँ है, तो पाप का बध होता है। और, जब सत्कर्म के पीछे कोई इच्छा या कामना नही है, किन्तु कर्त्तव्य बुद्धि से और अनासक्त भाव से सत्कर्म किया जा रहा है, तो वह कर्म धर्म बन जाता है।

धर्म न पुण्य है, न पाप है, वह तो जीवन की एक पवित्र भूमिका है। सत देवीचन्द्र ने कहा है

"जे जे अशे रे निरुपाधिपणु ते ते अंशे रे धर्म।
सम्यग्दृष्टि रे गुणठाणा थकी जाव लहे शिवधर्म॥"
—चौवीसी

जितने-जितने अशो मे विकार नही है और जितने-जितने अंशो मे इच्छाएँ और कामनाएं नही है, उतने-उतने अशो मे धर्म है। और, जितना धर्म होगा, उतनी ही आत्मा आगे बढेगी।

अभिप्राय यह है कि अनासक्त भाव से शुद्ध परिणति है। चौथे गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान तक जो परिणति है, और एक के बाद एक ऊँची भूमिकाएँ है, वहाँ क्रमशः वासनाएँ कम होती जाती है। ज्यो-ज्यो कषाय भाव कम होता जाता है, त्यो-त्यो समभाव बढता जाता है। और, जितना-जितना समभाव बढता जाता है, उतना-उतना धर्म बढता जाता है।

अब प्रश्न यह है कि पुण्य का भी कहीं उपयोग है या नही ? हमारे कई साथी कहते हैं कि पुण्य का कोई उपयोग नही है। उन्होने पुण्य को एक छोटे-से घेरे मे बन्द कर दिया है, जबकि जैनधर्म ने उसका विराट् रूप माना है। जीवन के व्यवहार मे कौन सत्कर्म और कौन असत्कर्म है, इसके पीछे भी एक ऐसी व्याख्या खडी कर दी गई है कि पुण्य को भी पाप कहा जाने लगा है। आप जिसे पुण्य कहते है, हमारे कुछ पडोसी विचारक उसे पाप कहते हैं।

किसी गरीब आदमी को आपने रोटी दे दी, कपडा दे दिया और भूकम्प पीडितो की सहायता कर दी, तो हमारे सिद्धान्त की धारा उसे पुण्य कहती है, किन्तु हमारा पडोसी साथी सम्प्रदाय उसी को पाप कहता है।

बात वस्तुत यह है कि उन्होने पाप और पुण्य मे वृत्तियो को छोड कर सिर्फ वस्तु को ही पकड लिया है। अमुक वस्तु है और अमुक लेने वाला अच्छा है, तो पुण्य या धर्म हो गया और वस्तु वही है, परन्तु लेने वाला व्यक्ति उस तरह का नही है, तो अधर्म हो गया, पाप हो गया।

इस कल्पना मे, देने वाले की भावना और वृत्ति का कोई मूल्य नही आँका गया है, पुण्य या पाप का हिसाब केवल व्यक्ति को लेकर या किसी वस्तु को लेकर लगाया गया है। ऐसा क्यो किया गया है, समझ मे नही आता। भगवान् ने तो प्रत्येक व्यक्ति के परिणामो की धारा के अनुसार ही कर्मबन्ध होना बतलाया है। और पुण्य तथा पाप भी है तो कर्म ही, फिर उनके बध मे परिणामो की सर्वथा उपेक्षा और अवहेलना क्यो की जाती है? पुण्य शुभ कर्म है और पाप अशुभ कर्म है। दोनो का बन्ध मनुष्य की भावना के अनुरूप ही होता है, इस बध का भावना के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नही होता।

हमारे समाज मे भी, कई लोगो मे, यह गलतफहमी फैली हुई है। उन्हे देनेवाले की भावना से कोई सरोकार नही है। उनकी आँखे सिर्फ लेनेवाले व्यक्ति और वस्तु पर ही गडी रहती है। वे कहते है कुपात्र को देने से भी क्या कभी पुण्य बन्ध हो सकता है? कुपात्र को दान देना तो निष्फल है, ऊसर भूमि मे बीज बोना है!

मैं कहता हूँ, कुपात्र को दान देते समय देने वाले की भावना कैसी है, इसे क्यो नही देखते? जिसे कर्मबन्ध होता है, उसकी भावना का कोई विचार ही नही, कोई गिनती ही नही? देने वाले ने चाहे कुपात्र को दान दिया, चाहे सुपात्र को, कर्मबन्ध तो उसी को होगा? और जब उसी को होगा तो उसके परिणामो के अनुरूप होगा या यो ही किसी बाहरी वस्तु के अनुरूप हो जाएगा?

हमारे एक साथी भाई, जो उसी मान्यता पर चल रहे थे। उन्होने मुझसे पूछा 'क्यो महाराज! कुपात्र को दान देने से क्या लाभ होगा?

मैंने कहा 'दाता की जैसी भावना होगी, वैसा ही होगा। देने वाले ने जैसी भावना से दिया होगा, वैसा ही फल होगा। यदि उसके भाव अच्छे होंगे तो फल अच्छा मिलेगा, बुरे होंगे तो बुरा।'

उसने कहा 'आप तो टेढे चलते हैं। हम तो साफ कहते हैं कि कुपात्र को दान देने से पुण्य नही होता, सुपात्र को दान देने से ही धर्म (निर्जरा) होता है।'

मैंने उनसे पूछा 'तब तुम्ही बतलाओ कि नागश्री को क्या हुआ ? उसने भी तो धर्मरुचिजी जैसे सुपात्र महामुनि को आहार दिया था न ?'

यह सुन कर वह भाई कुछ न बोल सके और बगलें झाँकने लगे। तब मैंने फिर कहा—'भाई, पुण्य-पाप का बन्ध तो दाता के परिणामो पर निर्भर है, सुपात्र और कुपात्र पर निर्भर नही है। किसी क्रिया का फल उसके कर्त्ता के परिणामो के अनुरूप ही होता है। फिर दान का फल भी देने वाले के परिणामो के अनुरूप क्यो नही होगा ? ऐसा न मानने पर तो जैनधर्म के कर्मसिद्धान्त का आधार ही खत्म हो जाता है।'

जब से हम वृत्तियो को महत्त्व न देकर व्यक्तियो और वस्तुओ को महत्त्व देने लगे हैं, तब से स्थूल बन गए हैं। हम अपनी चिंतन-शक्ति खो बैठे हैं।

धर्म-अधर्म का निर्णय इन्सान की बुद्धि ही कर सकती है। इन्सान होकर भी जो अपनी चिन्तनशक्ति का विकास नही कर सके, वह इन्सान ही कैसे ? पशु मे इतनी चिन्तनशक्ति नही होती। वह किसी वृत्ति के आधार पर निर्णय नही कर सकते। पर इन्सान तो कर सकता है! वह तो वृत्तियो को ही पकडेगा न!

मैं पहले कह चुका हूँ, तीन प्रकार की परिणतियो मे उत्तम परिणति शुद्धोपयोग की है, निर्जरा की है और वही धर्म का रूप ले लेती है। परन्तु मध्यम परिणति पुण्य भावना भी, अशुभ परिणति से बहुत अच्छी है! वह शुभोपयोग है। पुण्य से भी हम आशा रखते है क्योकि वह धर्म के महत्त्व तक पहुँचाने वाला है और पाप का विरोधी है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। ऊपर-ऊपर की सीढियो

पर चढने के लिए नीचे-नीचे की सीढियो पर चढना भी आवश्यक है और उन पर चढकर उन्हे छोड देना भी अनिवार्य है। नीचे की सीढियो पर चढे विना ऊपर की सीढियो पर नही चढा जा सकता। और, नीचे की सीढियो पर चढ चुकने के पश्चात् उन्हे छोडे विना भी ऊपर सीढी तक नही पहुँचा जा सकता। इस प्रकार अपने लक्ष्य पर सम्पूर्ण ऊँचाई पर पहुँने के लिए नीचे की सीढियो पर चढना और उन्हे छोड देना अनिवार्य है। जो नीचे की सीढी पर चढ कर उसी से चिपटे रह जाएगा, उसका क्या होगा ?

ऐसा व्यक्ति कभी भी संसार-कूप से ऊँचा उठ कर मोक्ष-महल मे नही पहुँच सकता।

कुछ मतिमद ऐसे होते हैं, जो समुद्र के किनारे पहुँचने से पहले ही नाव को छोड देते हैं और फिर समुद्र मे छलाग लगाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो नाव पर सवार होकर किनारे तक आ पहुँचते है, फिर भी नाव को छोडना नही चाहते। वे मोहवश नाव मे ही चिपटे रहते हैं। ऐसे व्यक्तियो को कौन समझाए ? वे किनारे पर खडे है, तो भी मल्लाह से कहते हैं यह नाव मेरे मस्तक पर रख दे। और, कुछ ऐसे अविवेकी है, जो किनारे पर पहुँचने से पहले ही नाव छोडने को उतावले हो जाते है। कहते हैं, वाद मे तो छोडनी ही पडेगी, तो पहले ही क्यो न छोड दें ?

यह सव अविवेकी लोगो की कल्पनाएँ हैं। ज्ञानी पुरुप क्रम मे चलता है और एकदिन अवसर पाकर नाव को छोड देता है। वही अपना और पराया सवका कल्याण कर सकता है।

मंजिल और हमारी मन की वृत्तियाँ :

अंत मे निष्कर्षत' यह कहा जा सकता है कि वडे-वडे पापी भी तो मोक्ष के प्रति राग नही रखते हैं, फिर धर्मात्मा और वडे पापी मे इस दृष्टि से क्या अन्तर है ? इसका उत्तर यह है कि पापी को मोक्ष के प्रति राग न होने का कारण दूसरा है। उसे विषय-वासनाओ के प्रति तीव्रराग होता है और मोक्ष पाने की कोई आशा ही नही होती। उसे मोक्ष मिलने वाला ही है, यह वात उसे मालूम है। परन्तु जिसे मोक्ष मिलने वाला है, वह धर्मात्मा भी मोक्ष पाने की चिन्ता मे घुल-

घुल कर अपनी साधना मे बाधा न डाले, चिन्ता और उद्वेग एवं कामना करने से मोक्ष क्या शीघ्र मिलने वाला है ? वह तो कर्त्तव्य की परिपूर्णता होने पर ही मिलेगा। अत आदमी का काम इतना भर ही है कि वह अपने कर्त्तव्य को निस्पृह भाव से किए जाए। सुखो की लालसा या मोक्ष की अतिलिप्सा साधना का घुन है। यह मार्ग का रोडा है। जो साधक है, उसे मार्ग तो तय करना ही होगा और मार्ग तय होने पर वह मजिल पर अवश्य ही पहुँच जाएगा, फिर बीच मे इस रोडे को वह क्यो कर प्रश्रय दे ?

एक कवि ने कहा

"तेड़ थयु कर्त्तारनु, चाल्या बिना केम चालशे !"

इच्छा करने से मजिल तय नही हो जाएगी, मजिल तक पहुँचने के लिए तो चलना ही पडेगा। चले बिना कैसे काम चलेगा ? जब चलना आवश्यक है और अनिवार्य है, तो फिर चलते चलो। यदि ठीक मार्ग पर चल रहे हो, तो मजिल दूर नही है। उसे पाने के लिए छटपटाने की क्या जरूरत है, इतनी बेताबी क्यो ?

मुझे अपने विहार की एक घटना याद आ रही है। हम दिल्ली से विहार करके जा रहे थे। मुण्डक गाँव पहुँचना था। रास्ता अनजाना था। फासला बतलाया गया था, पर चलते-चलते बहुत समय हो जाने पर भी गाँव नही आया। मैंने अपने साथी एक सत से कहा 'क्या बात है, इस गाँव ने तो हमारी कसौटी कर दी है ! अब भी नही आ रहा है !'

पैर थक कर चूर-चूर हो गये थे। वह अब जवाब देने को तैयार हो रहे थे। रास्ते मे जो मिलता, उसी से पूछता अब मुण्डक कितनी दूर है ? वह कहता—यही तो, नजदीक आ गया अब !

मेरे साथी सन्त बोले 'महाराज ! इस तरह बार-बार पूछने से गाँव क्या जल्दी आ जाएगा ? चल पडे हैं, तो चलना ही होगा, चाहे चार कोस हो या छह कोस !'

मैंने सोचा वास्तव मे इनका कहना ठीक है। रास्ता तो काटने मे कटेगा। पूछने से कुछ कम नही हो जाएगा। आखिर दिन अस्त होते-होते उस गाँव मे पहुँचे। गाँव छह कोस निकला !

ऐसी हैं हमारी वृत्तियाँ! हम कही चलते है, तो चिन्ता करते रहते हैं कि कितने चले? यही हाल हमारी क्रियाओ का है। थोडीसी धर्मक्रिया करते ही सोचने लगते हैं इतनी साधना की, फिर भी कुछ हाथ नही लगा! इतनी सामायिक, पौषध आदि धर्मक्रिया की, फिर भी कुछ नही पाया!

अभिप्राय यह है कि हम अपनी सारी क्रियाओ मे फल को ही ढूँढा करते हैं। हमारी निगाह क्रिया पर नही, उसके फल पर रहती है। हम पुण्य की ही खोज करते हैं। किन्तु धर्म का सही मार्ग यह नही है। धर्म तो यही कहता है कि तुम एकमात्र आत्मशुद्धि के उद्देश्य से जप, तप, शुद्धाचरण आदि करो, किसी प्रकार की आकाक्षा मत करो।

वैदिक ऋषियो ने भी इस विषय मे एक सुन्दर सूझ दी है। वे कहते है

"चरैवेति चरैवेति ....।"

चले चलो, वढे चलो। फल की ओर मत झाँको।

जैनधर्म भी यही कहता है कि तुम्हे आत्मा की विशुद्धि के लिए ही प्रयत्न करना है। यदि कोई साधक दुर्वल है, तो उससे कहता है 'तुम ऊपर से शुरू मत करो, नीचे से शुरू करो। अर्थात् शुभ को लात मार कर अशुभ से शुरू करो।' किंतु यदि वह शुभ मे आता-आता ही प्रश्न कर वैठे कि मुझे मोक्ष क्यो नही मिल रहा है? तो उससे कहा जाता है 'तू इस प्रशस्त राग को भी छोड दे। अर्थात् मोक्ष जैसे उच्चतम पद के प्रति भी निःस्पृह रह! इसमे भी अनुराग मत कर।'

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से केवलज्ञान न होने का कारण पूछने पर कहा था 'तुम्हारा जीवन वहुत ऊँचा है, परन्तु एक कडी उलझी हुई है। वह यह कि तुम मुझ पर राग करते हो, राग मे उलझ जाते हो। यदि इस राग की कडी को तोड दो, तो केवलज्ञान होने मे कोई देर नही है।'

तात्पर्य यह है कि शुभ वस्तु पर भी राग नही होना चाहिए, मोह नही होना चाहिए। जव यह स्थिति प्राप्त कर लेगे, तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर सकेंगे। शुभभाव भी आखिर आस्रव के

कारण है और आत्मा की उपाधि हैं। आत्मा को निरुपाधिक बनाने के लिए, अशुभ भाव को शुभ भाव के द्वारा और शुभभाव को शुद्धभाव के द्वारा दूर करनी चाहिए। यही वीतरागभाव धर्म का सार-सर्वस्व है। यह सार शास्त्रों के गहरे चिन्तन से ही प्राप्त होता है।

२५, २६-१०-५० को कविश्रीजी का दिया गया प्रवचन

१

धर्म का निमित्त और उपादान

जीवन के अन्त पक्ष एवं बाह्यपक्ष :

हमारे जीवन के दो पक्ष है प्रथम तो वह, जो हमारे चारो तरफ व्याप्त हैं, हमसे भिन्न व्यक्ति, समाज, पशु-पक्षी अन्य जीवधारी एव वस्तु जगत् । इन दोनो पहलुओ से समन्वित जीवन ही मोटे तौर पर हमारे जीवन का पर्याय है ।

कौन, किससे प्रभावित ?

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उठता है कि दोनो पक्षो मे से कौन किससे प्रभावित होता है ? इन बाह्य जीवधारियो व पदार्थों से हमारा आतरिक जीवन प्रभावित होता है या हमारे आतरिक जीवन से यह बाह्य जगत् प्रभावित होता है । कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि हमारी जो आतरिक मनोदशा है, यह, जब जैसी स्थिति मे होती है, हमे बाह्य जगत् भी वैसा ही दृष्टिगोचर होता है । यदि हमारा अतर्मन प्रफुल्ल-सुखी होता है, तो बाह्य जगत् भी हँसता-खिलता दृष्टिगत होता है आकाश के चाँद हँसते, शीतल अमृत की धार बरसाते लगते है, कोयल की कूक मे हर्ष की रागिनी की गूँज सुनाई पडती है, कली-कली स्नेह के रंग मे मुस्कुराती लगती है, सामने का वानस्पतिक मैदान सुख की मनोहारी छटा फैलाता होता है, किंतु, जब हमारा अतर्मन खिन्न होता है, उदास होता है, हमारी जीवन की सरतोड समस्याएँ हमे तबाह किए होती हैं, तब यही अमृत की शीतल धार वाला, चाँद आग की चिनगारी बरसाता-सा लगता है, कोयल की काकली मे हमारे जीवन की वेकली का विहाग राग होता है, सुमनो की कलियाँ

लाल तप्त अग्निपिंड-सी होती है और हराभरा गाद्दल भी काँटो का वन-सा होता है। ऐसी स्थिति मे सही निर्णय कर पाना दुष्कर तो अवश्य हो जाता है। किंतु हमे तो इन राग-द्वेष, हर्ष-विषाद के आसनो से अलग होकर ही निर्णय करना होगा। मनोराजो से हम जबतक सम्बद्ध रहेगे, तबतक वस्तुस्थिति का सही निर्णय कर पाना दूर की बात होगी। वास्तविकता का निर्णय तो समस्थिति-समधरातल पर खडा होकर ही किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण :

बहुत से लोगो का यह कहना है कि बाहरी परिवेश के अनुरूप ही हमारा अतर्जीवन बनता है। समाज के लोगो का रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान एव व्यवसाय जिस प्रकार का होता है, हमारा आतरिक जीवन भी वैसा ही बनता है। समाज अच्छे स्तर का है, उनका आचार-विचार रहन-सहन, सादा जीवन उच्च विचार पर आधारित है, तो हमारे अदर भी उच्च विचारणा का समावेश होगा, और यदि उनका जीवन छल-छद्मो पर आधारित है, तो हमारा अतर्मन भी छल-प्रपञ्चो के जाल मे जकड जाएगा।

दूसरी ओर, कुछ लोगो का यह भी कहना है कि हमारा स्वय का जीवन जिस प्रकार का होगा, समाज का ढाँचा भी वैसा ही बनेगा। क्योकि व्यक्तियो का, व्यक्तियो के सम्बन्धो का, उनके क्रियाकलापों का समष्टिरूप ही तो समाज है, अत स्वस्थ मनोदशावाले व्यक्तियो द्वारा निर्मित समाज भी स्वस्थ होगा और अस्वस्थ मनोदशावाले व्यक्तियो से निर्मित्त समाज अस्वस्थ। बाहर का क्या ? बाहर यदि घना अंधेरा छाया हो, फिर भी अकेला एक सूरज सब को छिन्न-भिन्न करके प्रकाश की प्रखर किरणे फैलाकर, अखड उजाला फैला देता है। ठीक उसी प्रकार से अकेला, स्वस्थ विचारोवाला, उच्च मनोदशाओ, सक्षम मनोबलवाला एक व्यक्ति कोटि-कोटि मानवो को प्रभावित करता है। अकेला भगवान् महावीर ने क्या कुछ नही किया ?

यथार्थ स्थिति :

हाँलाकि इन दोनो ही दृष्टिकोणो के अन्दर सच्चाई है, किंतु पूर्ण दृष्टिकोण, दोनो मे से कोई भी नही है। दोनो ही दृष्टिकोण

नितांत ऐकान्तिक है। और, सर्वमान्य निर्णय का जहाँ तक प्रश्न है, यह एकान्तवाद मान्य नही किय जा सकता। हमारा अपना अनुभव इस तथ्य का प्रबल साक्षी है कि कोई एकान्तरूप से किसी एक को प्रभावित नही करता है, बल्कि दोनो ही दोनो को परस्पर प्रभावित करते है। किसी का किसी को प्रभावित करना, उसकी क्षमता पर निर्भर होता है। हमने अपने जीवन मे देखा है, जिस स्थान का वातावरण शात, स्वच्छ एव उच्च आध्यात्मिक भावनाओ से ओत-प्रोत होता है, हमारे अन्तर्मन मे भी एक अनुभव आध्यात्मिक चिंतना की अत सलिला फूट पडती है। अन्तर्मन अगाध धार्मिक भावनाओ के महासागर मे ऊबचूब गोते लगाने लगता है। उस समय 'स्व' का उदात्तीकरण हो जाता है और प्रत्येक साँस से अर्हम् का नाद गूँजने लगता है। दूसरी ओर, यदि हमारा बाह्य वातावरण विशाल गन्दगी से भरा हुआ है। तमाम सडाँध की बदबू नाकों को उबा देती है। दम घुटने लगता है। फिर तो मन खिन्न हो उठता है। एक बात और कि हमारा मन सहजता की ओर तीव्रगामी है। और, अवनति का रास्ता बडा ही चिकना होता है, अगर उसे स्वार्थ के, प्रलोभन के दो-चार धक्के लग गये, तो फिर क्या कहना ! फिर तो अवनति की सबसे निचली तह ही उसकी गति होती है। बाह्य छल-छद्मों, चाक्य-चिक्यो का, अत निर्विवाद रूप से प्रभाव पडता है।

किंतु यदि हम वस्तुस्थिति की ओर ध्यान से विचार करते हैं, तो पाते हैं कि एक का दूसरे को प्रभावित करना, उसकी सामान्य स्थिति पर निर्भर न करके, उसकी सक्षमता पर आधारित होता है। जो पक्ष जितना प्रबल होगा, उसका प्रभाव भी उतना ही होगा। अत मूल मे प्रभाव डालना या प्रभाव ग्रहण करना, अपनी योग्यता या परिस्थितियो पर निर्भर करता है।

प्रभावदाता एव ग्रहणकर्त्ता कौन ?

सबसे बडी बात यह है कि प्रभाव लेने और देने वाली कोई इतर शक्ति नही, प्रत्युत हमारी आत्मा है। आत्मा ही बाहर के प्रभाव को ग्रहण करती है और आत्मा ही बाहरी जगत् पर अपना प्रभाव डालती है। आत्मा के ऊपर ही सब कुछ निर्भर है। यदि वह अपने आप मे जागृत है, सावधान है या अपने ज्ञान, विचार या चिंतन की धारा मे

वह रही है, तो बाहर का प्रभाव उस पर कम से कम पडेगा और ऊपर का प्रभाव ही बाह्य जगत् पर विशेष रूप से अपना असर डालेगा। इसके विपरीत यदि आत्मा सावधान नही है, ऊपर-ऊपर से वह लहरो पर तैरती चलती है, गहराई को नही छूती, अदर मे ज्ञान, विचार या चिंतन की ज्योति जागृत नही है, तो वह चरण-चरण पर दूसरो से प्रभावित होगी। इसी को दृष्टि मे रखते हुए राजीमती ने रथनेमि से कहा था।

"वाया विद्धोव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि।"[१]

इस तरह यदि बाहर की वस्तुओ से प्रभावित होते रहोगे तो चरण-चरण पर लडखडाते रहोगे, कही भी एक स्थान पर स्थायी रूप से टिक पाना मुश्किल होगा। अत अपने जीवन को सबल बनाओ, मनोबल को उदात्त करो। अपनी साधना को जितना ही सबल एव दृढ बनाओगे, उतना ही बाहर का प्रभाव पडना बद हो जाएगा।

जैनधर्म की मान्यता :

इस सम्बन्ध मे गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि जैनधर्म की अपनी मान्यता बिलकुल अद्वितीय है। जैनधर्म ने प्रभावक एवं प्रभावित के मूल मे केन्द्र बिन्दु आत्मा को स्वीकार किया है। चाहे वह गृहस्थ हो अथवा साधु, उसकी आत्मा पर ही सब कुछ सौप दिया गया है। जैनधर्म का कहना है कि व्यष्टि या समष्टि के स्वय का जीवन ही सबकुछ है। उसका जीवन उसके पास है चाहे तो उसे लोहा बना ले, चाहे तो सोना बनाले। चाहे उसमे से काँटे पैदा कर ले, चाहे फूल खिला ले। चाहे वह उसे स्वर्ग बना ले, चाहे नरक बना ले। दोनो का निर्माण उसके स्वय के हाथ की बात है। स्पष्ट शब्दो मे यदि कहा जाए, तो, विश्व की सारी गरिमा, सारी मर्यादा, सारे ऐश्वर्य व्यक्ति के स्वय के हाथ मे निहित है। इसान चाहे तो सवेरा उसके कदमो मे लोटने लगे और यदि नाना कषायो मे उलझा रह जाए, तो, उसके लिए तो महारात्रि की कालिमा का कभी अत ही नहीं है।

आत्मा की विराट् सत्ता :

भगवान् महावीर ने मानव जाति को यह महान् सदेश दिया है कि

१ दशवैकालिक

मानव ! तेरा स्वय का निर्माण और विध्वंश तेरे स्वय के हाथो मे है। तू स्वयं बन सकता है, स्वय बिगड सकता है। तू जिधर चलेगा, उधर ही तेरी मजिल होगी। ये ससार के सारे दुख, सारी आपत्तियाँ-पीडाएँ जो भी है, कही बाहर से नही आ रहे है, वे तेरे अदर ही अदर उत्पन्न हो रहे हैं तथा जो भी सुख-समृद्धि, धन-वैभव और अच्छाइयाँ है, वे बाहर से नही, बल्कि अन्दर से ही उत्पन्न होती हैं। उनका उद्गम-स्थल भी तेरा अन्त प्रदेश ही है। और, कर्म-कषायो को तोडने की कला भी बाहर से नही आएगी, वह भी अन्दर से ही उत्पन्न होगी। तुझे पाप के पथ पर कौन चला रहा है ? कोई नही। यह तो तू ही है, जो स्वय चल रहा है। ऐसा तो नही है कि कोई घसीट कर लिए जा रहा हो ! जिस ओर भी चल रहा है, तू स्वय अन्त प्रेरणा से ही चल रहा है। और धर्म के मार्ग पर भी, जहाँ पाप और पुण्य अलग होते दिखाई देते हैं, उस पवित्र पथ पर भी तू स्वय ही चल सकता है।

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति ससारे, स्वय तस्माद्विमुच्यते ॥"

अर्थात् यह आत्मा स्वय कर्म करती है, अपने आप बन्धन मे बँधती है, अपने आप स्वय को बंधन मे डाल कर पाशबद्ध हो जकड जाती है। और, उस बधन का फल भी स्वय भोगती है। न कोई 'पर' उसे बधन मे डालता है, न कोई उसके फल को भोगने को बाध्य ही करता है।

आत्मा इस ससार मे भ्रमण करती रहती है। यह कभी तो स्वर्ग के स्वर्णिम लोक मे विचरण करती है, तो कभी नरक के दाहक द्वार पर दस्तक दे आती है। और, जीवन का झूला निरन्तर झूलता रहता है, कभी भी विश्राम नही। तो, जब स्वय आत्मा ही परिभ्रमण की यह परिक्रमा कर रही है, तो छुटकारा कौन दिलाएगा ? अत छुटकारा देने या दिलाने वाला कोई और नही, बल्कि स्वय यह आत्मा ही है। आत्मा ही स्वय अपने बधनो को काटेगी। जब अतर की चेतना नाना-विधि कर्मजालो के गहन बध को काटकर प्रकट होगी, जब जागरण का अन्त सूर्य अपने प्रचण्ड तेजोमय स्वरूप मे प्रकट होगा, तो अन्धकार की कालिमा स्वय विनष्ट हो पडेगी। अन्तश्चेतना के स्फूर्त होते ही, कोई भी ऐसा बधन नही, जो टूटे नही। एक साधक ने सत्य ही

कहा है

"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।"

यदि मन हार गया, तब तो समझ लीजिए, कही ठिकाना नही, कही ठौर नही और यदि मन जीत गया, तो समझ लीजिए, दुनियाँ का कोई भी ऐसा पदार्थ नही, जिसे आप न पा सके, कोई भी ऐसा कोना नही, जहाँ आपका विजय-ध्वज न फहराए। मन ही हमारा देव है, मन ही हमारा देव है। इसीलिए तो साधक पहले मन की साधना करते हैं। मन के देव को जागृत करते है, उनके प्रकाश को उद्दीप्त, करते हैं। और, जब मन के देव का प्रकाश फूटा कि बस सारा जगत् चमत्कृत हो उठा, विश्व का कोना-कोना जगमगा उठा।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी यही दिव्य संदेश हमे दिया है

"परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।"

तू इस बुद्धि और विचार का परित्याग कर दे कि हमे सुख-दुख देने वाला कोई और है! तेरे ऊपर, तेरे अतिरिक्त किसी और की सत्ता चल नही सकती। तेरा मगल और अमगल, मोक्ष और ससार बधन सभी कुछ पूर्णरूप से तेरे स्वय के हाथो मे ही है।

भारतीय दर्शन मे, इससे भिन्न मत भी देखने को मिलता है। कतिपय सकीर्ण मतावलम्बियो ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'आत्मा की सत्ता अत्यत क्षुद्र है। न तो उसमे निज का कोई सामर्थ्य है, न ही उसकी अपनी कोई स्वतत्र सत्ता है। ऐसा कहने वाले इस आत्मा को किसी अलक्षित एव अदृष्ट शक्ति के हाथो की कठपुतली मात्र कहते हैं, सासारी जीव को ईश्वर के हाथ का खिलौना मात्र कहते है। उन्होने स्पष्टत· कहा भी है

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽपमात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्, श्वभ्र वा स्वर्गमेव वा॥"

अर्थात् यह सासारी जीव बेचारा क्या कर सकता है! इसके हाथ मे तो कुछ है ही नही। न उसका सुख उसके अधीन है और न दु ख ही उसके अधीन है। स्वर्ग या नरक पाना भी उसके हाथ की बात नही। ईश्वर नाम की जो विराट् सत्ता है, वही सबका नियामक है, वही सबका निर्णायक है। वही सत्ता किसी को सुखी बनाती है, वही किसी को

दुःखी बनाती है। मन आया, जिसे चाहा, नरक की अग्नि में झोंक दिया, जिसे चाहा, स्वर्ग के सिंहासन पर बैठा दिया।

जैसा कि मेरा चिंतन है, ईश्वर की ऐसी कल्पना करने वालों ने तो ईश्वर को एकदम तानाशाह (डिक्टेटर) के रूप में ही चित्रित कर दिया है। उन्होंने आत्मा का तो बिलकुल ही महत्त्व निक्षेप कर दिया है। किंतु विचारने की बात तो यह है कि यदि आत्मा के अंदर सुख-दुःख के बीज नहीं हों, तो उसमें सुख-दुःख के पौधे उग किस प्रकार सकते हैं? और यदि उसके बीज उसमें विद्यमान हैं, तो फिर उसका बीजारोपण किया किसने है? स्पष्ट है, आत्मा में सुख-दुःख के बीज विद्यमान हैं, और उसका बीजारोपण भी स्वयं आत्मा ने ही किया है, तो यह भी निश्चित है कि उसका फल भी वही भोग सकती है।

जैनधर्म उक्त तथाकथित आत्मा की विवशता एवं दीन-हीनता के विरुद्ध आवाज उठाता है। उसका स्पष्ट कथन है

"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।"[1]

आत्मा स्वयं ही अपने सुखों और दुःखों का कर्त्ता है और स्वयं ही हर्ता है। कोई भी बाहरी शक्ति उसे सुख या दुःख नहीं पहुँचाती।

उक्त चर्चा का सार यह है कि जैन धर्म प्रत्येक आत्मा पर यह उत्तरदायित्व डालता है कि तू ही अपने जीवन का अधिष्ठाता है और ज्ञान का, अपनी मंजिल का स्वयं स्वामी है। तुझे कहीं से कुछ न तो गिरा प्राप्त होगा, न ही कोई अन्य ही देगा, बल्कि जो कुछ है, वह तेरे अंदर ही है। तेरे अंदर की अपनी शक्ति ही है, जो बाह्य गुरु, शास्त्र आदि का निमित्त पाकर जागृत होती है। यदि अंदर में कुछ न हो तो हजार गुरु और हजार शास्त्र मिल जाएँ तब भी कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होगा।

वृन्दावन के अपने विहार की एक घटना हमें याद आ रही है। वहाँ जाकर, वहाँ के आर्यसमाज मंदिर का अवलोकन करने का मुझे अवसर मिला। गुरुकुल बड़ा ही सुन्दर है, सुव्यवस्थित है। वहाँ के आचार्य ने गुरुकुल को, दर्शन का बड़ा ही उच्च एवं महत्त्वपूर्ण विद्यालय बताया। विद्यार्थियों से परिचय कराने के पश्चात् आचार्य ने

१. उत्तराध्ययन सूत्र

मुझसे आग्रह किया कि मैं उन विद्यार्थियों से कुछ पूछूँ। मुझे पूछना ही पड़ा। मैंने पूछा विद्यार्थीगण, आपलोग यह तो बताइये कि यहाँ पर आप लोगों का आना क्यों हुआ है? किसलिए हुआ है? कुछ देर तक सन्नाटा छाया रहा। फिर उनमें से एक विद्यार्थी ने उठकर उत्तर दिया कि हम सब ज्ञान प्राप्त करने के लिए यहाँ आए हैं। इस पर मैंने कहा आप दर्शन के अभ्यासी हैं, आपका उत्तर तो कुछ और होना चाहिए था। यह उत्तर तो गली-मोड़ पर के हर स्कूल के हर विद्यार्थी से सुना जा सकता है। आपके उत्तर का अर्थ तो यही हुआ कि गुरुकुल में ज्ञान का कोई विशेष कोष या संग्रह है, जिसे आप उसी तरह में लेने आए हैं, जैसे कि बाजार से कोई सामान खरीदना हो। गुरु से ज्ञान प्राप्त किया जाता है यदि ऐसा कहा जाए, तब तो गुरु का अपना ज्ञानकोष एक दिन रिक्त हो जाएगा और गुरु एक दिन ज्ञान में शून्य हो जाएँगे। जब मैंने ऐसी शका उठाई, तो आचार्य महोदय ने कहा—आपका प्रश्न गहरा है, ये तो पुस्तक लेते हैं, शब्द रटते हैं और परीक्षा दे देते हैं, बस, इनका विद्याध्ययन का कार्य समाप्त हो गया। आप ही इन्हें समझाइए कि वास्तविक वस्तुस्थिति क्या है? इस पर मैंने कहा कि भारतीय दर्शन कहता है कि 'ज्ञान आत्मा का गुण है।' जब ऐसा है, तो क्या गुण और गुणी कहीं अलग-अलग होते हैं? अग्नि और उष्णता को क्या एक-दूसरे से अलग किया जा सकता है? नहीं। उन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान गुण भी आत्मा का अपना निज का है। यदि इसमें एक-दूसरे को लेने-देने की बात हो, तो गुण और गुणी में भेद हो जाएगा और यह और ज्ञान क्रय-विक्रय एव अदला-बदली की वस्तु बन जाएगा। ज्ञान आत्मा का गुण है और वह उसी व्यक्ति का अपना है, दूसरे का नहीं हो सकता। वह ज्ञान एक प्रकार से क्षायोपशम से प्राप्त होता है। अध्ययन-चिन्तन-मनन से उसे विकसित किया जा सकता है, किन्तु किसी दूसरे से उपहार या उधार नहीं लिया जा सकता। पत्थर को हजारों वर्ष तक भी प्रवचन सुनाया जाए, तो भी उसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह जड़ है, उसमें मूलतः ज्ञान-शक्ति नहीं है। भगवान् की वाणी या गुरु की वाणी तो निमित्त मात्र है। जैसा जिसका क्षायोपशम होता है, वैसा ही उनका विकास होता है।

आज के जैन एव जैनेतर प्राय सभी ज्ञान के लेने-देने की बाते करते है। परन्तु आत्मा के क्षेत्र मे सौदेबाजी जैसी कोई चीज नही है, सभी के पास अपना ज्ञानरूप शास्त्र और सूत्र है। बाहर मे लिखा हुआ या सुना हुआ शास्त्र एव सूत्र तो जड है, पुद्गल है, उनमे ज्ञान का अंश कहाँ से आ सकेगा ? ज्ञान का अधिष्ठान आत्मा स्वय है, और हरएक आत्मा मे उतनी ही शक्ति है, उतना ही ज्ञान है, जितना भगवान् महावीर की आत्मा मे था। बस उस शक्तिरूप गुप्तज्ञान का सम्पूर्ण विकास ही तो आत्मा का शुद्ध निर्मल रूप है।

वातावरण और परिस्थितियो के कारण आत्मा की मूल शक्तियो मे विकास और ह्रास होता रहता है। आज का धर्मात्मा कल बडे-से-बडा दुराचारी और हत्यारा बन सकता है तथा एक कुख्यात दुराचारी और हत्यारा सदाचारी भी बन सकता है। यह तो जीवन की उछाल है, बहाव है। व्यास भाष्य मे ठीक ही कहा गया है

"चित्त नदी उभय तो वाहिनी।
वहति कल्याणाय, वहति पापाय च ॥"

चित्त की धाराएँ दोनो मार्गो को बहती हैं—अच्छे मार्ग से भी और बुरे मार्ग से भी। जिधर इसको मोड दिया, उधर ही वह चली। नदीषेण जैसे समृद्धि और वैभव मे पलने वाले युवक अनेक सुन्दरियो का परित्याग करके साधु बने, कठोर तपस्या की धूनी रमा कर बैठ गए। परन्तु आगे चलकर एक वेश्या के मोहपाश मे फँस गए, वह भी सामान्य-सी स्थिति मे ! कथाकारो ने भले ही उनकी इस दुर्बलता पर परिस्थितियो का आवरण डालने की चेष्टा की हो, किंतु आवरण इतना झीना है कि इसके पीछे नदीषेण की आसक्ति और मानसिक दुर्बलता स्पष्ट झॉक रही है। वह बधनो मे फँसा, उसका ज्ञान सुप्त हो गया। और फिर बारह वर्षो के बाद, जगा तो इतने वेग से जगा कि सभी बधनो को, सभी कषायो को तोडकर प्रभु के चरणो मे जा पहुँचा। और तब, वह साधना मार्ग पर इतनी तेजी से बढा कि अपने अनेक साथियो को पीछे छोडकर बहुत आगे निकल गया।

जैन दर्शन की, अत यह प्रक्रिया रही है कि वह प्रत्येक आत्मा मे विराट् शक्ति का दर्शन करता है, प्रत्येक बीज मे विशाल वृक्ष का अस्तित्व झाँकता है। आत्मा का भटक जाना स्वभाव नही है, वह तो

पर-भाव है। पर-भाव अनादिकाल मे ठोकरें खाता रहा है। परन्तु वह पर-भाव से सदा ठोकरे खाने के लिए नही है। स्व-भाव-सूर्य के चमकने पर पर-भाव का अधकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, और आत्मा मे शक्तिरूपेण स्थित ईश्वरत्व पूर्णरूपेण प्रकाशमान हो जाता है। क्षायोपशमिक स्थित ज्ञान आगम एव शास्त्रो की सीमाओ को लाँघ कर प्रतिपूर्ण अनन्तरूप हो जाता है।

अभिप्राययह है कि जैन धर्म का सिद्धान्त स्वय मे अद्वितीय है, बडा ही महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार साधक को अपने आप मे पूर्ण सक्षम एव सबल होना है। उसे ईश्वर का चिंतन लेकर चलना है परन्तु अपने जगत् का निर्माण करने के लिए स्वय ईश्वर बन जाना है, किसी अन्य ईश्वर के भरोसे गाडी नही खिचनी है।

हम देखते हैं कि इस जीवन के सारे सुख-दु ख की साधना का केन्द्र आत्मा ही है। कोई इस कथन का अर्थ यह न समझे कि बाहर की चीजे नही हैं। बाहर की चीजे है और उनसे भी एक हद तक आत्मा प्रभावित होती है, परन्तु उन्हे जैन धर्म निमित्त मात्र मानता है। कहना यह है कि यदि तेरी तैयारी है, तो निमित्त मिल रहा है और काम बन रहा है, परन्तु यह नही है कि निमित्त से ही काम बन रहा है, तू निमित्त को कुछ समझ, परन्तु सब कुछ मत समझ।

यदि निमित्त से ही काम बनता होता, तो गोशालक और जमालि क्यो भटकते फिरे होते? एक ओर गौतम और सुधर्मा जैसे साधक भगवान् की सेवा मे पहुँचते हैं और अनेकानेक दूसरे साधक जाते है और अपने जीवन का निर्माण करते हैं। किन्तु दूसरी ओर, जमालि भगवान् के पास गया और वहाँ रह कर तथा जीवन का महान् प्रकाश पाकर भी भटकता रहा। यही हाल गोशालक का भी हुआ कि वह भी भगवान् से कुछ न पा सका।

साधक की भूमिका :

दूसरे, यहाँ छोटी-छोटी बातो को लेकर सघर्ष होते जाते है। मूर्तिपूजा को लेकर भी हम आपस मे लड पडते हैं, किन्तु हम यह कहते है कि मूर्तिपूजा की बात तो किनारे रही, जिनकी मूर्ति है, वह स्वय क्या करते है? यह तो साधक की अपनी योग्यता का प्रश्न है। जब

तक साधक की भूमिका उच्च नही बनती और उसकी प्रवृत्तियो का क्षायोपशम नही होता, तब तक साक्षात् भगवान् भी उसका कुछ बना नही सकते। बना सकते होते, तो भगवान् ऋषभदेव ने मरीचि का, जो समवसरण में दुनियाँ के सामने बड़ी गड़बड़ी करता रहा और अपने आपको पतन के पथ की ओर अग्रसर करता रहा, कल्याण क्यो नही कर दिया ? केवल ज्ञान जैसी कोई दूसरी स्थिति नही हो सकती और समझाने की कोई कला ऐसी नही जो शेष रह गई हो, किन्तु जिसकी भूमिका ही नही रही है, उसका कल्याण वे करे तो कैसे करे ? एक दो वर्ष के बालक से यदि कहा जाए कि मन भर बोझ उठाले, तो यह कैसे सम्भव है ? यहाँ तो योग्यता का प्रश्न है।

अतएव इस रूप मे जो बात मैं कह रहा हूँ, वह यह कि वस्तु प्रमुख नही है, बल्कि प्रमुख वृत्ति है उसका मूल अर्थ यही है कि निमित्त तो मिलना ही चाहिए। निमित्त मिलने पर ही कुछ होता है अत हमको उसका स्वागत करना चाहिए, किन्तु निमित्त को ही सब कुछ मान लेना और यह मान लेना कि निमित्त से ही हमारा कल्याण हो जाएगा, ठीक नही हैं। हमारा कल्याण तो उपादान के द्वारा ही होगा। उपादान को भुला कर केवल निमित्त को ही हम सब कुछ मान बैठेगे, तो जैन धर्म के सिद्धान्त को हम ठेस पहुँचाएँगे और अपना अकल्याण कर बैठेगे।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि वस्तु और व्यक्ति मुख्य है अथवा मनुष्य की वृत्तियाँ मुख्य है ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कह चुका हूँ कि वृत्तियाँ मुख्य है। जब-जब हमने वृत्ति को स्थान नही दिया और व्यक्ति को या वस्तु को ही महत्त्व दिया, तभी जैन धर्म मे उलझनें पैदा हो गई और अनेकानेक गुत्थियाँ हमारे सामने आ गई।

अनेकान्त एवं एकान्त :

हमारे यहाँ तीन तरह से प्रश्न चलते है।

कोई साधु है, यदि वह किसी के यहाँ गोचरी के लिए गया, तो गृहस्थ ने साधु को दान दिया और यद्यपि साधु को आवश्यकता नही है, तब भी देता जाता है। इस विषय मे सार रूप मे एक कहानी प्रचलित है

एक संत किसी के यहाँ गये तो दाता घी बहराने लगा । उसी समय मुनि के शरीर में एक देवता प्रवेश कर गया । तब मुनि ने जो पात्र रक्खा था, उसे नहीं हटाया और दाता घी बहराता ही गया । आखिर पात्र तो मर्यादित होता है । वह घी से भर गया और घी नीचे गिरने लगा । किन्तु दाता कोई परवाह न करता हुआ बहराता ही गया और उसने घडे को खाली कर दिया । दूसरा घडा लिया और फिर बहराने लगा तथा उसे भी खाली कर दिया । फिर तीसरा घडा उठाया और उसे भी पात्र के ऊपर उँडेल दिया और घी तो पहले ही से बाहर बह रहा था ।

आखिर देवता को विश्वास हो जाता है कि यह दाता बडा श्रद्धालु है । इतना श्रद्धालु है कि वन्दनीय है । इसके बाद वह मुनि के शरीर से बाहर निकल जाता है और तब मुनि होश मे आते है और कहते है अरे, यह क्या किया तुमने ? घी तो बाहर बह रहा है ।

तब दाता ने कहा बाहर बहा तो आपका बहा, मेरा क्या बहा ? मैंने तो आपके पात्र मे डाला है । मेरा घी आपके पात्र मे है ।

इस कथा के द्वारा जनता की दानबुद्धि को जगाने का महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रयत्न किया गया है । किन्तु मनुष्य मे जहाँ दानबुद्धि जागती है, वहीं अविवेक और अज्ञान तो पहले से ही चक्कर काट रहा होता है । लोगो ने समझ लिया है कि मुनि को आवश्यकता है और उन्हे दिया गया तो धर्म है और आवश्यकता न होने पर दिया गया, तब भी धर्म है । घी बाहर बह रहा है, तो भी धर्म है । इस प्रकार हर हालत मे देना ही हमने धर्म मान लिया ।

तो, जहाँ दानवृत्ति को जगाने की बात थी, वहाँ वस्तु के अपव्यय की बात समझ ली गई । दान के नाम पर इससे बडी भूल और क्या हो सकती है । दान तो आवश्यकता के मुताबिक देना चाहिए, अपव्यय के लिए नहीं न होना चाहिए । जहाँ अपव्यय के लिए दिया जा रहा है, वहाँ धर्म कैसे हो सकता है ? यह तो अनेकान्त है और अनेकान्त के लिए हर जगह लड़ना चाहिए ।

एक तरफ तो इतना एकान्त आग्रह आया कि यदि साधु को आवश्यक होने पर दिया जा रहा है तो भी धर्म है और अनावश्यक होने

पर दिया गया है, तब भी धर्म है, घी जमीन पर बहता जा रहा है फिर भी उसको बहाते जाना धर्म है और दूसरी ओर साधु के सिवाय किसी और को दिया जा रहा है, तो एकान्त पाप है। चाहे कोई गरीब है, भूख से तिलमिला रहा है और सम्भव है कि रोटी का एक टुकड़ा न मिलने पर उसके प्राणपखेरू उड़ जाएँ, वह भूख से छटपटाता हुआ आर्त-रौद्र की हालत में मरे और नरक-पशु गति में जाए। इस प्रकार वह शरीर और आत्मा दोनों से मर रहा है, किन्तु ऐसे प्राणी को एक टुकड़ा रोटी का और एक बूँद पानी का देना एकान्त पाप बतलाया जाता है। दूसरी ओर, साधु के पात्र को घी-दूध से भर देना एकान्त धर्म है, चाहे उसे आवश्यकता नहीं भी हो और चाहे वह लेकर जमीन पर फेंक ही क्यों न दे।

आप शान्त और तटस्थ भाव से विचार कीजिए कि इस घोर अन्तर का कारण क्या है? दाता जब साधु को दे रहा है, तब भी दान कर रहा है और भूख से मरते को दे रहा है, तब भी दान कर रहा है, दोनों को देने में वह उस वस्तु से अपनी ममता त्याग रहा है, फिर क्या बात हो गई कि एक जगह एकान्त धर्म, और दूसरी जगह एकान्त पाप हो गया?

निमित्त और वृत्ति :

बात यही है कि हमने व्यक्ति को और वस्तु को तो महत्त्व दिया, पर दाता की अन्तःकरण की वृत्ति को, भावना को, उसके परिणामों को भुला दिया। जिसे धर्म या अधर्म होता है, उसकी भावना की कोई कीमत ही नहीं समझी। हमने दाता की मनोभावना को नहीं देखा, हमने साधु के पात्र को देखा। घी नीचे गिरे तो भले गिरे, पात्र तो साधु का है। और यदि साधु का नहीं है तो उसमें गिरी हुई पानी की एक बूँद भी पाप उत्पन्न करती है। इस प्रकार हमने समझ लिया है कि साधु का पात्र हमारी आत्मा में धर्म पैदा कर देता है और दूसरे का पात्र पाप पैदा कर देता है।

अभिप्राय यह है कि हमने व्यक्ति को तो मुख्य करार दिया है, किन्तु वृत्ति को गौण बना दिया है।

और जब व्यक्ति को मुख्य करार दिया और आपत्ति आने लगी,

गड़बड़ होने लगी, तो एक तीसरी राह निकाल ली गई। परन्तु यह तीसरी राह भी कम गलत नहीं है। वह तीसरी राह यह है कि यदि साधु को दिया जाता है, तो उससे धर्म और निर्जरा होती है तथा गरीबों को दिया जाता है, जरूरतमंदों को दिया जाता है, तो उससे पुण्य होता है किन्तु व्यक्ति जरूरत मंद भी तो हो। अन्यायी और अत्याचारी हो तो उसको देने से तो पाप ही होता है।

यह बिलकुल ठीक है कि जो अन्याय और अत्याचार में संलग्न रहता है और संकट में पास भी नहीं आता है, उसे अगर दिया जा रहा है, तो एक तरह से अन्याय और अत्याचार के पोषण के लिए ही दिया जा रहा है। ऐसी स्थिति में वह देना धर्म और पुण्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसे व्यक्ति को देने में न तो करुणाभाव काम कर रहा होता है और न कोई दूसरी सद्वृत्ति ही। किन्तु कोई कैसा भी अन्यायी क्यों न हो, अगर वह भूख-प्यास के कारण छटपटा रहा है, संकट में पड़ा है और करुणाजनक स्थिति में है, तो हम व्यक्ति को महत्त्व नहीं देते, बल्कि महत्त्व देते हैं, दाता की करुणा भावना को।

साधु को देने से धर्म और दूसरे को देने से पुण्य ही होता है, यह भी एकान्तवाद है। इस एकान्तवाद में भी हमने वृत्ति का सम्मान नहीं किया है, व्यक्ति को ही प्रधानता दी है। जिस भावना से साधु को दान दिया जाता है, वह भावना यदि दूसरे को दान देते समय उत्पन्न हो जाए, तो फिर क्या कारण है कि वहाँ धर्म न होकर पुण्य ही होगा? जबकि पुण्य, पाप और धर्म का सम्बन्ध भावना के साथ है और भावना दोनों जगह एक समान है, तो फिर क्या कारण है कि एक जगह धर्म और दूसरी जगह पुण्य हो?

कहा जा सकता है कि साधु संयत है, अतएव उसको देने से धर्म होता है, और दूसरा असंयत है, अतएव उसको देने से पुण्य होता है, तो फिर असंयत को देने से पाप ही क्यों नहीं मान लिया जाता? पुण्य क्यों माना जाता है?

प्रश्न यह है कि अनुकम्पा अपने आपमें धर्म है या नहीं? अर्थात् हमारे अन्दर सहज भाव में करुणा की बुद्धि जाग रही है, जिसे हम सम्यक्त्व का अंग समझते हैं, वह धर्म है, पुण्य है या पाप है? इन तीनों में से अनुकम्पा को किसमें गिना जाय? अनुकम्पा अगर धर्म है,

तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि अनुकम्पा की बुद्धि से दिया गया दान भी धर्म है। वस्तुत धर्म अथवा पुण्य या पाप तो हमारी भावनाओ मे है। अतएव बुरी वृत्ति से दान दिया जा रहा है, तो पाप होगा, किसी वासना की वृत्ति से दिया जा रहा है तो पुण्य होगा और यदि शुद्ध त्याग-वृत्ति से, अनासक्त भाव से दिया जा रहा है, तो धर्म होगा। व्यक्ति और वस्तु तो निमित्त मात्र हैं, उनमे पाप, पुण्य और धर्म उत्पन्न करने की क्षमता नही है। पाप, पुण्य और धर्म तो भावनाओ से उत्पन्न होते है। धर्म और अधर्म का सारा निचोड हमारे अन्दर ही है, किसी भी बाह्य पदार्थ मे नही।

मैं पूछता हूँ कि आपके पास कोई दान लेने वाला आया और आपने तिजोरी मे से सौ रुपया निकाल कर दे दिया, तो सौ रुपया देने से धर्म हुआ या देने के पीछे जो वृत्ति भावना है, उससे धर्म हुआ ? दिया तो गया है रुपया और वह तिजोरी से निकाल कर दूसरी जगह गया है। वह सिक्का एक जगह से हट कर दूसरी जगह और फिर तीसरी जगह विराजमान है। उसकी सिर्फ जगह मात्र बदली है, फिर धर्म कैसे हुआ ?

आपके अन्त करण मे अनुकम्पा और दया की जो भावना उत्पन्न हुई है, मै समझता हूँ, वही सबसे बडा धर्म है। दूसरे प्रकार का धर्म यह है कि अपनी इच्छा को, लोभ को और ममत्व को घटाया है।

जब तिजोरी मे आपने रुपया रख छोडा था, तब उसके साथ ममत्व जोड रक्खा था। वह ममत्व का भाव पाप था। जब आपने किसी काम के लिए दे दिया और शुद्ध भावना से दे दिया तो वह शुद्ध भावना धर्म हो गई, और जितने अश मे ममत्व घटा, वह भी धर्म हो गया।

अत धर्म देने मे नही, बल्कि त्यागभावना मे है। देने मे ही धर्म होता तो विवाह-शादी मे खर्च किया जाने वाला रुपया भी धर्म होना चाहिए था। विवाह-शादी मे भी तो तिजोरी से निकाल कर रुपया दिया ही जाता है किंतु उसे तो आप भी धर्म नही मानते। तो इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म तिजोरी मे से निकाल कर देने मे नही है, बल्कि देने के पीछे निहित अन्त करण की पवित्र वृत्ति मे है।

अगर किसी का सहार करने के लिए, किसी की इज्जत लेने के

लिए, अपने किसी पाप को गोपन करने के लिए या रिश्वत के रूप मे वह रुपया दिया जा रहा है, अर्थात् दुष्ट-भावना से दिया जा रहा है, तो वह देना पाप है। इस देने की अपेक्षा उसका तिजोरी मे बन्द रहना ही अच्छा था।

अगर वह रुपया किसी की सेवा के लिए, किसी दुखिया के आँसू पोछने के लिए, किसी का सकट टालने के लिए दिया गया है और इस रूप मे शुद्धवृत्ति से दिया गया है, अत वह देना पुण्य है। पाप और पुण्य को हम निम्न उदाहरण से भली प्रकार समझ सकते है कि एक व्यक्ति रात्रि मे, रोशनी मे, बहीखाते का काम कर रहा हो। उसी समय कोई सस्था के लिए दान लेने आए। वह सौ रुपया दे देता है और दानकर्त्ता की उस रकम को बही-खाते मे लिखता है। फिर उसी रोशनी मे किसी के नाम पर वेईमानी की नियत से सौ के बदले एक बिंदी और बढा कर हजार लिख देता है। तो वह रोशनी अपने आप मे क्या काम कर रही है? क्या वह रोशनी उसको पुण्य और पाप मे बाँध देगी? इसी प्रकार उस कलम, दावात और हाथ ने भी न पुण्य उत्पन्न किया है और न पाप पैदा किया है।

अभिप्राय यह है कि रोशनी, कलम, दावात और कागज सबके सब तटस्थ हैं और मानो वे कह रहे हैं "चाहे हमे अमृत बना लो, चाहे जहर बना लो। यह तुम्हारे हाथ की बात है। उनका उपयोग करके हजार रुपए झूठे लिख दिये है, तो पाप हो गया और सद्भावना रही, तो पुण्य कमा लिया।

रोशनी मे कलम-दावात का उपयोग करके जो झूठी रकम लिख रहा है, उसमे रोशनी आदि निमित्त जरूर है, किन्तु वे सब तटस्थ है। वे बेचारे क्या करते है?

भगवान् महावीर को भी गोशालक वगैरह कई लोगो ने कोसा और उनकी निंदा की। तो भगवान् भी उसमे निमित्त हुए। गोशालक ने भगवान् पर तेजोलेश्या छोडी तो कर्म बँधे। और कर्म बँधे तो भगवान् उसमे निमित्त हुए या नही? भगवान् को लेकर आवेश उत्पन्न हुआ और उसी आवेश की प्रेरणा से, उन्हे मारने के लिए गोशालक ने उन पर तेजोलेश्या फेंकी। तो भगवान् का व्यक्तित्व उसके कर्मबन्ध मे कारण तो हुआ ही। जैसे भक्तगण भगवान् की

सेवा कर रहे है, वन्दना कर रहे हैं और उनसे बोध प्राप्त कर रहे है, तो वहाँ भी भगवान् निमित्त बन रहे है, उसी प्रकार अपनी निन्दा करने वाले कर्मबन्ध मे भी निमित्त हैं।

हाँ, भगवान् के अन्दर अगर ऐसी वृत्ति होती कि अमुक दुष्ट आ गया है और मुझे या मेरे शिष्यो को तग कर रहा है, तो उनके निमित्त से भगवान् को कर्मबन्ध होता। परन्तु भगवान् तो राग-द्वेष की भूमिका से अलग रहे, गोशालक के मन मे ही द्वेष आया। अतएव उनके निमित्त से भगवान् को कर्मबन्ध न होकर गोशालक को ही भगवान् के निमित्त मे कर्म का बन्ध हुआ।

कोई तीर्थंकर के प्रति द्वेष रखता है, कोई श्रद्धाभाव रखता है। भगवान् दोनो मे समान निमित्त है। जिसका जैसा उपादान होता है, अर्थात् जैसी जिसकी भावना होती है, उसी के अनुसार वह कर्म बन्ध कर लेता है। **'जो जस करई सो तस फल चाखा'**

आकाश मे सूर्य का उदय होता है, तो चोर, जो दूसरे का धन चुरा रहे थे, सूर्य को कोसते हैं, गालियाँ देते है और सेठ सूर्य की प्रशसा करता है कि इसने मेरा धन बचा दिया। परन्तु सूर्य तो तटस्थ है। किसी का धन लुट रहा है तो क्या और बच रहा है तो क्या ? इसी प्रकार भगवान् की सारी वृत्तियाँ भी तटस्थ हैं।

आत्मा मे यदि अच्छे सस्कार हैं तो दुनिया भर की अच्छाइयो को हम ले लेते है और बुरे सस्कार हैं, तो बुराइयाँ ही बुराइयाँ लेते है।

एक वृक्ष को पहले हरा-भरा देखा और लौट कर आया तो देखा कि उसके पत्ते, फल और टहनियाँ नोच ली गई है और टूटी पडी है। यही देखकर किसी मे आत्म-जागृति के भाव उत्पन्न हो गये। तो यहाँ पर वृक्ष निमित्त है, उसने कुछ नही किया है, जो कुछ भी हुआ है, भावना से हुआ है।

इसी प्रकार एक बैल को हृष्टपुष्ट रूप मे देखा। फिर एक समय उसी को बुड्ढे और मरियल के रूप मे देखा और इसी निमित्त से किसी के मन मे जागृति आ गई।

अभिप्राय यह है कि जब उपादान तैयार हो जाता है, तो दुनिया

भर के निमित्त मिल जाते हैं और चेतना जागृत हो जाती है। और यदि उपादान तैयार नहीं होता तो भगवान् का निमित्त मिल जाने पर भी कुछ लाभ नहीं हो पाता, उलटे कर्म बँधते रहते है और अनन्त-अनन्त संसार-परिभ्रमण होता रहता है।

तो, जैनधर्म ने एक दार्शनिक प्रश्न को हल करने के लिए सबसे बड़ी बात यह रक्खी है कि तुम निमित्त का आदर करो, किन्तु उससे बढ़कर भी अपना आदर करो। संसार मे सुख और दुःख तुमको जगाने के लिए आ रहे हैं। तुम यदि स्वर्ण बनकर रहोगे, तो आग मे पड कर भी चमकोगे और यदि घास-फूस बन कर रहोगे, तो जल कर राख हो जाओगे। अन्दर मे दुर्बलता है, तो सारा संसार तुम्हे खत्म करने के लिए है और अन्दर मे शक्ति है, तो कोई बाल भी बाँका नही कर सकता।

इस प्रकार उपादान महत्त्वपूर्ण है। अतएव अपने आपको पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। उपादान के ठीक रहने पर, संसार भर के निमित्त भी उपादान के बिना कुछ नहीं कर सकते।

साधु जा रहा है और किसी ने उस पर उपसर्ग किया। तब साधु क्या यह सोचता है कि मुझे इस आदमी ने दुःख दिया है? नही, वह यह नही सोचता और जैनधर्म ऐसा सोचने की शिक्षा नही देता। जैनधर्म तो यही सिखाता है कि संसार के सभी सुख और दुःख अपने ही कर्मों के फल हैं, अपनी ही वृत्तियो के परिणाम हैं।

जैनधर्म की यह महान् शिक्षा क्या है? यही कि प्रत्येक वस्तु निमित्त से उपादान मे आती ही है। जैनधर्म उपादान मे आने की इस महान् कला को बहुत महत्त्व देता है। तो, कष्ट और संकट आने पर यही सोचना उचित है कि यह मेरे ही कर्मो का भोग है, जो जैसा बाँधता है, वैसा ही पाता है।

जैनधर्म कहता है कि यदि तू उपादान की उपेक्षा करके निमित्त को प्रधानता देगा और व्यक्ति के ऊपर जाएगा, तो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान मे चला जाएगा। इसलिए तू व्यक्ति को ध्यान मे मत रख, यही सोच कि मेरे किए कर्मों का उदय आया है, तो व्यक्तिमात्र निमित्त बन रहा है।

पागल कुत्ते को यदि कोई ईट या पत्थर मारता है, तो वह मारने वाले पर नही, उस ईट-पत्थर पर झपटता है। इसी प्रकार जो कष्ट आने पर अपने कर्मो को न देख कर निमित्त बने व्यक्ति पर झपटता है, वह पागल विवेकवान नही है। जैनधर्म ने आज तक हमे यही सिखाया है कि तू अपने आपको देख। सकट के समय मे भी अपने को देख और सुख के समय मे भी अपने आपको ही देख।

श्रेणिक राजा नरक मे है और जब उन पर घोर दुःख आते होगे तो वे क्या सोचते होगे ? यही तो कि यह सब मेरे ही किए हुए का फल है। जो बोया है, वही काटा जा रहा है। यह नही हो सकता है कि बोये कुछ और काटे कुछ।

शालिभद्रजी भी २६ वें देवलोक मे यही सोचते हैं कि स्वर्ग का यह महान् वैभव मेरे ही कर्मो का फल है और जबतक इसे नही भोग लेता, छुटकारा कैसे मिल सकता है ? जिस समभाव से श्रेणिक महाराज नरक के दुख भोग रहे है, उसी समभाव से शालिभद्रजी २६ वें देवलोक के सुख भोग रहे हैं। इस प्रकार दोनो ही जीवन-उपादानो को लेकर चल रहे है।

अत यदि, शुभोदय से सुख मिल गया है, तो यह अहकार मत करो कि यह तो मेरे किए हुए कर्मो का फल है, इसलिए मैं इसे क्यो नही भोगूँगा ? और दुःख आ पडा है तो यह मत सोचो कि अमुक ने मुझे दुख दिया है। विश्व मे कोई किसी को मूलत. न दुख देता है, न पीडा देता है। जो कुछ भी व्यक्ति प्राप्त करता है, अपने कर्मोदय से प्राप्त करता है। किन्तु यह जो बाह्य परिस्थितिया उसमे कार्य करती दिखाई पडती हैं, एक निमित्त मात्र होती है। हम भ्रमवश निमित्त को ही सब कुछ समझ लेते हैं। यह समझना कि अमुक ने मेरे साथ घोर अन्याय किया है, विश्वासघात किया है, अथवा मानवता का गला घोटा है, यह सोचना, हालाँकि नितात असगत नही है, बाह्यत सही ही है, किन्तु अन्तर बुद्धि से विचार करने पर तथ्य कुछ और ही सामने आता है। सारा विश्व कर्मफलो के आधार पर ही गतिमान है, जिसमे बाह्य परिस्थितियाँ निमित्त बनकर कार्य करती है और इसी कार्य-कारण के सम्बन्धो का उपादान मे आना ही सार को प्राप्त करना है। दोनो जगह समभाव रख कर सुख-दुख को भोग लो। इस प्रकार का समभाव

में कोई सार नही। न ही वेमन की प्रार्थना मे आनन्द ही आता है। वह प्रार्थना, वह स्तुति, वह जप सब निरर्थक है, नीरस है।

सत कबीर ने ठीक ही कहा है

"माला तो कर मे फिरे, जीभ फिरे मुख माँहि।
मनुआ तो चहुँदिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाँहि॥"

यह तो सिर्फ प्रदर्शन मात्र है, और वह भी एक ऐसा प्रदर्शन, जो एक तरह का दम्भ है। औरो को तो क्या, अपने-आपको ही धोखा देना है। इस प्रकार के भावनाशून्य जप का जब परिकल्पित परिणाम नही आता है, तो कहते है 'क्या करे, हम तो प्रभु का नित्य जप करते हैं, किंतु वह सुनता ही नही।' ताज्जुब तो इसी बात पर होता है। अरे भाई, जब आपका अपना मन ही आपके जप का श्रवण नही करता, तो भगवान् कैसे श्रवण कर ले? मन का मदिर तो अधेरे मे है, न तेल न बाती। मन का भगवान् तो सूने मदिर मे विराजित है, उसे कोई पूछने वाला नही, उसकी कोई सुनने वाला नही, फिर बाहर का भगवान् सुन लेगे, वाछित फल भी देगे, यह कल्पना ही निराधार है। इसी लिए कबीरदास ने कहा

"कर का मनका छाडि के, मनका मनका फेर।"

अर्थात्—हाथ की माला छूट जाए तो छूट जाए, परतु मन की माला न छूटे। मन की माला पर श्रद्धा की जीभ से अनुरक्ति की एकात भावना द्वारा अन्दर के देव का जप, परम प्रभु का जप होगा। जबतक भीतर का प्रकाश नही फूटेगा, बाहर की वस्तु दिखेगी भी कैसे? हम नित्य जीवन मे पाते है कि जबतक अधकार रहता है, प्रकाश की कोई किरण नही होती, तब हमे इन चर्म चक्षुओ के रहते हुए भी कुछ दिखाई नही पडता, और जैसे ही प्रकाश की हल्की-सी किरण का भी स्पर्श हुआ, चर्म चक्षुओ मे रही हुई ज्योति जग उठी, हम सबकुछ देखने लग गये। ठीक यही बात मन के साथ भी है। जबतक श्रद्धा-भक्ति पूर्ण जप-साधना का दीप हम नही जलाएँगे, हमे कुछ भी नही दिखेगा। हमारा परम प्रभु अपना दर्शन देने को हमारे द्वार से खडा-खडा हमारी प्रतीक्षा करते-करते थककर लौट जाएगा। हम कुछ भी न पा सकेगे। अत हमे अपने को, अपनी जीवन-यात्रा को सफल

बनाने के लिए यह परम आवश्यक है कि हम निश्चय एवं एकाग्र मन से प्रभु का सदा स्मरण करें। हम उनके नाम का जप करके अपनी वाणी को पवित्र बनाएँ तथा जीवन को सफल करे।

नाम-जप : सम्यक्त्व का आधार :

प्रभु का नाम सदा ही लेने योग्य है। उसके लेने मे कोई बाधा भी नही है। आज से ही नही, बल्कि जैनधर्म के पुराने इतिहास को टटोलेगे, तो अपने पूर्वजो के और महापुरुषो के नाम लेना, अपनी श्रद्धा-भावनाएँ उनको देना, अपने शुभ सकल्प को और आनन्द की हिलोरो को सबको देना, यह सदा ही होता रहा है। उसी मे से 'लोगस्स' निकल कर आया है। सामायिक करेंगे तब भी 'लोगस्स' पढेगे और पारेंगे तब भी 'लोगस्स' पढेंगे। प्रतिक्रमण मे भी 'लोगस्स' का पाठ आता है।

चौवीस तीर्थकरो की स्तुति का प्रश्न आया और गौतमस्वामी ने पूछा

"चउव्वीसत्थएणं भते। जीवे किं जणयइ ?"[1]

अर्थात्—प्रभो! चौवीस तीर्थकरो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है? और भगवान् ने समझाया

"चउव्वीसत्यएण दंसणविसोहिं जणयइ।"[2]

अर्थात् चौवीस तीर्थंकरो के जाप से दर्शनविशुद्धि होती है।

धर्म का मूल : सम्यक्त्व :

चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति करने से, उनका गुणगान करने से और अपनी भावनाओ को उनके चरणो मे अर्पण करने से, केवल जीभ से नही किन्तु मन से भी, उनका नाम जपने से दृष्टि की विशुद्धि होती है, अर्थात् सम्यक्त्व निर्मल होता है। सम्यक्त्व के निर्मल होने का मतलब है, धर्म की जड का मजबूत होना।

एक वृक्ष ऐसा है जो ऊपर से हरा-भरा है, पत्तो से सघन है, फूलो और फलो से लदा है, किन्तु जड उसकी मजबूत नही है, खोखली है, तो वह वृक्ष कितने दिन हरा-भरा रह सकेगा? आँधी का एक हल्का-सा

१ उत्तराध्ययन
२ वही

उपादान में जाने से ही पैदा होगा।

अत इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म निमित्त को अस्वीकार नही करता, वल्कि यही कहता है जहाँ तक तुम्हारी जगह है, यहाँ तक स्वागत है, किन्तु उससे आगे तुम्हारा कोई सम्मान नही है, तुमसे भी वढ कर मेरा सम्मान है। जीवन की योग्यता का सम्मान है। वह जैसी होगी, उसी के अनुरूप मेरा कल्याण होगा।

इस प्रकार सत्य को हृदयगम करके जो मनुष्य अपनी वृत्तियो, अपनी भावनाओ और चित्त की परिणतियो को उत्तम बनाता है, वही सुख और शान्ति पाता है।

२७-१०-१९५० को कविश्रीजी द्वारा दिया गया प्रवचन

१

जप साधना

परम प्रभु के परम ऐश्वर्यमय गुणो का चिंतन, उनके नाम का अखड अनुरक्ति एव श्रद्धाभक्ति के साथ स्मरण करना ही जप-साधना की आधारभूमि है। हम परम प्रभु के नाम का अथवा गुणो का स्मरण-स्तुति एव जाप क्यो करते है? इसलिए कि हमारा चिंतन विराट् हो। हमारा विचार-क्षेत्र व्यापक हो। हमारी आत्मा परम प्रभु का स्मरण कर विश्वात्मा का विराट् रूप पा सके। जप-साधना के द्वारा जब हमारा मन एकाग्र हो प्रभु के चरणो मे सभक्तिलीन हो जाएगा, दुनिया की वह कौन सी वस्तु है, जो हमारे लिए अलभ्य रह जाएगी? लेकिन स्मरण रखने की बात यह है कि साधक को अपनी साधना मे सफलता तभी मिलती है, जबकि उसके अन्दर मे श्रद्धा का, निष्ठा का, विश्वास का सागर लहरा रहा हो। एक साधक ने ठीक ही कहा है

"कौनकु सिद्धि कि बिनु विश्वासा।"

हम प्रतिदिन प्रभु के चरणो मे प्रार्थना करते हैं, उसकी स्तुति करते हैं, उसके दिव्य नाम का जप करते है, कोई घर पर बैठ कर करता है, कोई मदिर मे, कोई स्थानक मे, कोई गुरुद्वारा मे, कोई मस्जिद मे, तो कोई गिरिजाघरो मे जाकर करता है। हमारी प्रार्थनाओ के पीछे सिर्फ शरीर और वाणी की हलचल ही नही, बल्कि मन का जुडना भी आवश्यक होता है। शरीर और वाणी भगवान् के समक्ष झुककर मुखर हो रहे हो और मन कही सिनेमा स्टूडियो, होटल, रेस्ट्राँ मे यानि महज सारी दुनियादारी के चक्कर मे उलझे हो, तो उस प्रार्थना

झोका आएगा और वह धराशायी हो जाएगा। एक बार करवट बदली कि हमेशा के लिए समाप्त हो जाएगा। उसका एक-एक फूल और पत्ता गल जाएगा, सड जाएगा। उसकी प्रत्येक शाखा-प्रशाखा सूख जाएगी, उकठ काठ बन जाएगी। फिर जलाने के सिवाय और क्या काम आएगी ?

धर्म रूपी वृक्ष की भी यही स्थिति है। यदि धर्म के वृक्ष का मूल मजबूत है, अर्थात् सम्यक्त्व दृढ है, तो वह फलो और फूलो से लदा रहेगा और यदि मूल को मजबूत नही बनाया जाएगा, तो उसका अस्तित्व कितने दिन टिकेगा ?

तो, क्या हमारे यहाँ और क्या दूसरो के यहाँ, सभी जगह, शुद्ध श्रद्धा को ही धर्म का मूल माना गया है। जिसका सम्यक्त्व-मूल सुदृढ होगा, उस धर्म मे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के फल लगेंगे। अनन्त-अनन्त फल लगेगे और अनन्त-अनन्त गुणो का विकास होगा। और, यदि सम्यक्त्व ही शुद्ध न हुआ, दृष्टि ही विशुद्ध न हुई, तो कोई मधुर फल लगने वाला नही। इस प्रकार धर्म का मूल सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व की विशुद्धि का कारण तीर्थ करो का स्तवन करना है, उनके नाम का जप करना है। इस प्रकार नाम-जाप का बहुत बडा महत्त्व है। इस विषय मे भारतीय भक्तो ने सुन्दर-सुन्दर वाणियाँ उच्चारी है। तुलसीदास ने कहा है

"राम-नाम मनिदीप धरु, जीह-देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरउ, जौं चाहसि उजियार॥"

यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे भीतर और बाहर उजियाला हो, तुम्हारा अन्तर् प्रकाश से जगमगा उठे और बाहर की सृष्टि भी प्रकाश से परिपूर्ण हो जाए, तो तुम अपनी जीभ रूपी देहली पर राम के नाम का मणिमय दीपक रख लो। जीभ की देहली पर भगवन्नाम का दीपक स्थापित कर लोगे, तो अन्दर के जगत् के साथ-साथ बाहर का जगत् भी आलोकित हो जाएगा। अभिप्राय यह है कि यदि प्रभु का नाम जपोगे तो भीतर और बाहर का अन्धकार नष्ट हो जाएगा।

इसी प्रकार सूरदास भी कहते है

"'सूर' किसोर कृपातें सब बल हारे को हरि नाम।"

जब संसार के सभी बल थक जाते हैं और शरीर का, धन का, तलवार और बन्दूक का या सेना का बल भी नाकामयाब हो जाता है, तब हरि के नाम का बल काम आता है। दुनिया की तमाम शक्तियाँ धोखा दे जाती हैं, किन्तु परमात्मा के नाम की शक्ति कभी धोखा नही देती।

अभिप्राय यह है कि जो महापुरुष अहिंसा और सत्य की राह पर चले हैं, जो रुकावटो के आने पर भी, और दुनिया के विघ्नों के पहाडों के आडे आने पर भी अडे रहे, वासनाएँ आई, तो उन्हे कुचलते हुए आगे बढते चले गये, और एक दिन अहिंसा की चरम सीमा अतिम भूमिका पर पहुँचे, उन महापुरुषो के आदर्श पर हम यदि चलना चाहेगे, तो हमे उनका स्मरण करना होगा, उनका कीर्त्तन करना होगा और उनके पावन नाम को अपने हृदय मे बसाना होगा। जो जिस मार्ग पर चलना चाहता है, उसके लिए उस मार्ग पर चल कर मजिल तक पहुँचे हुए पुरुष ही आदर्श हो सकते हैं। साहूकार का आदर्श साहूकार होता है और वीर पुरुष का आदर्श वीर पुरुष ही हो सकता है, बुजदिल, कायर और भगोडा उसका आदर्श नही बन सकता। उसे उससे प्रेरणा नही मिल सकती, जो पुरुषार्थ के क्षेत्र मे संघर्ष करते है, जीवन के मैदान में लड़ रहे हैं और कल्पनाओ से टकराते रहे है, वही वीर पुरुष वीर के आदर्श होगे।

यदि शेर बनना है, तो मन मे शेर का सकल्प रखना होगा। गीदड का सकल्प रखने वाला गीदड ही बन सकता है, शेर नही बन सकता। आप क्या बनना चाहते हैं शेर या गीदड ? फैसला किया है या नही ? आप शेर बनना चाहते हैं और अपने विकल्पो एवं वासनाओ से लडना चाहते है और बुजदिल बनकर ससार की ठोकरें नही खाना चाहते, तो आपको त्याग और वैराग्य के पथ पर चलना पडेगा और उन महान् पुरुषो के आदर्श पर चलना पडेगा, जिन्होने इस पथ पर चलकर परिपूर्ण विजय प्राप्त की है, जो 'अरिहत' हो चुके हैं, 'जिनेन्द्र' हो चुके है और जो 'मृत्युञ्जय' बन चुके हैं।

अपने जीवन को पवित्र बनाना ही हमारे जीवन का एकमात्र आदर्श है। हमें मन के मैल को साफ करना है और कूडे-कचरे के ढेर में दबी आत्मा को तलाश करना है। वासनाओ की गदगी का ढेर हमारी

आत्मा पर आ गया है और हमारा जीवन रत्न उस गंदगी मे दब गया है। उस गदगी को हटा कर अपने आत्म-रत्न को तलाश करना है। और वह तलाश यदि ढलते हुए विश्वास से करेंगे, तो कैसे काम चलेगा ?

जो व्यक्ति और जो समाज जीवन के क्षेत्र मे दीन-हीन वृत्तियाँ, लडखडाती हुई वृत्तियाँ ले कर चलेगा और विश्वास के प्रबल बल के साथ नही चलेगा, वह कभी भी तरक्की नही कर सकता। इसी प्रकार जो राष्ट्र ढीले मन से चलेगा, वह ऊँचा नही उठ सकता। वही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र आगे बढ सकता है, जिसे धक्के की आवश्यकता नही है और खुद चलना जानते हैं। जिसके पैर ठीक नही है, वह यदि किसी के कधो का सहारा लेकर चलता है, तो हम समझते हैं कि उसके पैरो में शक्ति नही है। किन्तु एक नौजवान, हट्टाकट्टा जो यदि किसी चट्टान से टकराए तो उसे भी चकनाचूर कर देने की शक्ति रखने वाला हो, यदि वह दूसरे के कधो का सहारा लेकर चले, तो मुश्किल है।

हमें यह आदत पड गई है। हम वैशाखी का सहारा लेकर चलते हैं। किन्तु यह जो लूले-लंगडो के लिए वैशाखियाँ लगाई जाती हैं, उनके सहारे जीवन की कठोर मजिले तय नही की जा सकती। इन घोडियो के सहारे हिमालय नही लांघा जा सकता। वह तो अपने ही पैरो से लांघा जा सकता है, अपनी ही दृढता से लाघा जा सकता है।

किन्तु इस समाज का क्या करे, जिसे धक्का खाकर चलने की और धक्का दकर चलाने की आदत पड गई। यदि छोटा-सा काम आ पड़ा है, तो धक्का-मुक्की शुरू है। सामायिक करनी है, दया करनी है अथवा और कोई भी काम करना है, तो धक्कमधक्का होता है। यह सब क्या चीज है ? इन वैशाखियो और घोड़ियो का सहारा लेना छोड़ो और जो कुछ करना हो मन से करो, दूसरे न करे तो उन्हे छोडो, उनके पीछे-पीछे तुम मत चलो।

सम्यक्त्व में सहारे की जरूरत नही है। दर्शन-विशुद्धि के काम में, जीवन के पवित्र क्षेत्र मे सहारे का कोई मूल्य नही है। यहाँ तो विश्वास का मूल्य है। यदि आपका विश्वास दृढ है, तो आपको भगवान् के स्वरूप की झांकी मिलेगी। किन्तु यदि आपको हृदय में दृढ श्रद्धा नही है और भावना की लहर नही उठी है, तो भगवान् के स्वरूप की झांकी कभी नही मिल सकेगी।

कबीर से किसी ने पूछा भगवान् कहाँ है? गोलोक में हैं या वैकुण्ठ में हैं? कोई कहीं और कोई कहीं बतलाता है। आपकी समझ में भगवान् कहाँ हैं?

कबीर के सामने यह प्रश्न आया तो उन्होंने कहा

"मुझको कहाँ ढूंढे बन्दे! मैं तो तेरे पास में।
ना मैं मक्के, ना मैं काशी, ना काब कैलास में॥
मैं तो हूँ विश्वास में॥"

कबीर कहते हैं कि ईश्वर कहता है मेरी तो एक ही जगह है। मैं एक ही जगह रहता हूँ। जहाँ विश्वास है, वहीं मेरा वास है। जहाँ विश्वास नहीं, वहाँ मेरा वास नहीं। कोई अतिथि आता है, तो कहाँ रहता है? छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, कैसा भी अतिथि क्यों न हो, वह तो आपके प्रेम में और आपकी भावना में ही रहता है। आपका सगा-सम्बन्धी हो या मेहमान हो किन्तु उसके प्रति आपका प्रेम नहीं है और आदर-भाव नहीं है, तो क्या है? सगा बाप भी है, तो भी कुछ नहीं है। पिता बहुत ऊँची चीज है, किन्तु आदर नहीं तो कुछ नहीं। कंस का भी पिता था और बूढ़ी हालत में था, तब भी पिता ही था। किन्तु कंस की निगाह में कुछ नहीं था। हाँ, अतिमुक्तकुमार के लिए वह पिता था। तो जिस प्रकार अतिथि और सगे-सम्बन्धी प्रेम और भावना में है, उसी प्रकार भगवान् विश्वास में है। एक दार्शनिक विद्वान् ने कहा है

"न देवो विद्यते काष्ठे, न पासाणे व मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्॥"

देवता न काष्ठ में है, न पाषाण में है, न मिट्टी में है और न सोने-चाँदी में है। वह कहीं नहीं है, वह तो भावों में है। देव अन्दर में है, भावना में है। इसलिए अपने भावों की तरफ देखो।

"नाहं वसामि वैकुंठे न च योगिनाम हृदये।
मद्भक्ता यत्र गायन्ते तत्र तत्रैव वसाम्यहमर्जुन॥"

भगवान् तो भक्तों के गायन में, उसके जप में ही विराजते हैं। इस दृष्टिकोण से यह जप एक बहुत बड़ी उपासना है। इस उपासना से

सम्यक्त्व की शुद्धि होती है, भावनाएँ निर्मल होती है और जब भावनाएँ निर्मल होती है, तो दया, अहिंसा, दान आदि सब चमकने लगते है।

विश्वास और भावना :

विश्वास और भावना बडी चीज है। सत्य के प्रति विश्वास नही है, तो सत्य भले बोला जा रहा हो, किन्तु वह सत्य काला पडेगा। भावना के साथ दिए हुए दान का यदि एक पैसा भी चमचमाता है और उसमे से तेजस्वी चिनगारी निकलती है, किन्तु यदि दान के पीछे भाव बिगाड लिए गये हैं, तो भले वह लाखो का ही क्यो न हो, धुंधला पड जाता है। अभिप्राय यह है कि भगवान् का नाम लेना और भावना के साथ लेना बहुत महत्त्वपूर्ण चीज है।

परन्तु कई नये साथी, जो नई तरंग और नई उमग लेकर आये हैं और जिन पर देश और समाज का भविष्य निर्भर है, कहते सुनाई देते हैं कि खाली नाम लेने से क्या होगा? हम उनसे कहना चाहते हैं कि खाली नाम न लो, भरे हुए नाम लो। किन्तु यह समझना गलत है कि नाम लेने से क्या होता है।

मान लीजिए, आपका किसी पर हजारो का लेन है। आप मांगते हैं, पर वह नही देता है, तो अदालत की शरण लेते हो। आपका वकील नोटिस का मसविदा तैयार करके आपसे पूछता है मुद्दायले का नाम क्या है? आप कहेगे नाम तो याद ही नही है। अदालत मे जज पूछेगा किससे सबसे वसूल करना चाहते हो? आप उत्तर देंगे साहब वसूल तो करने है, किन्तु नाम नही मालूम है। नाम तो भूल गया हूँ।

ऐसी स्थिति मे लाखो और करोडो का लेना भी होगा, तो कितनी कौडियाँ वसूल होगी? आप कह रहे है न कि नाम का मूल्य नही है। जो नाम के मूल्य को नही समझ पाते, उनकी स्थिति बडी बेढब हो जाती है।

एक अनपढ और मूर्ख आदमी किसी के यहाँ नौकर रह गया। उसे ऊँट चराने का काम सौंपा गया। एक बार ऊँट चराते-चराते वह सो गया और चोर ऊँट को ले गया। वह जब जागा, तो ऊँट को न देखकर इधर-उधर भागने लगा।

वह हजरत अपनी तरफ से निराले ही थे। उन्हें न अपने मालिक के नाम का पता था, न अपने नाम का। और तारीफ तो यह कि जिसे चराते थे, उसके नाम का भी उन्हे पता नही था।

तो वह इधर-उधर भटकता है और कहता फिरता है वह गया। वह गया। लोग पूछते है—अरे क्या गया ? पर उसे ऊँट कहना नही आया। कोई पूछता है तुम्हारा नाम क्या है ? परन्तु उसे अपना नाम भी नही याद रहा। किसी ने जानना चाहा किसके यहाँ काम करते हो ? तो मालिक के नाम का भी पता नही रहा। अब बताओ, ऐसे आदमी से आपका पाला पड जाए, तो आप क्या करेगे ? आप उसे नौकर तो रख लेगे ?

बन्धुओ ! सारे ससार की भूमिका नाम के ऊपर ही टिकी हुई है, और आप कहते हैं कि नाम का कुछ मूल्य नही है।

भगवान् के नाम की स्मृतियाँ हमारे जीवन मे प्रेम की धार उडेल देती हैं।

नाम बड़ा या रूप ?

प्रश्न छिडा कि नाम बडा है या रूप ? कुछ ने कहा नाम बडा है और कुछ ने कहा रूप बडा है। इस दार्शनिक प्रश्न को आप इस प्रकार आसानी से समझ सकते है मान लीजए, आपका कोई प्रेमी है। आपने उसे देखा नही है और नाम सुना है। नाम से और काम से आप परिचित हैं, रूप नही देखा है। वह प्रेमी अचानक आकर आपके द्वार पर खडा हो जाए, तो उसे देखकर क्या करेगे ? कहेगे चलो, हटो यहाँ से। आप उसका अनादर करेगे। और जब वह अपना नाम बताएगा, तो आप कहेगे क्षमा कीजिए। भूल हो गई। आइए, पधारिए, पता नही था कि आप हैं।

क्यो भाई, क्या हो गया अब ? तब और अब मे क्या अंतर आ गया ? यही कि पहले नाम नही मालूम था और अब नाम मालूम हो गया। तो नाम का यह महत्त्व है। नाम के बिना प्रेमी भी सामने आ जाए, तो धक्के मिलते है। भगवान् को स्मरण करोगे, तो नाम पहले आएगा। और फिर नाम के साथ भावना भी रखिए, सकल्प भी रखिए और प्रीति भी रखिए और तब आपका उद्देश्य सफल हो जाएगा। तुलसीदास ने सत्य ही कहा है

"राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥"

आपके यहाँ का जाप लगातार चौबीसों घण्टे चलने वाला है। दिन में भी और रात में भी चलेगा। मैं समझता हूँ कि कठिन से कठिन जो समय है, उसे लेने वाला ज्यादा चमकेगा।

जब रामायण का युद्ध होने लगा और राम की सेना तैयार हो गई और कमान को सम्भालने का प्रश्न आया, तो हनुमान से पूछा गया तुम्हारा नाम कहाँ रक्खा जाए ?

हनुमान ने तत्काल उत्तर दिया जहाँ कोई न हो, वहाँ मेरा नाम रख दीजिए। जहाँ सरल काम है, वहाँ हजारों आ जाएँगे, कठिन काम के लिए भी तो कोई चाहिए। अतएव हनुमान की जगह वही है, जहाँ कोई नही है।

रामायण राम से तो चमकी है, परन्तु हनुमान न होते, तो उसमें उतनी चमक न आती। हनुमान न होते, तो रामायण का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। आप सोच सकते हैं कि सीता का पता लगाना कितना कठिन काम था! किन्तु हनुमान ने मौत के मुँह में घुस कर भी सीता का पता लगाया। हनुमान से पूछा गया लौट कर कैसे आओगे ? तब हनुमान ने कहा हनुमान कार्य सिद्ध करके ही लौटना जानता है, कार्य सिद्ध किये बिना लौटना नही जानता। हनुमान ने कहा

"कार्यं वा साधयेयम् , देहं वा पातयेयम्।"

तो हनुमान का काम सेवा के लिए समय तलाश करना नही है। कठिन से कठिन मोर्चे पर आगे रहना उनका काम है। यदि आप हनुमान की जगह पा लेंगे, तो राम के हृदय में जगह पा लेंगे।

इस प्रकार आपके यहाँ जप की, प्रभु का नाम लेने की, जो चर्चा चल रही है, वह बहुत ठीक है। जप के लिए आप घर से आएँ, तो रस लेकर आएँ और तरंग तथा भावना लेकर आएँ। काम करना है तो रस क्यों न लिया जाए।

भारत की एक दुर्बलता है कि यहाँ काम तो किया जाता है, परन्तु रस नही लिया जाता। भारत का हजार-हजार वर्षों का इतिहास बतलाता है कि देश के लिए काम तो किए गए, परन्तु रस लेकर नही किए गए। इससे देश का पतन ही हुआ।

हमारे यहाँ एक कहावत चली आती है 'हँसता रोता पाहुना'। घर मे मेहमान आ गया है, तो यदि हँसते-हँसते खिलाओगे, तो भी खिलाना पडेगा। और, रोते-रोते खिलाओगे, तो भी खिलाना पडेगा। किन्तु, हँसते-हँसते यदि खिलाओगे, तो दोनो को आनन्द आएगा। और रोते-रोते खिलाओगे, तो किसी को भी रस नही आने वाला है।

आशय यह है कि जब करना ही है, तो रस लेकर करो। कर्त्तव्य आ गया है, तो रोना क्या! प्रसन्न मुद्रा से करो और उसमे से आनन्द प्राप्त करो। यदि मीठी लहर से काम करोगे, तो अवश्य ही आनन्द प्राप्त कर सकोगे। ऐसा करने से जो रकम डाली जा रही है, वह कई गुनी वसूल हो जाएगी। जो समय लगाया जाएगा, वह सार्थक हो जाएगा।

गीता मे श्री कृष्ण भी स्पष्ट शब्दो मे कहते है

"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।"

श्रेष्ठ वस्तुओ की गिनती करते हुए वे समस्त यज्ञो मे जपयज्ञ को श्रेष्ठ बतलाते है। यज्ञो की बात आई, तो उन्होने कहा 'यज्ञो में मैं जपयज्ञ हूँ' अपने इष्टदेव का, अपने प्रभु का नाम जपना सब से श्रेष्ठ यज्ञ है। इसमे हिंसा के लिए लेश मात्र भी अवकाश नही है रक्त की एक भी बूँद नही बहानी पडती और किसी को कुछ भी कष्ट नही होता। इसमे अहिंसा, दया और करुणा की झकार है। यह यज्ञ अहिंसा का प्रतीक है।

जब आप जप के साथ अपनी सद्भावना को और शुभ सकल्प को जोड देंगे, तो अवश्य ही उसमे रस का अनुभव होने लगेगा और उससे आपका कल्याण होगा।

जप-साधना और संस्कृति :

भारतीय सस्कृति की जब बात आती है, तो हमें यह सोचना पडता है कि हमारी सस्कृति अथ से इति तक साधना पर आधृत है। उसमें श्रमण-सस्कृति की तो स्थिति ही साधना पर अवलम्बित है। श्रमण सस्कृति मे अहिंसा पर बल दिया गया है, सत्य पर बल दिया गया है, अपरिग्रह पर बल दिया गया है, अस्तेय और अचौर्य आदि पाँच महाव्रतो की अखण्ड साधना पर बल दिया गया है। किन्तु जब हम इन पाँच महाव्रतो के आभ्यतर-पक्ष पर चिन्तन एव मनन-करते हैं, तो उसके मूल मे यही पाते हैं कि सभी व्रतो का आधार जप है। यदि

जप की, उसकी पीठिका न होती, तो उसके प्रति सहज अनुरक्ति का आना सम्भव न होता। हमे उन सबके बीच भगवान् महावीर की विराट् चितना एव सदेश की झाँकी दिखाई पडती है। और जब हम यह अनुभूत कर लेते है कि इन समस्त के बीच भगवान् का सदेश गूँज रहा है, तो हमारा अन्तर्मन अनायास उस ओर सभक्ति झुक पडता है। तो इससे क्या झलकता है? यही न, कि पंचमहाव्रतो मे भगवान् की झाँकी है, और उसी झाँकी को पाकर हम भक्ति भाव से उसे जीवन मे अपनाने को चल पडते हैं।

इसी प्रकार, मात्र श्रमण सस्कृति ही नही, प्रत्युत समग्र भारतीय सस्कृति मे जप की मूल सत्ता निहित है। कोई भी व्यक्ति जप करने की ओर तभी उन्मुख होता है, जब कि उन साधना-विम्ब की गरिमा का उसे आभास हो जाता है, और तब सहज भाव से उसकी अन्तरात्मा उसका स्तवन-वंदन किवा जप करने को उमड़ पडती है। इसकी श्रद्धा सद्‌भावना की सरसधारा मे हिलोरें लेने लग जाती है। उस जप-साधना की सरसधारा मे उसका अहं आदि समग्र कषाय धुल जाता है।

यहाँ पर आकर साधक भक्ति की पावन धारा मे सरसाने लग जाता है। ऐसी ही स्थिति मे आकर भक्त तुलसीदास ने अपनी जप-साधना की कसौटी पर हृदय खोलकर रख दिया और कहा

"पायौ नाम चारु चितामणि चित्त कंचन ही कसै हो।
नाम रूप शुचि रुचिर कसौटी उर करत न खसै हौं॥"

यहाँ भक्त नाम-जप की सुन्दर चितामणि-कसौटी पर चित्त-कचन को कस-कस कर कुदन बना रहा है।

भारतीय वागमय में ऐसे-ऐसे अनेको उदाहरण भरे पडे हैं कि व्यक्ति के अन्दर जब श्रद्धा जगी, विनयिता का जागरण हुआ कि बस, उसका सारा कल्मष-कषाय दूर हो गया। अशुभ वृत्तियाँ विनष्ट हो गई, शुभ वृत्तियाँ भी तिरोहित हो गई और वह शुद्ध स्थिति मे पहुँच गया। इसीलिए जीवन-यज्ञ मे जप-यज्ञ की विराटता का, सार्वभौमता का महत्त्व स्वीकारा गया है।*

*८-७-५० को दिया गया कविश्री जी का प्रवचन।

१८

मानवता का मूल्य

मानवता का मूल्य क्या है ? इसे समझने के पूर्व हमें यह समझ लेना आवश्यक है कि यह मानवता है क्या वस्तु ? मानवता मानव के सद्गुण का गुणबोधक पर्याय है। मानव होने के नाते, मानव के रूप में जो उचित पथ दिशा पर मानव के कार्य-कलाप दैनन्दिन घटित होते हैं उन्हे हम मानवता कहे तो कोई असंगत बात न होगी।

मानवता का तात्पर्य :

अत: हम कह सकते हैं कि मानव अपने जीवन को चरितार्थ करने के लिए जिन नैतिक मार्गों का अनुसरण करता है, उन्ही की शाब्दिक अभिव्यक्ति मानवता है। दानवता या पशुता के विपरीत जो चिंतन, मनन एवं कार्यान्वयन होता है, वही तो मानवता है।

मनुष्य 'आखिर चारि लाख चौरासी' में नाना जन्म धारण करता हुआ, अपने शुभ वृत्तियो के परिणाम स्वरूप मानव तन धारण करता है। मानव होने के नाते इस मानव तनधारी प्राणी का अन्य प्राणियो से कुछ भिन्न कर्त्तव्य है। जीवन-जगत्, लोक-परलोक आदि की चिंतना एवं उसकी अभिव्यक्ति करने में सहज समर्थ, यह मानव, प्रकृति की सृष्टि की एक अनुपम उपलब्धि है। प्रकृति को सम्भवत मानव की सर्जना करके जितना आत्म-संतोष मिला होगा, उतना शायद अन्य जड-जंगम की सर्जना से नही, हालांकि प्रकृति में मानव से भी अधिकाधिक सुन्दर वस्तुएँ हैं, जिन पर मानव बलिहार जाता है, और उससे स्पर्धा करता हुआ, उससे अपने भिन्न-भिन्न अगो को उपमित करता है।

जैसे, कमल, कदली, गुलाब, मृग एवं मृगनयन, कनक, चंदन, सागर, हिमाचल आदि-आदि।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या मानव-तन पा लेना ही सब कुछ है ? क्या इसके बाद इसके लिए अन्य किसी बातों की अपेक्षा नही ? उत्तर स्पष्ट है कि कभी-कभी सामान्य जीवन में ऐसा देखा जाता है कि अधिकाश मानव-तनधारी पशु से भी अधम श्रेणी के होते है, और बहुत से पशु मानव से कही ज्यादा उपकारी होते हैं। अत मानव-तन पा लेना ही सब कुछ नही है। सबसे बडी बात तो इस जीवन को सत्कर्मो मे लगाकर इसकी श्रेष्ठता चरितार्थ करना है। मानव तन पाने का सही अर्थ तो यही है कि यह स्व-पर की भावनाओ से ऊपर उठकर शुभ से शुद्ध दशा की प्राप्ति कर सके। अपनी स्वात्मा का इतना बडा विस्तार कर सके कि यह विराट् पुरुष बन जाए। विराट्-पुरुष से मेरा तात्पर्य विराट्-आत्मा वाले पुरुष से है, जिसकी स्वात्मा विश्वात्मा के साथ एकीभूत होकर एक हो जाती है। उसकी चितना विश्वात्मा की चितना होती है, उसकी अनुभूति मे विश्वात्मा की अनुभूति होती है यानी विश्वात्मा की जो अनुभूति होती है, वह उस एक विराट् पुरुष की अनुभूति में सामान्य रूपेण पाई जाती है।

जैनधर्म और मानवता :

और यही वह भूमिका होती है जहाँ मानव का आन्तरिक उन्नयन अपने लक्ष्य को छू लेता है, वह ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है। जैन-धर्म यही तो बताता है। मानव के इसी मानवपन के क्रमिक विकास की व्याख्या तो जैन धर्म की आधार भित्ति है। जैन धर्म किसी देव या किसी कल्पित ईश्वर की कल्पना कर उसकी पूजा-अर्चा में विश्वास नही करता, बल्कि वह तो व्यक्ति-मानव को ही अशुभ-शुभ से शुद्ध स्थिति मे पहुँचाकर और अत मे सबसे मुक्त करके वीतराग पुरुष बनाकर पूर्ण ईश्वरत्व का रूप देने में विश्वास करता है। और यथार्थ स्थिति भी नही है। मानवता का इस कारण और भी मूल्य बढ जाता है कि मानव जीवन ही वह जीवन है, जिसको पाकर व्यक्ति मानव से महामानवत्व एवं अंत में ईश्वरत्व को भी प्राप्त कर सकता है। अन्य किसी प्राणी के साथ ऐसी बात नही देखी जाती। मानव जीवन इसीलिए महान् है, इसीलिए यह सर्वश्रेष्ठ जीवन है। भारतीय धर्मशास्त्रो मे मानव

जीवन की बडी महिमा गाई गई है। कहा गया है कि देवता भी मानव जन्म की प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं। सत तुलसी ने इसीलिए कहा है

"बड़े भाग मानुसतन पावा"

मनुष्य जीवन की सार्थकता :

भगवान् महावीर ने स्वय अपने मुख से मनुष्यो को 'देवाणुप्पिया' अर्थात् 'हे देवो के प्यारे' कह कर पुकारा है। जिसकी दुर्लभता का बखान भगवान् स्वय अपने श्रीमुख से करते हो, वह मनुष्यजन्म भला अनमोल क्यो न हो ? मोक्षप्राप्ति के चार कारणो को दुर्लभ बताते हुए भगवान् महावीर ने अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में मनुष्यत्व को ही सबसे पहले गिनाया है। उन्होने कहा

"मनुष्यत्व, शास्त्रश्रवण, श्रद्धा और सदाचार इन चार साधनो की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।"[1]

क्या सचमुच ही मनुष्यजन्म इतना दुर्लभ है ? इसमे तो सन्देह नही कि मानवभव अतीव दुर्लभ वस्तु है, परन्तु मनुष्य शरीर के बजाय मनुष्यत्व की दुर्लभता का ही प्रतिपादन यहाँ भगवान् ने किया है।

हम अनन्त बार मनुष्य बन चुके है लम्बे, चौडे, सुन्दर, सुरूप और बलवान। पर इससे लाभ तो कुछ हुआ नही। मनुष्य शरीर रूपी दुकान खोल लेने मात्र से कोई ज्यादा तरक्की नही हो गई। तरक्की होती है दुकान खोल लेने के बाद, जितनी बडी दुकान हो, उतनी बडी जिम्मेवारी निभाने से। अगर आप सफल व्यापारी हैं, तो दुकान खोल लेने पर आपकी मनुष्यता रूपी माल का प्रचार कोने-कोने मे फैल जाएगा। आपके जीवन की महक दूर-दूर तक विदेशो मे पहुँच जाएगा। नही तो कभी-कभी लेने के देने भी पड़ गए है।

बहुत जगह देखते हैं मनुष्य जीवन की दुकान तो खोल ली गई है, पर बैठा है हैवान बन कर, दैत्य बन कर। मनुष्य बन कर गद्दी पर नही बैठा है। वह इन्सान के रूप में हैवान बन कर बैठा है। ऐसा

१. चत्तारि परमंगाणि, दुलहाणीह जतुणो।
माणसत्त सुई सद्दा, संजमम्मि य वीरीय ॥
उत्तराध्ययन, ३

व्यक्ति कभी भी सफलता नहीं पा सकता। राम और रावण तथा कृष्ण और कंस, ये सब इन्सान ही तो थे। रावण को शायद आप इन्सान की कोटि में न गिनते हों, क्योंकि आपके यहाँ उसके सिर पर दशहरे के दिन, गधे का सिर लगाया जाता है और उसे राक्षस समझा जाता है। ऐसा करके आप रावण के प्रति कितनी ही घृणा व्यक्त करें, किन्तु वह था तो मनुष्य ही। कंस और शिशुपाल आदि मनुष्य ही थे, किन्तु उनका दिमाग मनुष्य का नहीं था। तो जिसका दिमाग मनुष्य का न हो, जिसके दिल मे इन्सानियत न हो, वह बाहर से भले ही मनुष्य बना फिरता रहे, परन्तु उसमें और पशु मे कोई अन्तर नहीं रह जाएगा।

आप उन रावण और कंस जैसे व्यक्तियो को दैत्यो की श्रेणी मे क्यो गिनते हैं? इसी कारण न कि उन्होंने इन्सान का रूप लेकर भी इन्सानियत नही रक्खी। जो इन्सान का रूप लेकर इन्सानियत न रक्खे, उसे इन्सान कैसे कहा जा सकता है? इन्सान तो चोर भी है, जो निर्दयता के साथ दूसरो का धन चुरा लेता है। मनुष्य तो कसाई भी है, जो प्रतिदिन निरीह पशुओ का खून बहाकर प्रसन्न होता है। मनुष्य तो साम्राज्यलिप्सु राजा लोग भी हैं, जिनकी राज्यलिप्सा के कारण लाखो मनुष्य बात की बात में रणचण्डी की भेंट हो जाते है। मनुष्य तो वेश्या भी है, जो रूप के बाजार में बैठकर, चंद चाँदी के टुकडो के लिए अपना जीवन बिगाडती है और देश की उठती हुई तरुणाई को मिट्टी में मिला देती है। आप कहेगे, यह मनुष्य नही राक्षस है।

मनुष्य और मनुष्यत्व :

अत स्पष्ट है कि मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी यदि मनुष्यता प्राप्त न की गई, तो मनुष्य-शरीर बेकार है, उससे कुछ लाभ नही। आशय यह है कि मनुष्य-शरीर इतना दुर्लभ नहीं है, जितना कि मनुष्यत्व दुर्लभ है। मोल बाहर के परिधान का नही है, बल्कि मोल है अंतर में रही हुई शुभ आत्मा का उदात्त भावना का।

यही कारण है कि मनुष्यता पाए बिना चाहे कितने ही क्रियाकाण्ड और सामायिक-प्रतिक्रमण आदि किए जाएँ, सब व्यर्थ है। जैनधर्म यही पूछता है कि चाहे तुम किसी धर्म या पंथ को मानने वाले हो, पहले इससे कोई मतलब नहीं, तुम्हारे अन्दर मनुष्यता आई है या नहीं? अगर मनुष्यता की मंजिल तुमने नहीं बनाई है, तो धर्म-कर्म की मंजिल

टिकेगी किस पर ? मनुष्यता की मंजिल पहली मजिल है और धर्म-कर्म की मजिलें ऊपर की। बिना नीचे की मजिल के, ऊपर की मजिलें टिकेगी किस आधार पर ? उसके लिए आकाश में तो ईंटें नही फेंकी जाएँगी। अगर पहली मजिल नही है, तो आकाश में फेंकी हुई ईंटें तो रह नही सकती। भला आकाश मे फेंकी हुई ईंटो से कही महल बन-पाया है ? किन्तु दुर्भाग्य से आज हजारो व्यक्ति आकाश मे ईंटे फेंक कर ही अपना महल तैयार करने का स्वप्न देख रहे है, प्रयास कर रहे हैं। नीचे की मजिल तो बनी ही नही है, उससे पहले ही ऊपर छलाग मारने लगे है। मनुष्यता की पहली मजिल तो बनी ही नही और लगे धर्म-कर्म करने और क्रियाकाण्ड की ईंटो को आकाश में फेंक कर सघ-महल बनाने ! वे केवल अपने धर्म के कथित अनुयायियो की गिनती बढाने मे लगे हुए है और समझते है कि हमारे धर्म को मानने वाले इतने लाख और करोड़ आदमी हैं। हमारा धर्म दुनिया में सबसे ज्यादा फैला हुआ है। पर क्या कभी अन्दर मे गज डालकर देखा कि वह कहाँ तक फैला है ? धर्म ने जीवन मे प्रवेश पाया भी है या नही ? अगर कोई धर्म यह चिल्लाता रहे कि मुझे मानने वाले इतने लाख या करोड व्यक्ति हैं, परन्तु उस धर्म को मानने वालो मे मनुष्यता ने प्रवेश नही किया है, तो समझा जाएगा कि वे उस धर्म के असली अनुयायी नही हैं। ससार मे नकली चीजे बहुत-सी चलती हैं। पशु का हृदय रखने वाले भी मनुष्य की शक्ल में होते हैं।

कर्मफल और पुनर्जन्म :

कुछ दार्शनिको मे इसी कारण एक प्रश्न खडा हो गया कि मनुष्य मर कर मनुष्य ही होता है, वह दूसरी योनि में जन्म नही लेता है। किन्तु अगर हम अपने पुराने चिन्तन की ओर नजर डाल कर देखते हैं, तो हमें इसके विपरीत आवाज मिलती है। जैनधर्म के महान् प्रकाशक और प्रसारक भगवान् महावीर कहते हैं कि यह कोई बात नही है कि तू मनुष्य है, तो मर कर फिर मनुष्य ही होगा। पर तू मनुष्य बन कर फूल मत जा। मनुष्य-शरीर तो मिट्टी का ढेर है। यह तो किसी भी दिन नष्ट हो जाएगा और खाक मे मिल जाएगा। यह पाँच तत्त्वो का पुतला है, नष्ट होते ही पच तत्त्वो मे मिल जाएगा। मनुष्य योनि मे या किसी भी योनि मे जन्म ले लेना कर्माधीन है। कोई घृणित और

नारकीय कृत्य करे और सोचे कि मैं मर कर मनुष्य ही बन जाऊँगा, मुझे अच्छे कर्म करने की क्या आवश्यकता है ? तो, बतलाइए यह सिद्धान्त कैसे सही ठहर सकता है ? यह तो अपने गुनाहों पर परदा डालकर और भी गुनाह किए जाने का छल-छद्म मात्र है।

जैनधर्म तो इस सिद्धान्त को अस्वीकार करता ही है, वैदिकधर्म भी इसे स्वीकार नही कर सकता। वहाँ भी हमे एक ऐसी झाँकी मिलती है। जड भरत पहले बहुत बडे तपस्वी थे, किन्तु बाद मे ससार की मोह-माया मे फँस गये और वासना के जाल मे उलझ गये। परिणाम यह हुआ कि उन्हे हिरन के रूप मे जन्म लेना पडा। इस प्रकार वैदिकधर्म के अनुसार भरत मनुष्य थे और मरने के बाद उन्हे हिरन की योनि मिली। अत उपर्युक्त सिद्धान्त बुद्धि की कसौटी पर कसने पर सही नही उतरता है। आप वैदिक सस्कृति का अध्ययन करेंगे, तो मालूम होगा कि मनुष्य आगे भी बढता है और पीछे भी हटता है। और जैन-धर्म भी यही बात कहता है कि मनुष्य मर कर साँप, बिच्छू आदि भी बन सकता है और देवता और मनुष्य भी बन सकता है। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है और यदि कोई भी वैज्ञानिक अध्ययन करे, तो उसे इस सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पडेगा।

मनुष्य और पशु :

एक मनुष्य है, जो बात-बात में क्रोध का जहर उगलता रहता है। पग-पग पर उसका पारा गरम हो जाता है। तो क्या वह जहर उगलने वाला अमृत का रूप ले सकेगा ? क्या वह ससार को मिठास दे सकेगा ? जिस मनुष्य के हृदय मे क्रोध का साँप फन उठाये खडा रहता हो, उससे आप यह आशा रक्खे कि वह दुनिया का भला कर सकेगा और इन्सान बन सकेगा, तो यह आशा दुराशा मात्र है। जिसके हृदय मे साँप बैठा है, वह तो साँप ही बनेगा, वह इन्सान कैसे बनेगा ?

इसके विपरीत, कई पशु ऐसे देखे जाते है, जो पशु का शरीर धारण करके भी इन्सान का हृदय रखते है, जो बडे ही शान्त होते है और पक्के स्वामिभक्त भी। वे अपने शरीर से मनुष्य की सेवाएँ करते हैं। अपना घी, दूध और परिश्रम आदि देकर मानव-समाज का उपकार करते है। जबकि कोई मनुष्य ऐसे होते है जो दिन भर मूँछो पर ताव लगाए पडे रहते हैं, परन्तु पशु बेचारे यथाशक्ति परिश्रम करते है।

मैं कहूँगा कि एक तरफ तो उन क्रूर मनुष्यो को खडा कर दीजिए और एक ओर शान्त पशु को खडा कर दीजिए। आप देखेगे कि वह पशु कहलाने वाला प्राणी तो शरीर से पशु है, मन से नही और मनुष्य कहलाने वाले शरीर से मनुष्य होते हुए भी हृदय से पशु से भी निम्नतर है। हम देख रहे है कि आज पशु कहलाने वाले तो आगे वढ रहे हैं और मानव पीछे लौट रहे हैं। मानव को बुद्धि मिली है अपना जीवन टटोलने को, फिर भी वह तो रात-दिन दुनियादारी की चक्की मे पिसता रहता है और अपने सजातीय पर भी घृणा, द्वेष और क्रोध की आग बरसाता रहता है। मैं ऐसे मनुष्यो को कहना चाहता हूँ कि वे अपने प्रतिदिन के जीवन को टटोल कर देखें कि हम इन्सान हैं या पशु है ? वे परीक्षा की कसौटी पर अपने आपको परख कर देखे कि उनमे पशुता कितनी है और मनुष्यता कितनी है ? हमारे प्राचीन आचार्यों ने हमे एक वहुत सुन्दर बात वतलाई है

"प्रत्यह प्रत्यवेक्षेत, नरश्चरितमात्मनः।
किन्तु मे पशुभिस्तुल्य, किन्तु सत्पुरुषैरिव ॥"

चरित्र की मर्यादा :

मनुष्य अपने चरित्र को प्रतिदिन देख-भाल करे और एक वणिक् की तरह अपने मनुष्य-जन्म-रूपी निधि को टटोल कर देखे कि उसमे कितने तो पशुता के खोटे सिक्के हैं और कितने सत्पुरुषता के सच्चे सिक्के हैं ? मेरा कौन-सा आचरण जानवर के समान है और कौन-सा महापुरुषो के समान है ?

इसी उद्देश्य से हमारे पूर्वजो और महर्षियो ने अपने-अपने जीवन की जाँच करने का, शाम और सूर्योदय का समय नियत कर दिया है। जैन सम्प्रदाय मे उसे प्रतिक्रमण कहते है और वैदिक सम्प्रदाय में सध्या। सन्ध्या का अर्थ है—मेल, संयोग, जोड। सूर्योदय के समय रात्रि और दिन का मेल होता है और शाम के समय रात्रि और दिन का सयोग होता है। अतएव प्रातकाल और सायकाल दोनो सन्ध्याकाल हैं। हमारे ऋषियो और मुनियो ने इस समय को चिन्तनवेला कहा है। सूर्योदय होते है, तब भी हम जागृत रहते हैं और सूर्यास्त के समय भी दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर जागृत और स्वस्थ रहते है। उक्त दोनो समयो मे चित्त शान्त रहता है। वस्तुत प्रकृति के लीला क्षेत्र मे इधर

सूर्योदय का और उधर सूर्यास्त का समय बड़ा ही रम्य और मनोहर होता है। सम्भव है, नगर की तंग गलियो और बन्द कोठरियो में रहने वाले आप लोग प्रकृति के उस विलक्षण मनोरम दृश्य से वंचित रहते हो। और कोई-कोई माई के लाल ऐसे भी हैं, जो सूर्य का जीवनप्रद प्रकाश फैल जाने पर भी पडे ही रहते हैं। परन्तु हमारे यहाँ, प्राचीन काल मे माना जाता था कि सूर्य की किरणे प्रातःकाल में सोते हुए पर पड जाएँ, तो वह पशु के समान है, मनहूस है। हमारे प्राचीन ऋषियो ने हमे यह नियम सिखाया था

"ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत्।"

ब्राह्म मुहूर्त्त अर्थात् भोर का समय धर्म-जागरण का काल है, आलस्य मे पडे रहने का नही है।

दोनो सन्ध्याओ का सुरम्य दृश्य अगर अपनी ऑखो से दृष्टिगत हो जाए, तो आप आनन्द-विभोर हुए विना न रहेगे। हमे शिमला यात्रा का दृश्य अब भी याद है। जब हम शिमला के पहाडो की यात्रा कर रहे थे, तो एक रात जगल मे ही पहाडो पर गुजारनी पडी। जैन साधु का यह नियम है कि सूर्यास्त होते ही उसे कही न कही डेरा डालना पडता है। वह आगे नही चल सकता। तो हमे भी एक वृक्ष के नीचे ही अपना आसन जमाना पडा। वहाँ का जंगल बडा भयकर था। इधर पहाड उधर पहाड और पहाड की ऊँचाई पर हम थे। हमने देखा कि ज्यो ही रात्रि विदाई लेकर चलने लगी, एक ओर प्रभात हो रहा है, उसकी लालिमा मानो साधक से भी, क्रान्ति करने के लिए कह रही है। उस समय सारी पृथ्वी अंगड़ाई लेने लगती है। पक्षियो का कलकल निनाद प्रारम्भ हो जाता है। यह समय कितना सुहाना होता है, कितना मनोरम होता है। वस्तुत यही वह समय है जबकि साधक के चितन की स्फुरणा जागृत होती है। एक ओर विहगवृद प्रभात के आगमन के हर्ष में अपना मगलगान प्रारंभ कर देते हैं। और दूसरी ओर साधक भी अपना मंगलपाठ आरंभ करते हैं। उस जागृति की पावन वेला मे वह कैसे सोया रह सकता है?

जीवन की राह बडी अटपटी है। शान्ति की उपासना करते-करते भी कभी-कभी सघर्ष का अवसर भी आ ही जाता है। जब ऐसा अवसर आ जाए, तो मनुष्य को सोचना चाहिए कि मैं यह संघर्ष न्याय से

कर रहा हूँ या अन्याय से ? ऋषियों के द्वारा दी गई 'प्रत्यह प्रत्यवेक्षेत' अर्थात् प्रतिदिन जीवन की समीक्षा करनी चाहिए की वह जडी उस समय काम में लानी चाहिए। हमें उस समय अपनी अन्तरात्मा में यह चिंतन-मनन करना चाहिए कि प्रभात हमें यह शिक्षा देने आया है कि तुम्हारा कल का दिन बीत गया, अब आगे के लिए विचार करना है। एक-एक दिन जो बीत रहा है, वह जिन्दगी का बहुमूल्य हिस्सा बीत रहा है। प्रत्येक दिन का सूर्य अपने ढलने के साथ तुम्हे मृत्यु की ओर ढकेल रहा है। एक संत ने ठीक ही कहा है

"फरीदा तेरी दाढी उत्ते आ गया बूर।
अग्गू नेडा रह गया पच्छू रह गया दूर॥"

ऐ फरीदा! तेरी दाढी सफेद हो गई है। ये स्वेत केश यमराज के दूत बन कर तुझे चेतावनी देने आए है कि शीघ्र सावधान हो जा। तेरे जन्म की तारीख तो दूर पडती जा रही है और मौत की तारीख नजदीक आती जा रही है। सूर्य क्या जा रहा है, यह तेरे जीवन का एक-एक हिस्सा काट कर लिए जा रहा है। तू अपना होश संभाल

"उत्थापोत्थाय बोद्धव्य, किमद्य सुकृतं मया ?
आयुष्यखण्डमादाय, रविरस्त गमिष्यति॥"

मानवता की परख :

प्रतिदिन, प्रात काल उठकर विचार करो कि मैंने आज जो बीज बोया है, उससे मानवता का पौधा उगने वाला है या दानवता का ? अगर मानवता का बीज बोया है, तब तो कोई बात नही है, और यदि दानवता का बीज बोया है, तो तुम परमात्मा से प्रार्थना करने के अधिकारी नही हो। दानव का दिल लेकर तुम परमात्मा के पास यदि पहुँचोगे, तो वह तुम्हारी प्रार्थना कैसे सुनेगा ? यह तुमको विचार करना होगा।

हमें विचार करना होगा कि हमें इन्सान कौन बनाता है ? मैं कह चुका हूँ कि हमारे अन्दर जो आत्म-देवता है, वही ईश्वर है। अगर कोई इन्सान का हृदय रखता है, तो वह अपने उस आत्म-देवता के चरणो मे प्रेम के फूल और श्रद्धा के सुमन चढाता है। वह ऐसा सुगन्धित है कि हृदय में भी महकता है और वह जिस परिवार मे, जिस समाज में या जिस राष्ट्र में रहता है, वहाँ भी महकता रहता है। और

वह व्यक्ति जितने दिन तक मौजूद रहता है, ससार को महकाता रहता है और ससार से विदा होने के वाद भी उसकी महक मिलती रहती है। हम समझते है कि ऐसे व्यक्ति ने आत्मदेव ईश्वर की सच्ची निष्ठा से पूजा की है और वह अपना जीवन इन्सान वन कर सुन्दर ढग से विता कर गया है।

परन्तु फूल के साथ काँटे भी होते हैं। कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपने जीवन मे दूसरो के साथ लड-भिड कर, किसी की वुराई करते हुए, मारकाट और खून-खरावी करके संसार से विदा हो लेते है। वे जीते जी भी काँटे विखेरते हैं और मरने के वाद भी उनके जीवन के नोकदार काँटे समाज को व्यथित करते रहते हैं।

इसान और हैवान की भेदरेखा :

अतएव हम विचार करे कि हमने आज का जीवन काँटा वन कर तो नही गुजारा है ? यदि ऐसा ही किया है, तो हम पशु से भी वदतर हैं। पशु आपस मे मिलते है, तो कोई विशेप प्रेम नही प्रकट करते। मनुष्य किसी से मिलता है, तो हाथ मिलाता है। हाथ मिलाने का मतलव यह है कि हम मिल कर चले। और पशु मिलते हैं तो क्या करते है ? आपने गधो को मिलते देखा होगा। गधे मिलते है, तो हाथ नही मिलाते दुलत्ती झाडते है। एक कवि ने कहा है

"ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे प्रेम की वात।
मूरख से मूरख मिले, कै घूसो कै लात॥"

ज्ञानी पुरुप किसी ज्ञानी से मिलता है, तो प्रेम की वात करता है और वातो ही वातो में वह प्रेम का झरना वहा देता है। किन्तु मूर्ख से मूर्ख मिल कर क्या करते हैं ? या तो वे घूँसे से वात करते है या लात मार कर चल देते हैं।

यह है इन्सान और हैवान का भेद। इसी में है, मानव-जीवन की उलझी हुई गुत्थियो का सही समाधान। अगर हम किसी से मिलते समय झल्ला उठते है, उस पर अपना रौव जमाना चाहते हैं, तो हमे समझना चाहिए कि हमारे अन्दर क्रोध और अभिमान के दो चोर वैठे हैं। हमें इन दोनो पर नियत्रण करना है। उत्तम तो यह कि क्रोध और अहकार हमारे अन्दर जागे ही नही और कदाचित् जाग भी उठें, तो

हमें उन्हें वहीं दबोच देने की कोशिश करनी चाहिए। उस अभिमान को और क्रोध को वहीं रोक देना चाहिए, ताकि वह आगे कदम न बढ़ा सके। हाँ, अभिमान आए, तो अच्छे काम के लिए आए। क्रोध उत्पन्न हो, तो उसी समय शान्ति के जल से उसे बुझा दिया जाए।

इस दृष्टि से मैं तो प्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ कि मैं सच्चे अर्थ मे इन्सान बन जाऊँ, फूलो की तरह सुगन्ध फैलाने वाला। ऐसा नही कि मैं काँटे बिखेरता फिरूँ। हमें हृदय इन्सान का मिल जाना चाहिए। हृदय इन्सान का मिल जाने के बाद हाथ, पैर, बुद्धि आदि सभी इन्सान के बन जाते हैं।

और यदि मैं देव बनूँ तो मुझमे सच्चा देवत्व आ जाए। देव तो भूत भी होते है, किंतु देवत्व सदा अमर रहता है। उसकी भीनी सुरभि जो देवोपम गरिमा से मडित होती है, कभी फीकी नही होती।

आप विचार कीजिए कि हमने दो हाथ, दो पैर और इतना लबा-चौडा शरीर पा कर क्या तरक्की की है? क्या कहा? क्या हाथ और पैर भी तरक्की कर सकते हैं? हाँ, मनुष्य के हाथ-पैर भी दूसरो की सेवाए करके तरक्की कर सकते है। एक हाथ वह है, जो किसी दीन-दुखी के आँसू पोछे, किसी गरीब को दान दे या किसी सत्पात्र को भिक्षा दे और एक हाथ वह है, जो दूसरो का हक छीने या दूसरे के गाल पर तमाचा जड दे। तो इन दोनो मे अन्तर है या नही? मानवता की दृष्टि से पहले हाथ ने बहुत तरक्की की है, जबकि दूसरे हाथ ने नही। एक भारतीय ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है

"अय मे हस्तो भगवान्, अय मे भगवत्तरः।"

अर्थात् मेरा यह हाथ भगवान् है। नही, नही यह तो भगवान् से भी बढ कर है।

मानव के ऐसे हाथ चाहिए जिससे दूसरो को शान्ति मिले और जिनके द्वारा दूसरे शान्ति पा सके, आश्वासन पा सकें। यह नही कि अभिमान में आकर हाथो से मूँछो पर ताव देने लगे या क्रोध मे आकर किसी की जीवन-लीला ही समाप्त कर दे। ऐसा हाथ भगवान् का हाथ नही है, वह तो दैत्य का और राक्षस का हाथ है। ऐसा हाथ तो चाण्डाल का होता है, जो झटपट किसी के तमाचा जड देता है या

प्राण हरण कर लेता है। वह क्रोध का हाथ है, जिसे हमारे पूर्वजो ने चाण्डाल कहा है।

हम अपने जीवन की ओर नजर डाले, तो मालूम होगा, हमारे जीवन में भी कितना चाण्डालपन भरा पडा है। न जाने अन्दर कितनी गन्दगी है, कितना कूडा-कचरा है। बाहर से आप साफ-सुथरे रहते है, क्रियाकाण्डो को ठीक-ठाक रखते है। पर मन को भी कभी टटोल कर देखा है कि वह कितना पवित्र है? बाहर-बाहर झाड फेर ली और भीतर गन्दगी भरी रही तो उस सफाई का क्या मूल्य है? बाहर से हम शरीर को फूलो से सजाये रक्खें और अन्दर में क्रोध और अहकार आदि की दुर्गन्ध भरी हो, तो उस सजावट की कीमत क्या है? अन्दर की दुगन्ध कभी-कभी इतनी उग्र हो उठती है कि आस-पास के सारे वायुमण्डल को भी सडा देती है और दूर-दूर तक विषाक्त कीटाणु फैलाती रहती है।

किन्तु जो मनुष्य अपने जीवन को सयम से बिताता है, जिसके जीवन में कलक का एक भी धब्बा नही है, सच्चरित्र और सदाचारी बन कर रहता है, वह अपने आस-पास के वातावरण को वर्षों तक सुगन्ध से सुवासित करता रहता है। स्वर्ग तक उसकी सुगन्ध का प्रसार होता है। उसकी यश पताकाएँ स्वर्ग के प्रासादो पर भी फहराती है।

ऐसा मनुष्य भाग्यशाली है। वह कही भी रहता हो, किसी भी मत या धर्म को मानने वाला हो, उसका जीवन पवित्र होता है। वह मनुष्य के रूप में देवता है।

हर एक धर्म का भक्त अपने आपको ईश्वर का उपासक और परमात्मा का प्रेमी कहता है। वह ईश्वर से प्रेम करने चला है। पर जब हम उसके पारिवारिक जीवन को देखते हैं और जब यह पाते है कि वहाँ कलह का अखाडा जमा रहता है, तो हमारे आश्चर्य का पार नही रहता। वह अपनी पत्नी के प्रति प्रेम प्रदर्शित नही कर सकता, बच्चो के ऊपर वात्सल्य का अमृत नही छिडक सकता और अन्य पारिवारिक जनो के प्रति स्नेहमय व्यवहार नही कर सकता। तब हम समझते हैं कि उसका ईश्वर से प्रेम करना झूठा है। मैं समझता हूँ, उससे बढ कर कोई दंभी नही है। जिसके पास पारिवारिक जीवन में

प्रेम की एक भी बूँद न हो, वह परमात्मा के प्रति प्रेम की धारा कैसे वहा सकता है ? स्नेहहीन, शुष्क और जलता हुआ हृदय लेकर ईश्वर के पास पहुँचना कोई अर्थ नही रखता। ऐसा करना अपने आपको और दुनिया को धोखा देना है।

हृदय को प्रेम का निधान बनाएँ

एक वार की वात है, आचार्य रामानुज के पास एक भक्त आया। उसने कहा 'महाराज! आप मुझे अपना शिष्य वना लीजिए। मैं परमात्मा से प्रेम करना चाहता हूँ।'

रामानुज ने कहा 'शिष्य वनना और परमात्मा से प्रेम करना चाहते हो, यह तो अच्छा है, परन्तु पहले यह तो वताओ कि घर में तुम्हारा किसी मे प्रेम है या नही ? माता-पिता के साथ तुम्हारा प्रेम है ? पत्नी से या सन्तान से प्रेम करते हो ?'

आगन्तुक ने कहा 'महाराज, सारा संसार स्वार्थ का है। भ्रमजाल है। धोखे की टट्टी है। इसमें क्या रक्खा है ? मुझे तो संसार से विरक्ति हो चुकी है। किसी से प्रेम नही रहा। अव तो परमात्मा से लौ लगानी है। आप झटपट शरण में लेकर रास्ता वतलाइए।'

आचार्य रामानुज ने कहा 'यह काम मुझसे नही हो सकेगा और मैं तुम्हारे जैसे को अपना शिष्य नही वना सकूँगा। मैं इतना कर सकता हूँ कि जिसके हृदय मे परिवार के किसी भी सदस्य के प्रति प्रेम हो, तो उसे विस्तृत वना दूँ और विराट् रूप प्रदान करने की कोशिश करूँ और उसे परमात्मा के चरणों तक पहुँचा दूँ। किन्तु जो पाषाण की भाँति शुष्क और नीरस है, उसमें से प्रेम की धारा कैसे निकलेगी ? क्या पत्थर के टुकडे में से कभी पानी का प्रवाह निकल सकता है ? हाँ, पत्थर के पहाड़ों में से झरना जरूर निकलता है। वह भी कठोर होते हैं, फिर भी उनके हृदय में कुछ पानी होता है। तभी झरना निकलता है। किन्तु पत्थर के टुकड़ो मे तो एक बूँद भी पानी नही रहता। उसमें से झरना कैसे वहेगा ? जव तुम्हारे पाषाणहृदय में एक भी बूँद प्रेम की नही है, तो परमात्मा के लिए प्रेम का सागर किस प्रकार लहरा पाएगा ?'

आगन्तुक शिष्य आचार्य का उत्तर सुनकर, वडा लज्जित हुआ और लौट गया।

तो, आशय यह है कि हमें पत्थर का हृदय नही रखना है। पत्थर का हृदय रखकर हम परमात्मा से प्रेम नही कर सकते। मनुष्य का हृदय प्रेम से सरल होना चाहिए। उसका हृदय-निर्मल प्रेमजाल से छल-छल करता हुआ, सबके लिए रहना चाहिए। तभी सच्ची मनुष्यता आएगी। तभी जीवन में इन्सानियत की लहर लहरा पाएगी।

दुनिया के जितने भी धर्म है, वे सब मनुष्य को मनुष्य बनाने का संदेश देते हैं। कोई भी धर्म दैत्य या पशु बनने की प्रेरणा नही देता। जिसने मनुष्य होकर भी यदि मनुष्यता प्राप्त नही की, तो वह देवत्व को पाने में कैसे सफल हो सकेगा? अतएव मनुष्य को सबसे पहले मनुष्यता का पाठ पढना है। मनुष्यता आ जाएगी, तो दूसरे गुण अपने आप दौडे आ जाएँगे। उस स्थिति में मनुष्य कल्याणमूर्ति बन जाएगा। अपना भी कल्याण करेगा और दूसरो का भी कल्याण करेगा। मानव-तन प्राप्त करने का प्रथम उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व का हितंकर बनना होना चाहिए। भुवन ही हमारा भवन है जब तक इन भावना को आत्मानुभूति के सरगम में नही बाँधा गया, तो इस मिट्टी का क्या मोल रहा? तब तो पशुतन पाया तो मनुजतन पाया तो दोनो ही समान रहा। मानव तन के साथ-साथ मनुष्य को विवेक की आँखे भी मिली हैं और उस विवेक के साथ-ही-साथ, अभिव्यक्ति की कला भी मिली है। यदि इस विवेक एव कला का उपयोग जगद्धिताय चिंतन एव कार्यो मे नही किया गया, तो इसका कोई महत्व नही। मानव की महानता मानवता को पग-पग पर चरितार्थ करने मे है। जब मानव अपनी आत्मा को विश्वात्मा में तदाकार कर लेगा, वही उसकी सच्ची परिणति मानी जाएगी, यही मानवता का सही मूल्य होगा।*

* २८-४-५० को कविश्रीजी द्वारा दिया गया प्रवचन

सांस्कृतिक जीवन

११
आचार: प्रथमो धर्मः

आचार का अर्थ है आचरण। अर्थात् वह सिद्धान्त, वह विचार जो मनन के बाद आचरण में, व्यवहार में लाया जाता है। इस आचार के तात्विक रूप के दो पहलू हैं प्रथम, आंतरिक वृत्तियों का नियमन और द्वितीय, बाह्य व्यवहारों में सादगी, स्वच्छता। जीवन को उन्नत, बनाने में इन दोनो पहलुओं का बड़ा महत्त्व है। हाँ, इनमें भी आंतरिक पक्ष की प्रधानता सदा ही सर्वोपरि है। क्योंकि, दीपक के अंतर में जैसा तेल डालता है, प्रकाश उसी के अनुरूप होता है। यदि तेल गंदा है, तो प्रकाश के साथ धूम-धुंधलका का आवर्तन इतने विशद रूप में घिर जाता है कि कुछ भी देख पाना दुष्कर हो जाता है, और तेल यदि साफ-स्वच्छ होता है, तो प्रकाश भी स्वच्छ होता है।

मन के दीपक में भी आचरण का जितना स्वच्छ तेल डालेंगे, बाहर के आचरण में उसका प्रकाश उतने ही उज्ज्वल रूप में छिटकेगा।

जैनधर्म का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का विकास बाहर से नहीं, भीतर से होता है। जब तक मनुष्य अपने जीवन के अन्दर कोई ऊँचाई प्राप्त न कर ले, कोई विकास न साध ले, अन्दर में चरित्र का बल उसे प्राप्त न हो जाए, तब तक बाहर की जो प्रगतियाँ हैं, वह उसे उच्च और श्रेष्ठ नहीं बना सकती।

हमारा आंतरिक चरित्रबल (आचार) ठीक दीपक के तेल के समान है। किसी दीपक के अन्दर तेल नहीं है, यदि उसमें बत्ती डाल दी जाए और दियासलाई से जला दी जाए, तो बत्ती जल उठेगी और रोशनी भी जल्दी फैल जाएगी, किन्तु यह जो रोशनी फैल रही है, यह उस

दीपक से फैल रही, जिसके भीतर तेल नही है। तो, ऐसी दशा में वह कितनी देर के लिए है ? एक क्षण के लिए बत्ती भभकेगी और रोशनी फैलाएगी, किन्तु दूसरे ही क्षण वह जल कर समाप्त हो जाएगी, और फिर वैसा ही, बल्कि उससे भी घना अन्धेरा हो जाएगा।

दीपक को यदि अधिक देर तक प्रज्वलित रखना है और प्रकाश पाना है, तो उसमे तेल का होना आवश्यक है और उसमें तेल जितना ज्यादा होगा, उतनी ही देर तक वह प्रकाश देता रहेगा। कम तेल थोडी ही देर में जलकर समाप्त हो जाएगा और भरपूर तेल रात भर भी जलता रहेगा, सवेरे भी कुछ बचा रहेगा।

अत दीपक के सम्बन्ध में जो बात है, वही बात जीवन के सम्बन्ध मे भी है। जीवन मे यदि चरित्रबल नही है, चरित्र का तेज नही है, तो बाहर जो भी चमक है, बाहर में जो भी प्रकाश मालूम होता है, उसके द्वारा एक झटके से प्रकाश बिखेरा तो जा सकता है, किन्तु वह स्थायी नही होगा। वह जितनी जल्दी जलेगा, वह उतनी ही जल्दी बुझने को भी तैयार रहेगा।

इसके विपरीत, यदि जीवन में आन्तरिक चरित्रबल है, तो वह प्रकाश यहाँ ही नही, बल्कि जन्म-जन्मान्तर में भी चमकता हुआ, हमारे जीवन को अलोकमय बनाता रहेगा और आगे बढाएगा।

इस प्रकार आचार को मानव जीवन में बडा महत्त्व दिया जाता है। कहा भी है

"आचारः परमो धर्म, आचार परम तपः।
आचार परमं ज्ञानमाचारात् किं न सिद्ध्यति ॥"

आचार, जिसे मैं आन्तरिक चरित्रबल कह रहा हूँ, परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है। आचार से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

बात बिल्कुल ठीक है। जिसकी आत्मा मे सच्चे चरित्र का उद्भव हो चुका है, उसे और कोई धर्म करने की आवश्यकता नही रह जाती। कारण, उससे इतर धर्म का कोई अलग अस्तित्व रह ही नही जाता। फिर उसके लिए तीर्थाटन करने की या छापा-तिलक लगाने की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार आचार अपने आप मे महान् तप है। तप

का उद्देश्य चरित्र बल की प्रशस्त भूमिका पर पहुँचना ही तो है। और जो इस भूमिका पर पहुँच गया, उसके लिए किसी अन्य तप की कुछ भी अनिवार्यता नही रह जाती। शास्त्रो मे, ज्ञान की सार्थकता, आचार में बतलाई गई है। आखिर बुराई को बुराई और भलाई को भलाई समझने का कारण क्या है ? यही न कि मनुष्य बुराई से बच कर रहे और भलाई का सेवन करे, यही चरित्र कहलाता है। तो, जिसे चरित्र प्राप्त हो चुका है, उसे ज्ञान भी प्राप्त हो चुका है। और लौकिक तथा लोकोत्तर, जो भी सिद्धियाँ हम प्राप्त करना चाहते है, उनके चरित्र की परम आवश्यकता होती है। चरित्र के बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नही हो सकती और चरित्र की अवस्थिति में कोई भी ऐसी सिद्धि नही जो अनायास ही प्राप्त न हो सके।

आपके अन्दर जो चरित्र है, वह जितना भी बलवान होगा, आपका बाहरी जीवन भी उतना ही महान् बनेगा। और यदि आन्तरिक चरित्र नही है, तो बाहर का जीवन भी महान् नही बन सकता।

आन्तरिक चरित्रबल आत्मा के समान है और बाह्य क्रियाकाण्ड शरीर के समान। आत्मा के अभाव में शरीर निस्तेज हो जाता है। उसे चमकाने के हजारो प्रयत्न भी कारगर नही हो सकते। कितना ही उसे सजाओ, सिगारो और विभूषित करो, किंतु आत्मविहीन शरीर में चमक नही आने वाली है। इसी प्रकार चरित्रबल के अभाव में, बाह्य क्रियाकाण्ड, जीवन में चमक और तेज उत्पन्न नही कर सकता।

वर्तमान जीवन और आचार :

जहाँ तक आज के वर्तमान जीवन का प्रश्न है, आज के जीवन मे मनुष्य, अन्दर में तैयार हो या नही, चरित्र का बल प्राप्त कर चुका हो या नही, किंतु बाहर मे चलना चाहता है और रोशनी देना चाहता है।

तो हमारे जीवन की भी ठीक यही स्थिति है। जब हम बाहर में रोशनी देते है, किन्तु अन्दर में जीवन का निर्माण नही कर पाते हैं, तो एक विचित्र स्थिति पैदा हो जाती है। बाहर में दो-चार दिन खूब उत्सव मानते हैं, धूमधाम होती है, वरघोडे निकाले जाते है, साहित्य भी प्रकाशित होकर बाहर आ रहा है, किन्तु अन्दर में चमक नही आ रही है, तो फिर इस उत्सव-समारोह से क्या लाभ ?

सबसे बड़ी पुस्तक और शास्त्र जीवन की पुस्तक है। यदि उसे अच्छी तरह नहीं पढ़ा है और नहीं जाँचा है, तो मैं समझता हूँ कि बाहर में, संसार का जो विश्लेषण है, वह अन्दर की प्रगति में कुछ भी सहायक नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज का जीवन खोखला होता चला जा रहा है।

किसी आदमी के पास एक ऐसी लाठी है, जो घुन लग जाने के कारण अन्दर से खोखली हो गई है। बाहर से उस पर सुन्दर रंग-रोगन और पालिश कर दिया गया है, किंतु यदि कोई दुर्घटना हो जाती है तो क्या वह अन्दर से खोखली लाठी आत्मरक्षा करने मे मदद दे सकेगी ? नही, वह तो एक ही झटके में टूक-टूक हो जाएगी। लाठी की चमक और पालिश रक्षा नहीं कर सकेगी।

इसके विपरीत, दूसरी लाठी है, जिस पर रंग-रोगन वगैरह की चमक नही है, परन्तु अन्दर से ठीक और मजबूत है। तो निश्चित है, वह आत्मरक्षा करने में मददगार होगी।

तो, हमारा चरित्रबल भी ठीक उसी प्रकार का बना होना चाहिए। ताकि वह हमारे जीवन की प्रगति बराबर बनाये रक्खे।

एक मनुष्य क्षमा रखता है। घर मे भी और बाहर भी क्षमा रखता है। किन्तु जब तक क्रोध का निमित्त नही मिलता है, तभी तक वह क्षमावान रहता है और क्रोध का निमित्त मिलते ही भड़क उठता है और क्षमा के आवरण मे लिपटा हुआ क्रोध, आवरण को हटा कर बाहर आ जाता है। हम समझते हैं कि वह क्षमा तब तक के लिए ही थी, जब तक उसे आदर-सत्कार मिल रहा था। ऐसी क्षमा जीवन मे बल एवं शक्ति नही देती।

हाँ, क्रोध के कारण मिलने पर भी, अपमान और तिरस्कार मिलने पर भी, यदि मनुष्य अपने आपको क्षमाशील बनाये रखता है और जीवन में कटुता मिलने पर भी वह प्रेम और स्नेह की अमृत- वर्षा ही करता है, तो हम समझते हैं कि जीवन मे सच्ची क्षमा का आविर्भाव हुआ है।

जिसमें इतनी अहिंसा और क्षमा है कि अपनो मे रहता है, तब भी नम्र और अमृत का सागर रहता है, और इस प्रकार प्रत्येक अवसर

पर ऊँचाई पर ही आसीन रहता है, तो उसका महान् प्रकाश हमारे सामने आता है। उसका जीवन भीतर और बाहर से आलोकमय बन चुका है। वह अपने आलोक में अपने जीवन की प्रगति करेगा और दूसरो के भी पथ को प्रकाश से परिपूर्ण बना देगा।

आज के युग के और पुरातन युग के जीवन का विश्लेषण करते हैं, तो समझते है कि यह और वह दूसरा नही है। साधु और गृहस्थ सभी को उसी पगडंडी पर चलना है। हाँ, गति तीव्र या मंद हो सकती हैं, किन्तु राह दूसरी नही है। कोई कहे कि पहले की और आज की राह भिन्न-भिन्न है, तो मैं इस बात पर विश्वास नही करता हूँ। पहले के अनन्त-अनन्त जीवन थे और आज के भी हैं, पर यह नही कि पहले की और आज की राह अलग-अलग रही हो या भविष्य में अलग राह बनेगी। दुनिया भर के प्राणियो की एक ही अहिंसा और सत्य की अजर-अमर राह है और वह सबके लिए समान है।

हम देखते है कि उस पुराने युग के साधक साधु या गृहस्थ जब उस राह पर आए तो इतना चरित्रबल लेकर आए कि उन्होने निर्दयता के ऊपर भी प्रभाव डाला और यहाँ तक कि स्वयं को मारने वाले पर भी दया का वर्ताव किया।

यहाँ मैं एक महान् पुरुष की बात करने जा रहा हूँ।

बहुत पूर्व एक महान् पुरुष हो गए हैं। नाम था उनका खधकमुनि। वे राजपुरुष थे और विश्व का असीम वैभव उन्हे मिला था। हजारो मनुष्य उनके लिए जान देने को तैयार रहते थे और उनकी एक भृकुटि पर साम्राज्य भर में तहलका मच जाता था।

वे भिक्षुक बनने चले तो पिता ने कहा तुम भिक्षु तो बन रहे हो, परन्तु तुम्हारी यह गर्मी और यह क्षात्र तेज, संभव है, भिक्षु के चोले में ठीक न बैठ सके। तुम्हारे अन्दर अहकार है और क्रोध भी है। अहंकार और क्रोध ऐसा मैल है कि यदि हम यदि अपने जीवन को स्वच्छ और निर्मल रखना चाहते हैं, तो सबसे पहले उसे दूर करना होगा। अहंकार मरेगा, तब क्रोध मरेगा। दोनो को मारे बिना साधुता प्रकट न होगी। हे पुत्र! क्या तुम इन्हे मार सकोगे ?

पुत्र ने मुस्कराते हुए कहा 'पिताजी, यह साधना कोई असभव

साधना नही है जीवन में यो तो शरीर को जरा-सी गर्मी और सर्दी का झोका भी तिलमिला देता है, और एक मक्खी का बैठना भी अच्छा नही मालूम होता, किन्तु जिसे अपनी अहिसा पर विश्वास हो चुका है और जिसे अपने अन्त करण से प्रेरणा मिल चुकी है, वह तो मिट्टी के पिड मे मे भी, सोई हुई आत्मा को जगा लेता है। और फिर ससार के सारे बधनो को तोडने के लिए एक ही झटका काफी है। 'पिताजी, मैं इस मिट्टी के पिंड के लिए नही जा रहा हूँ, किन्तु उस सोई हुई आत्मा को जगाने के लिए जा रहा हूँ।' बस, संसार के सारे बधन उसके लिए एक मुस्कराहट में साफ हो गये।

राजकुमार भिक्षु बन कर दृढ सकल्प के साथ आगे चले और एक नगरी में भिक्षा के लिए आये। गलियो में गुजर रहे थे कि अक्समात् महल में से वहाँ के राजा की दृष्टि इन पर कोपाग्नि बरसाती हुई पडती है। इन पर राजद्रोह का अपराध लगाया जाता है और राजा जल्लादो को हुक्म देता है कि श्मशान मे ले जाकर भिक्षु के शरीर की खाल उतार लो।

मुनि की कही सुनवाई नही हुई। फरियाद ही उन्हे करनी नही थी, तो सुनवाई ही क्या होती!

ज्यो ही वे रोटी का एक-एक टुकडा घर-घर से इकट्टा करके, गली मे से निकल रहे थे कि जल्लादो ने कहा 'आपको मृत्युदण्ड का हुक्म हुआ है और आपकी खाल उतारी जाएगी।'

उन्होने यह बात सुनी और देखने वालो ने देखा कि वे जिस प्रसन्न भाव से घर से निकले थे, वैसे ही प्रसन्न भाव से, वह बात सुन कर भी खडे हैं।

फिर मधुर और मन्द ध्वनि में बोले 'ऐसा है, तो कोई बात नही है। इस चोले को तो छोडना ही है। दस दिन पहले छोडो तो क्या और पीछे छोडा तो क्या? मिट्टी के इस पिंड के फेर मे पड कर मैं जीवन की राह नही भूल सकता।'

और फिर शान्त भाव में वे आगे हो लिए। न चिन्ता, न शोक, न मोह न ममता। जल्लाद चकित और विस्मित थे। अपने जीवन में

पहली बार ही उन्होंने यह अनूठा दृश्य और ऐसा असाधारण व्यक्तित्व देखा था।

श्मशान भूमि में पहुँच कर मुनि सथारा कर लेते है।

"अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं।"

तात्पर्य यह कि मुनि को जीवन के उस उच्चतर स्तर पर पहुँच जाना चाहिए कि अपने शरीर पर भी अपनेपन का खयाल न रह जाए।

खधक मुनि, भगवान् महावीर की इस शिक्षा को अपने व्यवहार मे चरितार्थ कर रहे हैं।

बरबस मुँह से निकल पडता है 'अहो क्षमा ! अहो त्याग ! धन्य है उनकी परम साधना, धन्य है उनकी चरम आराधना।

इस घटना का वर्णन मात्र जब हमारे सामने आता है, तो रोमाच हो आता है और थोडी देर के लिए हम भावा-वेश में वह जाते हैं। खधक मुनि का बलिदान, मर कर बलिदान देना नही है, बल्कि यह तो जीते जी का दिया हुआ बलिदान है।

सारे शरीर की खाल का उतारा जाना और तिल-तिल करके मरना क्या आसान है ? इसके आगे बडे-बडे वीर, भालो की नोको पर चलने वाले भी लडखडा जाते है। किन्तु वह महानतम वीर पुरुष किसी समय का राजकुमार फूलो की सेज पर सोने वाला, अचल भाव से बैठ जाता है और बैठा रहता है। उसकी खाल उतारी जा रही है, रक्त के फव्वारे छूट रहे है और मास के लोथ के लोथ पड रहे हैं, किंतु वह हिमालय की तरह अडिग, अकप और अचल भाव से स्थित है। समभाव-पूर्वक बैठे हैं। शस्त्र चल रहे हैं, जल्लाद खून बहा रहे हैं, किन्तु वे शान्त हैं। चेहरे पर एक शिकन तक नही, अन्त करण में कोई क्रोध नही, आँखो मे आँसू नही, अधरो मे कम्पन नही।

जल्लादो की आँखो से अश्रु की धारा वह रही है और मुनि के हृदय की करुणा से अमृतमयी धारा बह रही है। जल्लादो के दिल पिघले जा रहे हैं और मुनि का दिल उनके दुख को देख कर पिघल रहा है। मारने वाले मरने वाले की असीम और दुस्सह व्यथा से द्रवित हो रहे हैं और मरने वाला मारने वालो की परेशानी देखकर द्रवित हो रहा है।

अचानक उन महान् सन्त ने कहा 'मुझे तो मालूम नही कि खाल उतारने की प्रक्रिया कैसी होती है ? तुम जैसे-जैसे कहते जाओगे, वैसे-वैसे करवट बदलता जाऊँगा, जिससे तुम को मेरे द्वारा कष्ट न होने पाए।

और जल्लादो ने जब दिल दहला देने वाली यह बात सुनी, तो उनके मुख मे एक दर्द भरी चीख निकल पडी।

वह दया का सागर रक्त की अन्तिम बूँद के रहते तक शान्त रहा। उसने सोचा ये सब अज्ञानी जीव हैं और इनके जीवन की कितनी मगल कामनाएँ हैं। यह जो कुछ भी कर रहे है, सब अज्ञानदशा में कर रहे हैं। इसमें इनका क्या दोष है ? अज्ञानी आत्मा गड्ढे में गिरती है, तो उसकी क्यो निन्दा की जाए ? ये अज्ञानी हैं, तो मैं क्यो इन पर आवेश लाऊँ ? मैं इनके साथ क्यो अज्ञानी बनूँ ? मुझे तो अपने निर्दिष्ट पथ पर ही चलना चाहिए।

आखिर अन्तिम घडी तक शुभ और शुद्ध भावनाओ में रमण करते-करते उन वीतराग सन्त ने निर्वाण को प्राप्त किया।

जीवन का आदर्श :

मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की घटनाएँ, जिनकी उच्चता, भव्यता और पवित्रता साधारण मनुष्य के मन से भी परे है, आन्तरिक प्रबल चरित्रबल के प्रताप से ही घटित हो सकती है। जब तक अन्दर में शक्ति नही आएगी, जीवन का महान् लक्ष्य प्राप्त नही हो सकता।

ऐसी ही अनेक गृहस्थो की जीवनियाँ भी हमारे समक्ष हैं, जो एक दिन वासनाओ स घिरे हुए थे, उनके जीवन के चारो ओर आवेश था और वह भी इतना तीव्र कि घर में रहना भी मुश्किल था, किन्तु उनके जीवन में जब क्षमा आई, तो जीवन पवित्र बन गया।

त्वंकारी इसी प्रकार की एक नारी थी, जो अपने माता-पिता और सास-ससुर के घरो में दोनो जगह, सोने के सिहासनो पर आई और आरम्भ स ही उसने शासन करना शुरू किया। लाड-प्यार में पली हुई वह बहिन इतने ऊँचे जीवन मे पहुँची कि यदि कोई उसे 'तू' भी कह दे तो उसकी खैर नही। त्वंकारी उसे हजार बार रुलाए विना न माने। इसी विशेपता के कारण उसका 'त्वंकारी' नाम पड गया था।

एक दिन रवकारी ने एक महान् सन्त के दर्शन किए। जब गई थी, तो जहर भर कर गई थी, झुलसती हुई आग बन कर गई थी, किंतु लौटी तो कुछ और ही बनकर लौटी। उसने जब सन्त की वाणी सुनी, तो क्षमा धर्म का उसके अन्तर् में जागरण हो गया। उसने अपना सारा जहर वही उगल दिया और क्षमा की मूर्ति बन गई।

उसके स्वभाव में एकदम परिवर्तन हो गया। अब यदि नौकर कोई काम विगाड़ भी देता है, तो भी वह कुछ नही कहती। पति किसी इच्छा की पूर्ति नही करते, तो उनके ऊपर भी उसके मन में जरा भी आवेश नही आता।

सिद्धि का द्वार : चेतना का विकास :

जिसके जीवन में चेतना का विकास जाग उठता है, उसे जीवनगत दुर्वलताओ को दूर कर देने में और ऊँचाई प्राप्त कर लेने में कोई कठिनाई नही होती।

और, चेतना तो सभी के भीतर में होती है, केवल उसे पहचानने वाला होना चाहिए। कुएँ मे जल भरा होता है और हम उसे देखते हैं, परन्तु वह जल वाहर से आया हुआ नही होता वह तो अन्दर से ही आता है। कुआँ खोदा गया और सीर यदि अच्छी हुई, तो झट से पानी आ जाता है, अन्यथा नही आ पाता। और जब पानी नही है, तो जानकार कहता है इधर से तोडो। और जब उधर से तोडा जाता है, तो दबादब पानी आ जाता है। पानी का झरना-सा बहने लगता है।

तो, पानी तो पृथ्वी के अन्दर है ही। वह सुराखो के द्वारा बहता रहता है। वह ऊपर से नही भरा जा रहा है। किन्तु पता लगाना चाहिए उस नाडीभेद का। जब पता लग जाता है, तो कुआँ पानी से लवालव भर जाता है और यदि पता न लगा, तो पानी नही भरेगा।

इसी प्रकार मनुष्य के जीवन मे अहिंसा, दया, करुणा और प्रेम की लहरें बाहर से नही आती। वे तो हमारे जीवन के अन्दर ही वहती रहती है। जब उनकी वासनाओ और विकारो का पलस्तर जम जाता है, तो वे अन्दर ही अन्दर वह कर रह जाती हैं, बाहर नही निकल पाती है। किन्तु यदि कोई जीवन का कलाकार, चाहे वह तीर्थंकर के रूप में हो अथवा सन्त के रूप में, जब मिल जाता है, तो उन्ही नाड़ियो को छेड लेता है।

रोगी दर्द से छटपटा रहा है, किन्तु दर्द को वता नही सकता। इधर-उधर ऊँगली घुमाता है, किन्तु दर्द की जगह ऊँगली नही पडती है। किन्तु जब विचारशील डाक्टर आता है और देखता है, और जब दर्द के स्थान पर उँगली पड जाती है, तो बीमार कहता है, हाँ यही दर्द है।

तो, जो स्थिति उस बीमार की होती है, वही स्थिति साधक की भी होती है। जब तक वह ठीक नाडी नही पकड़ी जाती, तब तक वह अपनी भयंकर बीमारी भी नही बता पाता। किन्तु भगवान् महावीर ने जब एक महान् और कुशल चिकित्सक के रूप मे ठीक जगह पर ऊँगली रक्खी और वासना के रोग पर ऊँगली रक्खी, तब विकारो के दर्द से कराहते हुए आदमी ने कहा हाँ, हाँ, यही दर्द है। तब उसकी चिकित्सा हुई, गाँठे टूटी, तो जीवन की धाराएँ बहने लगी।

जो लोग सुख के लिए धन सग्रह के फेर मे पडे रहते है, सोचते, हैं कि जैसे-तैसे धन का संग्रह कर लूं और फिर आनन्दमय हो जाऊँगा, मैं समझता हूँ कि वे बडी भूल करते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि धन प्राप्त हो जाने पर वह आनन्द निकट होने के बजाए और भी दूर हो जाता है। वह धन आग मे घी का काम देता है। आग में जितना घी डाला जाए, वह बढती जाती है। उसे शान्त करने के लिए तो पानी चाहिए। आग से आग नही बुझती, घी से आग नही बुझती, वह तो पानी से ही बुझती है। त्वकारी के पास धन की कोई कमी नही थी, फिर भी जीवन के आनन्द से वह वचित ही थी। उसका हृदय ज्वालाओ से व्याप्त न था।

इसीलिए तो जैन आदर्शवादी कहलाते हैं। जैन साहित्य की जितनी भी कडियाँ हैं, और इतिहास के रूप में या कथा के रूप में जो भी कुछ लिखा गया है, उसके पीछे अहिसा, क्षमा आदि आदर्शों का मूक सदेश निहित होता है। जिस कथा के पीछे यह मूक सदेश नही है, कम से कम हमारे यहाँ उन कथाओ का कोई मूल्य नही है।

कला, धर्म के लिए :

आज के लोग कहते है, कला कला के लिए है। किन्तु जैनाचार्य कहते है कला जीवन के लिए है और इसलिए धर्मकला ही समस्त कलाओ से उत्तम है। कहा भी है

"सव्वा कला धम्मकला जिणइ।"

क्षमा का आदर्श :

एक बार की घटना है। त्वंकारी जिस नगर में रहती थी, वहाँ को सन्त आए। उनमे एक सन्त बीमार थे और उनकी चिकित्सा ठीक तरह नहीं हो रही थी। एक चिकित्सक ने उन्हे लक्षपाक तेल की मालिश की सलाह दी। सन्त ने कहा यह बहुमूल्य तेल कहाँ मिलेगा ?

वैद्य ने कहा, राजा के मंत्री के यहाँ यह तेल है और मैंने ही उसे बनाया है। उनके यहाँ से आपको मिल जाएगा।

सन्त पात्र उठा कर मंत्री के घर पहुँचे। ज्यो ही सन्त घर के अन्दर घुसे, तो आगे त्वंकारी बैठी हुई मिली। सन्त को आते देख वह खडी हो गई और सामने आई। पूछा किस प्रयोजन से आपका आगमन हुआ ?

सन्त ने कहा लक्षपाक तेल चाहिए।

आपकी कृपा से सभी कुछ है। अभी लीजिए।

उसने पास में खडी हुई दासी से कहा बेटी, वह तेल का घडा तो ले आ।

कहा जाता है उस समय उस जगह, कोई देवशक्ति चक्कर काट रही थी। त्वंकारी ने जब दासी को 'बेटी' शब्द से संबोधित किया, तो उसने विचार किया इसने अपनी दासी के लिए 'बेटी' शब्द का प्रयोग किया है, तो यह केवल सभ्यता के नाते ही तो प्रयोग नही किया गया है ? ऐसा है तो क्या अन्त तक यह अपने भाव को कायम रख सकेगी ? दासी को बेटी बना कर इसने मातृत्व को स्वीकार कर लिया है, और मातृत्व की महिमा ऐसी है कि कितना ही विनाश और बिगाड़ क्यो न हो जाए, वह फीका नही पडता है। यही नही, वह और अधिक दयालु हो जाता है। क्यो न मैं त्वकारी के मातृत्व की परीक्षा कर देखूँ !

दासी ज्यो ही लक्षपाक तेल का घडा लेकर आने लगी कि देवी शक्ति की प्रेरणा से उसके पैर फिसल गये और घडे के टुकडे-टुकडे हो गये। सारा तेल जमीन पर बिखर गया। कालीन वगैहर तेल से भर गए।

यह हानि एक बड़ी हानि थी। और जब यह हानि त्वकारी के

सामने आई, तो उसने कहा बेटी, यह क्या हुआ ? तेल गिर गया। तो क्या हुआ। जाने दे, तुम दूसरा घड़ा ले आओ।

दासी दूसरा घड़ा लेने गई और जब लेकर लौटने लगी तो फिर गिर पड़ी। दूसरा घड़ा भी फूट गया। यह देख कर दासी सहम गई, सकपका गई। तब त्वंकारी बोली—बेटी, कोई बात नहीं, तीसरा घड़ा ले आओ।

दासी गई। उसने बड़ी सावधानी से घड़ा उठाया। मनुष्य के पास जितनी प्राणशक्ति होती है, सभी उसने लगा दी और सोचा अब की बार नहीं गिरने दूँगी। मैं दो बार क्षमा प्राप्त कर चुकी हूँ। जो तिनके के लिए भी क्षमा नहीं कर सकती थी, उसने लाखों का नुकसान बर्दास्त कर लिया है।

यह सोच कर दासी अत्यन्त सावधानी के साथ घड़ा ला रही थी। फिर भी अचानक पैर फिसल ही गया और दासी फिर गिर पड़ी। गिरते के साथ ही वह फूट-फूट कर रोने लगी। त्वंकारी ने यह देखा तो मुनि को छोड़ कर उसके पास आई और उसे उठा कर कहा बेटी, तुझे कहीं चोट तो नहीं लगी ? रोती क्यों है ? तेरे आँसुओं से क्या तेल की कीमत ज्यादा है ? तेल तो फिर भी प्राप्त किया जा सकता है। तुम पुत्री बनकर भी इस घर में रोने लगी ? यह घर इतना बड़ा है कि तेल तो क्या, सर्वस्व भी बर्बाद हो जाए, तो भी तेरा कोई अनिष्ट नहीं होगा। त्वंकारी ने यह कला सीखी है कि वह सभी कुछ बर्दाश्त करेगी और आँसू नहीं बहाएगी और न ही किसी को बहाने देगी।

यह कह कर उसने दासी को उठाया, तो उसके कपड़े भी तेल से भर गये। परन्तु उस क्षमामूर्ति त्वंकारी ने इस बात की भी परवाह नहीं की।

यह हाल देख कर देवशक्ति सामने आ गई। और हमारी कहानी यहीं समाप्त हो गई।

क्षमा की कसौटी :

हम अपने श्रोताओं के सामने इस कथा को रखते हैं। त्वंकारी की कथा का आदर्श यही है कि जिसमें न्याय और अन्याय को सहन करने की शक्ति नहीं है, उसमें महान् चेतना का जागरण नहीं है। वहाँ अन्दर

मे धर्म का सच्चा स्वरूप जागा नही है। वह तो संकट और विनाश की घडियो में ही जागता है, कम से कम ऐसे विकट प्रसग पर ही उसकी परीक्षा होती है। तभी पता लगता है कि मनुष्य की क्षमा सच्ची क्षमा है और वह विकास की ओर अग्रसर हुआ है।

यह ठीक है कि शुरू मे ही खधक मुनि और त्वकारी नही बना जा सकता। परन्तु मैं कह चुका हूँ कि हमारी चाल भले धीमी या तेज हो, परन्तु मार्ग तो वही होना चाहिए। अगर हम धीमे-धीमे भी उसी मार्ग पर चलें, तो भी किसी न किसी दिन लक्ष्य पर पहुँच ही लेगे। और यदि बीच में भटक जाते हैं, तव तो वह महान् लक्ष्य प्राप्त ही नही होगा।

तो मैं विचार करता हूँ कि त्वंकारी के अन्दर जीवन का वल गहरा था और इसी कारण वह क्षमा कर सकी। वल की गहराई न होती तो दूसरा और तीसरा घडा फूटने पर वह कह देती तुझे मालूम नही है? क्या अंधी हो गई है? दिखाई नही देता?

हम घर-घर में जाते है तो देखते है कि यदि बच्चो के हाथ से कोई नुकसान हो जाता है, तो माताएँ उनसे कहती हैं 'क्या सूझता नही है? आँखें फूट गई हैं? 'किन्तु ऐसा कहने के वजाय यदि यह कह दिया करें—'देखो, ठीक से देखकर चला करो। ठोकर खा जाओगे, तो तुम्हे चोट लग जाएगी।'

इस प्रकार प्रेम और स्नेह से उनके हृदय को जीते, तो मैं समझता हूँ, वालको को सहज ज्ञान हो सकता है। किन्तु जव वालक को अधा कह दिया जाता है, तो वह दिन भर उसी शब्द को याद किया करता है, उसे भूलता नही कि मुझे अधा कह दिया गया है।

इसी प्रकार अक्सर सास अपनी बहू को वात-वात पर झिड़कती है। जरा-सा काम विगड जाने पर वह बिगड जाती है और कटु शब्दो की झडी लगा देती है। अडोस-पडोस में दुखडा रोती-फिरती है। और जो कुछ होता है, उसे मेरी अपेक्षा वहने ही अच्छी तरह जानती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार का वर्ताव आखिर किसी बीमारी का इलाज है भी या नही? इससे रोग मिटता है या वढता है? इससे तो पारस्परिक वैमनस्य, क्लेश, अशान्ति और द्वन्द्व ही वढता है और वढते-वढते सारे परिवार की शान्ति को समाप्त कर देता है।

बहिनें इस तथ्य को न समझती हों, ऐसी बात नहीं है। यह कोई गुप्त रहस्य नहीं है। इस प्रकार के बर्ताव से सैकड़ों परिवार तहस-नहस हो गये हैं। सभी इस बात को भली भाँति जानती हैं, सुनती हैं और देखती हैं। फिर भी बहुत कम बहिनें इस बुराई से बचने का प्रयत्न करती हैं। आखिर इसका कारण क्या है ?

इस प्रश्न का एक ही उत्तर है—चारित्रबल का अभाव।

जीवन का आधार : चारित्रबल-:

जीवन की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी बातों में, सब जगह, चारित्र-बल की आवश्यकता है। चारित्रबल के अभाव में न गार्हस्थ्य जीवन में सफलता प्राप्त हो सकती है और न आध्यात्मिक जीवन में ही। अतएव गृहस्थ और साधु दोनों के लिए एक ही राह है चारित्रबल को प्राप्त करना। चारित्रबल जितना मजबूत होगा, हम बुराइयों से संघर्ष करने में उतनी ही सफलता पा सकेंगे। और यदि चारित्रबल न ऊँचा हुआ, तो छोटी से छोटी घटनाएँ भी हमें भटका देंगी और हम अपनी राह भूल जाएँगे।

मामूली-सा पात्र फूटने पर मैंने साधुओं को भी शोर मचाते देखा है। आपके यहाँ भी नित्य महाभारत मचा रहता है। आखिर इन बुराइयों को जब तक हम सोचेंगे नहीं और गहराई से नापेंगे नहीं, हम महान् बन नहीं सकेंगे।

आपको मालूम होगा कि आगरे में बनारसीदासजी बड़े विचारक हो गये हैं। वे आध्यात्मवादी कवि थे। उनके आध्यात्मिक ग्रन्थ बड़े विलक्षण हैं। अब से करीब चार सौ वर्ष पहले की बात है। आगरे में एक साधु आ गये जो शरीर पर एक तार भी नहीं रखते थे। जनता की भीड़ उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ी और वे इतने शान्त और महान् मालूम होते थे कि कुछ पूछिए नहीं। लोगों ने पूछा तो मालूम हुआ उनका नाम शान्तिसागर था।

पण्डित बनारसीदास भी वहाँ पहुँचे और बैठ गये। वे आध्यात्म-वादी तो थे, किन्तु परीक्षावादी भी कम न थे।

भक्त दो तरह के होते हैं एक तो झटपट प्रभाव में आ जाते हैं, और दूसरे परीक्षा करने के पश्चात् किसी के प्रभाव को स्वीकार करते

हैं। पण्डितजी दूसरी श्रेणी के थे। वे अपने जीवन को जाँचते थे और वैसे ही दूसरो के जीवन को भी जाँचते थे।

वार्त्तालाप के सिलसिले मे बनारसीदासजी ने पूछा- क्या नाम है महात्मन्?

मुनि ने कहा शान्तिसागर।

फिर कुछ देर बाते करने के बाद पूछा क्या नाम है?

मुनि ने फिर कहा शान्तिसागर।

जरा सी देर बात करके फिर वही प्रश्न-किया गया क्या नाम है?

अब मुनिजी चिढ पडे। बोले बता तो दिया है। तुम्हारे दिमाग मे क्या गोबर भरा है?

कवि ने सोचा आग प्रज्वलित होने लगी है।

कुछ ही देर बाद उन्होने फिर पूछा क्या नाम बताया महाराज!

मुनि ने झल्लाकर कहा शान्तिसागर! शान्तिसागर! शान्तिसागर!

मगर कविजी सहज टलने वाले नही थे। चुप रहे और इधर-उधर की बाते करने के बाद फिर वही प्रश्न कर बैठे क्या नाम है?

अब तो महाराज की आँखो से अंगारे बरसने लगे। बोले भागेगा या पिटेगा? मूर्ख कही का।

कवि फिर भी डटे रहे। और फिर थोडी देर मे पूछ बैठे क्या नाम है?

इस बार मुनिजी मारने दौडे! तब बनारसीदास ने कहा आप नाम से तो शान्तिसागर हैं, मगर स्वभाव से तो सचमुच ही ज्वालासागर हैं। सिर्फ सुन्दर नाम रखने से ही कुछ नही होता। अन्तर् मे उसके अनुरूप भाव को भी जगाना पडता है। रगड लगने पर चन्दन की तरह विशेष सुगन्ध पैदा होनी चाहिए। आप तो जरा-सी बात में ही क्रोध करने लगे।

अभिप्राय यह है कि जब तक अन्दर मे रचना नही होती चारित्र बल पैदा नही होता, तब तक अच्छा नाम रख लेने से अथवा क्रिया-काण्ड का प्रदर्शन कर देने मात्र से कोई लाभ नही होने-वाला।

तुम अपना जीवन नीचे से या ऊपर से बनाना शुरु कर रहे हो ? किन्तु स्मरण रक्खो, वह बनना शुरु होगा नीचे से। चार मंजिला भवन बनाने के लिए पहले नीचे की नींव में ईंटें रखनी होगी, फिर दीवार नीचे से उठ कर ऊपर आएगी- तब कहीं आप ऊपर के सिरे रख पर भी ईंट सकते हैं।

जो लोग ऊपर से जीवन बनाने की तैयारी करते हैं, वे शिष्टाचार और सभ्यता का दिखावा कर सकते हैं, किन्तु जीवन का निर्माण जिसे कहते हैं, वह नहीं कर सकते। और, वह भी जीवन में और आगे नहीं निभ सकता। अतएव यदि जीवन का निर्माण करना है, तो आन्तरिक चारित्रबल पैदा करो। तब जीवन इतना विशाल बनेगा कि इस जीवन में भी महान् होते हुए ऊपर चढते जाओगे और फिर समस्त बंधनों को तोड कर मोक्ष भी प्राप्त कर लोगे। किंतु पल भर के लिए भी यह न भूलो कि-

"आचरः प्रथमो धर्मः।"

जीवन के प्रथम प्रभात में जब तक आचार का सूर्य अपनी स्वर्णिम रश्मियाँ न बिखेरेगा, जीवन-कमल कभी-भी विकसित न होगा, न ही कभी मुस्कान एवं सौरभ से जीवन पूरित हो पाएगा। जीवन का सुख-शतदल सुन्दर आचार के प्रकाश में ही खिलता है। इसीलिए धर्मो में महान् धर्म आचार को कहा गया है। आचार से हीन होने पर जीवन का सत्व ही समाप्त हो जाता है

"If charractor is lost
Every thing is lost"

चरित्र गया तो सब गया !

३०-१०-५० को कविश्रीजी का दिया गया प्रवचन

१२

राष्ट्रीय-चेतना

एक राष्ट्र के सदस्यो के अतगत अपनापन, एकता एव एकानुभूति की जो भावना जागृत होती है, हम उसे ही राष्ट्रीय-चेतना कहते हैं। राष्ट्रीय-चेतना का यह अर्थ कदापि नही कि हम अपने राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए अपने पडोसी राष्ट्रो का अनैतिक ढग से शोषण करें।

राष्ट्रीय चेतना का अर्थ :

राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय-चेतना एक व्यापक शब्द है, एक महान् भावना है। चितको ने प्राय राष्ट्रीय-चेतना का राजनीतिक भावना के साथ आध्यात्मिक भावना का सतुलन के अर्थ में अकन किया है। पाश्चात्य चितक मेकाइवर ने राष्ट्रीयता की विवेचना करते हुए एक जगह कहा है

'We define nationality as a type of community sentiment, a sense of belonging togather created by historical circumstances and supported by common spiritual possessions of such an extent and so strong that those what feel it desire to have common gorvrnment particularly of exclusivly their own "

अर्थात् "हम राष्ट्रीयता की परिभाषा ऐसी सामाजिक भावना या एक साथ सगठित रहने की भावना की भाँति करते हैं, जो कि ऐतिहासिक परिस्थितियो द्वारा उत्पन्न होती रही है और समान आध्यात्मिक अधिकारो द्वारा इस सीमा तक तीव्रता से समर्थन की

जाती है, जो इसका अनुभव करते हैं, वे इस बात की इच्छा करते हैं कि उनकी एक समान रूप से सरकार हो।"

इसी प्रकार की अभिव्यक्ति हमें ए सी० कपूर के चिंतन में मिलती है। उनका कहना है

"Nationality . .. indicates a common spiritual. psychological sentimet among people having some common affinities"

अर्थात् "राष्ट्रीयता सामान्य आध्यात्मिक अथवा मनोवैज्ञानिक भावना को उन लोगो मे द्योतित करती है; जिनमे कुछ सामान्य समताएँ और लगाव होता है।"

वास्तव मे राष्ट्रीय-चेतना का लगाव उस राष्ट्र मे निवास करने वाले व्यक्ति व व्यक्ति-समुदायो के दिलो मे अपनी मातृभूमि के प्रति अगाध भक्ति-भावना है। कहा भी है

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि चिर गरीयसी"

जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढकर है। इसी भावना की अभिव्यक्ति हमें जिमेरिन के चिंतन मे मिलती है, जिसके लिए उसने कहा है

"Nationality is a form of co-operative sentiment of peculiar intensity, intimacy and dignity related to a definite home -country"

अर्थात् "राष्ट्रीयता सामूहिक भावना का एक रूप है, जिसकी अपने निश्चित देश सम्बन्धी गहरी परिचयता तथा प्रतिष्ठा अनोखी होती है।"

स्वस्थ राष्ट्रीय-चेतना :

किंतु जैसा कि मैंने पहले कहा है, वह राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता कदापि नही है जिसमे अपने देश को सम्मृद्ध करने के क्रम मे दूसरे देश का शोषण-अपहरण किया जाए। इसे भी हम राष्ट्रीयता की संज्ञा से अभिहित नही कर सकते, जिसमें एक राष्ट्र के व्यक्ति अपने राष्ट्र की सीमाओ की वृद्धि करने के लिए अन्य राष्ट्रो को कुचल कर उन पर घातक आक्रमण करने मे संलग्न हो। यह राष्ट्रीयता नही बल्कि राष्ट्रीयता के नाम पर साम्राज्यशाही का पृष्ठपोषण है, राष्ट्रीयता के नाम पर एक कोरा बकवास है।

सही अर्थ मे स्वस्थ राष्ट्रीयता तो वह है, जिसमें एक राष्ट्र के समस्त या अधिकाश सदस्य नैतिक मार्ग का अवलम्बन करके अपने राष्ट्र की श्री वृद्धि तो करते हो, परन्तु अन्य राष्ट्रो के प्रति भी महान् भूतिपूर्ण भावना रखते हो। एक राष्ट्र के व्यक्तियो की यही चेतना स्वस्थ राष्ट्रीयता की जननी है। यही पर व्यक्ति जगद्धिताय कार्य करता हुआ 'विश्व बंधुत्व' के पावन पथ का पथिक होता है। यथार्थ मे राष्ट्रीयता का, राष्ट्रीय चेतना का यही यथार्थ अर्थ है।

प्रश्न यह है कि यह जो राष्ट्रीय चेतना की हवा है, क्या यह कही दूसरी जगह से उड कर हम तक पहुँची है ? या भारत की यह चेतना स्वतंत्र चेतना रही है ? अगर हम भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास को देखते हैं, उस पर विचार करते हैं, तो हम पाते है कि भारतवर्ष ने आज नही दोसौ चारसौ वर्षो पहले भी नही, बल्कि हजारो-लाखो वर्षों पहले के युग में भी राष्ट्र के विषय में मनन और चितन करना शुरू कर दिया था और इस तथ्य को समझ लिया था कि राष्ट्र के अभ्युदय में व्यक्ति का अभ्युदय है और राष्ट्र के विनाश मे व्यक्ति का विनाश है। हमारे पुराने आदर्शो में से एक महान् आदर्श हमारे सामने इस रूप में आया है

"संगच्छध्व, संवदध्व, सह वो मनांसि जानताम् ।"

हे मनुष्यो ! एक साथ चलो, एक साथ वोलो और तुम्हारे मन एक साथ ही सोचना शुरू करें।

एकाकी दौड लगाने से जीवन की प्रगति पूरी नही हो सकती। जीवन का आनन्द अकेले मे प्राप्त नही किया सकता। सब से अलग होकर अकेले-अकेले रहने से मानव-जीवन विकसित नही हो सकता। दया, क्षमा, सहानुभूति, समवेदना, करुणा आदि मानवीय उच्च भावनाओ का विकास अकेले-अकेले मे नही हो सकता।

वडी वात तो यह है कि भारत के जो ईश्वरवादी दर्शन है, वे भी ईश्वर को विराट् स्वरूप ही प्रदान करते रहे है। उपनिषद् मे हमे एक भावना मिलती है

"एकोऽहं बहुस्याम् ।"

अर्थात् मैं एक हूँ और मैं एक ही अनेको स्वरूपो मे रूपायित होता हूँ।

इस रूप मे भारत ने ईश्वर के विषय मे भी यही चिन्तन किया है। भारत का ईश्वर भी यही सोचता है कि मैं एक हूँ और अनेक बनूँ क्योंकि आज अकेले काम नही चल रहा है।

हम देखते है, हमारे जो पडोसी-दर्शन है, जो विचारधाराएँ हैं, जो हमारी अगल-बगल मे हजारो वर्षो से बहती चली आती है, उन्हे भी इस ससार के कदम को एक साथ नापने का मार्ग बतलाया है। उन्होने भी प्रयत्न किया है कि मनुष्य अपने आप मे सीमित न रहे अपने भीतर ही बन्द न हो जाए, अपने से निकल कर बाहर फैलना शुरू करे और अपने को एक से हटा कर बहुतो मे परिणत कर ले।

भारतीय दर्शन की विराट् भावना :

भारत के दर्शन, जिनमे जैनदर्शन भी सम्मिलित है, मनुष्य को छोटा बनाने की हिमायत नही करते। अर्थात् मनुष्य यदि समाज मे है, तो उसे परिवार मे और परिवार मे है, तो अपने आपमे बंद होने को नही कहते हैं। किसी भी दर्शन की यह प्रेरणा नही है कि मनुष्य की फैली हुई जिंदगी अपने आपमें बन्द हो जाए। यही नही, हमारी सारी साधनाएँ विराटता की ओर ही बढ रही हैं और भारत के दर्शन और मनुष्य धर्म को क्षुद्र एकत्व के दायरे मे से निकाल कर उसको विराट् रूप में परिणत होना बताते हैं।

भारतीय दर्शन एक को अनेक बनाने की हिमायत करते है अथवा अनेक को एक रूप बनाने का आदर्श उपस्थित करते हैं। इस प्रश्न पर जब हम विचार करते है तो मालूम होता है कि भारत मे ऐसे भी दर्शन हैं जो एक की बात करते हैं और ऐसे भी दर्शन है जो अनेक की बातें हैं। अनेक की बात कहने वाले भी क्षुद्र पिंड की बात नही करते और मिट्टी के इस ढेले का महत्त्व नही देते। वे अनेक को अपने जीवन में घुलाकर और प्रेम का रस छिडक कर एक बना लेने की बात कहते हैं। उनका कथन है कि आत्मीयता के साँचे में सारे विश्व को इस तरह ढाल लो कि सारा ससार इकाई के रूप में परिणत हो जाए।

जैसा तू अपने लिए सोचता है, वैसा ही पडोसी के लिए सोच, और जैसा पडोसी के लिए सोचता है, वैसा ही सारे संसार के लिए भी सोच।

जिन दर्शनो ने एकता को महत्त्व दिया है, उनका चिन्तन भी इसी प्रकार का है। वे कहते है कि एकता से अनेकता की ओर चलो, अपने

सुख-दुःख की वृत्तियाँ और जीवन की धाराएँ, जो एक रूप मे बह रही है, उन्हे अनेक बना दो।

अभिप्राय यह है कि अनेकता में एकता और एकता मे अनेकता की भावनाओ में से परिवार का जन्म हुआ, समाज का जन्म हुआ और राष्ट्र का भी जन्म हुआ।

आज जो राष्ट्रीयता की बाते कर रहे है, मैं पूछता हूँ कि वे भारत-वर्ष को क्या बनाना चाहते है? भारत की राष्ट्रीयता का क्या रूप है? भारत मे जो अलग-अलग वर्ग और टुकडे हैं, वे राष्ट्र है या भारत की जो समष्टि है, वह राष्ट्र है? भारत हिन्दुओ और मुसलमानो के रूप मे रहता है। हिन्दुओ में जैन भी है और वैष्णव भी हैं और मुसलमानो में शिया भी हैं और सुन्नी भी हैं। इस रूप में भारतीय राष्ट्र के भी अनेक रूप हैं। तो फिर भारत की राष्ट्रीयता हिन्दुओ के रूप में है, या मुसलमानो के रूप में है? भारत तो सदियो से अनेक जातियो का एक राष्ट्र बना हुआ है। यहाँ अनेक धाराएँ आई है और भारत के मैदानो में बहती रही हैं। हमारी पाचनशक्ति प्रबल रही है और उसने यह काम किया कि जो भी दुखी आए और जिनके कदम कही नही जमे, उनका भारत ने स्वागत किया। एक दिन हमारे यहाँ पारसी आये और रोटियो की तलाश मे आए। और, भारत-माता की गोद के बालक बन गए। भारत ने उनको भी स्थान दिया। वे भी भारत-माता की गोद में बच्चो की तरह फले-फूले।

और यह सब तो आज की पीढियाँ हैं। इनकी बात छोड दीजिए। जो शक और हूण आदि भारत मे आक्रमणकारी बन कर आए, भारत को रौंदने के लिए आए, वे क्या रौंद कर चले गए? नही। इतिहास इसका साक्षी है कि भारत के आध्यात्मिक चिन्तन और विराट् राष्ट्रीय भावना ने उन सब को घुला कर अपने में अंगीभूत कर लिया। वे शक थे, तो कोई बात नही, और हूण थे, तो भी चिन्ता नही। और, आज भी वे सब यही मौजूद है। क्या आप बता सकते है कि वे कौन हैं? आज के भारतीयो मे कौन शक और कौन हूण हैं?

यही बात ग्रीक आदि समस्त विदेशी जातियो के सम्बन्ध मे है। जो ग्रीक आए थे, वे भी आज हमारे अदंर घुलमिल कर एकमेक हो गए है।

भारत तो वह वहती हुई नदी है कि जो भी नाले उसमे आकर मिले, उसने अपने ही रूप मे सब को ढाल लिया। गंगा मे यमुना मिली, तो वह भी उसी रूप मे हो गई और आपके शहर का गदा नाला मिल गया, तो वह भी कुछ दूर चलते ही गंगा वन गया। भारत की संस्कृति गगा की धारा है कि जो भी उसमे पडा, गगा वन गया।

तो, जब तक हमारा चिन्तन इस रूप मे रहा और हमारे हाजमे मे शक्ति रही, हम पचाते रहे और जीवन मे घुलाते रहे और उसे एक रूप वनाते रहे। किन्तु दुर्भाग्य से जब हमारा चिन्तन गडवड मे पड गया और हमारा हाजमा दुरुस्त नही रहा और गंगा की धारा मे वह तेज़ शक्ति न रह गई, तब जो विदेशी आए, वे अलग पडे रहे। उनका हाजमा वढता गया और हमारा हाजमा दिनो दिन कम होता गया। विदेशियो को अपने मे विलीन कर लेने की हमारी ताकत खत्म हो गई। हमने उनसे नफरत की, उन्हे गले से नही लगाया। उसका परिणाम यह हुआ कि हमारे महान् देश का अंग-भग हो गया। भारत, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप मे दो टुकडो मे बँट गया।

विभेद और बंटवारे की भावना राष्ट्रीयता का दुश्मन :

इस दर्दनाक इतिहास से हमे शिक्षा लेनी चाहिए और भारत की राष्ट्रीयता के स्वरूप को सावधानी के साथ निश्चित करना चाहिए। अगर हम उदार-भाव से राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्धारित करेंगे और भारत-माता के प्रत्येक वालक को राष्ट्रीयता का अधिकार देने मे कजूसी न करेंगे तथा इस क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के जहर को प्रवेश नही करने देंगे, तो हम उन महान् आत्माओ के प्रति, जिन्होने भारत का सही दिशा मे नेतृत्व किया है, वफादारी जाहिर करेंगे और श्रद्धाञ्जलि अर्पित करेंगे। और, यदि हम गलत राह पर चले गए, तो वह दिन दूर नही, जब यह खडित देश और भी अनेक खण्डो मे बँट जाएगा।

मैं उन गाँवो मे भ्रमण करता रहा हूँ, जहाँ अधिकाश वस्ती जाटो की है। वे सोई हुई चिनगारियाँ जाटिस्तान वनाने की माग कर रही हैं। और उन्ही गाँवो में सिख भी रहते हैं और उनमे से कुछ को छोड़ कर सारे के सारे आवाज वुलन्द कर रहे हैं कि एक सिक्खिस्तान वनाना चाहिए।

यदि यही हाल रहा तो भारत की राष्ट्रीयता किस प्रकार पनप सकेगी ? जाटिस्तान, सिक्खिस्तान और द्राविडिस्तान आदि की जो भावनाएँ चल रही हैं, वे क्या देश को पनपने देगी ? क्या इस प्रकार वट-वट कर और कट-कट कर हम कभी पनप सकेगे ? कट-कट कर पनप सकते होते, तो क्या हिन्दुस्तान और पाकिस्तान ही बन जाते ? किन्तु मालूम तो ऐसा होता है कि बँटवारे के बाद दोनो मे से कोई भी सुखी नही है।

अभिप्राय यह है कि भारत का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत उदार और उज्ज्वल रहा है और आज हमें उस इतिहास से बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता है।

आज लाखो आदमी, मुसीबतो के पहाड लेकर, भारत मे आए है। वे सब आपके भाई हैं। आपकी और उनकी संस्कृति एक है। किन्तु आज भी वे शहरो की फुटपाथो पर बुरी तरह सोकर अपने दिन बिता रहे हैं। उन्हे घास के तिनके भी सिर पर छाने को नही मिले है। दो शाम सूखी रोटी भी खाने को नही मिलती। आवश्यकता इस बात की है कि हम मानव होकर अपने मानव-भाई की दुर्दशा को दूर करने का प्रयास करें।

मैं समझता हूँ, यह समय आपकी परीक्षा का है। ऐसे अवसर पर ही किसी देश के निवासियो की राष्ट्रीय भावना की परीक्षा होती है। हम जानना चाहते है कि जिन्हे अपनी सामाजिक, धार्मिक भावनाओ का अहकार है, जो सोने के महलो मे बैठे है, जिनके यहाँ कुत्ते तक मिठाइयाँ खा सकते हैं, और मिठाइयाँ नालियो तक मे बहाई जा सकती हैं, वे लोग उन अतिथियो के प्रति, जो अपने राष्ट्रप्रेम और सस्कृति प्रेम के कारण यहाँ आए हैं, क्या करना चाहते हैं ? उनके साथ कैसा वर्ताव करते हैं ? प्रत्येक देशवासी को अपने कलेजे पर हाथ रख कर सोचना है कि वह क्या कर रहा है ?

जो मुसलमान भाई यहाँ से पाकिस्तान पहुँचे हैं, उनकी भी वहाँ बुरी हालत है। उनमे से बहुत-से लौट कर यहाँ आ जाना चाहते हैं। वहाँ उनकी रोटी तक का सवाल हल नही हो रहा है।

मैं सोचता हूँ, इस बँटवारे के कारण हिन्दुस्तान और पाकिस्तान कितनी विकट समस्याओ में उलझ गए हैं। किन्तु जो होना था, हो

गया, अब और बँटवारे की क्या बात है? क्या हिन्दू और सिक्ख एक साथ नही बैठ सकते? क्या हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ नही रह सकते? हिन्दुओ और जैनो में भिन्नता का भाव क्यो पैदा हो रहा है? जैनो के मन में यह बात आ रही है कि जैन, जैन है हिन्दू नही हैं, और हिन्दुओ के मन मे भी यही बात घुसी है। तो क्या हम समष्टि के रूप मे नही सोच सकते? क्या हममें इकाई के रूप मे सोचने, समझने और बाते करने की शक्ति नही रह गई है? अगर हम इन्ही विचारो में उलझे रहे, तो भारत की राष्ट्रीयता किस प्रकार कायम रह सकेगी?

आप देखते हैं कि ससार किस ओर कदम बढाये जा रहा है? चारो ओर एक आग जल रही है। अशान्ति की आग सुलग रही है! उसमें कभी कोरिया जल उठता है, कभी इण्डोनेशिया और कभी चीन जलने लगता है। ऐसी स्थिति मे, जिस देश मे पार्थक्य की भावनाएँ जोर पकड़ती जा रही हो, वह देश कैसे सुरक्षित रह सकता है? सारी दुनिया मे भूकम्प आये तो क्या भारत सुरक्षित बच जाएगा? आज सारा ससार एक इकाई का रूप ग्रहण करता जा रहा है। कोरिया मे कोई गड़बड होती है, तो सारा ससार चौकन्ना हो उठता है। आपके खाने-पीने पर उसका असर होता है। व्यापार पर असर पडता है और आपके तमाम व्यवहारो पर उसका असर होता है। दुनिया के किसी भी कोने में यदि युद्ध सुलगता है, तो आप उसके प्रभाव से अछूते नही रह सकते।

ऐसी स्थिति में अगर आप भारत को जिन्दा रखना चाहते हैं और ससार के मैदान में आप अपनी राष्ट्रीयता कायम रखना चाहते है, तो आपको तमाम इकाइयो को मिलाकर एकरूपता लानी होगी और अलग-अलग जातियो के रूप मे सोचना बन्द कर देना होगा। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि अमुक-अमुक वर्ग के रूप मे सोचना बन्द किए बिना आपका त्राण भी नही है। मजदूर, व्यापारी, किसान आदि के जो विभिन्न वर्ग है, उनके रूप मे सोचने पर भी आप नही पनप सकते है।

इसके लिए यह आवश्यक है कि जिनको रोटी मिल रही है, उन्हे मिलती रहे और जिन्हे नही मिल रही है, उनके लिए रोटी की समुचित व्यवस्था की जाए। एक तरफ महल है और दूसरी तरफ

झौपडी है। आप विचार करे कि झोपडी को महल के रूप में परिवर्तित करने से झोपडी सुरक्षित रहेगी या महल को झोपडी वनाने से झोपडी सुरक्षित रहेगी ? मैं समझता हूँ, जब तक झोपडी महल के रूप मे न वदल जाएगी, तब तक देश मे शान्ति नही हो सकती है।

इस प्रसग मे मुझे एक कहानी याद आ रही है। एकवार किसी ने दस अधो को निमन्त्रण दिया और भोजन केवल एक के लिए वनाया। जब दसो अधे आ कर बैठ गये, तो एक थाली मे भोजन लाया गया। एक अधे के सामने थाली रक्खी गई। उससे पूछा गया भोजन आ गया ? अधे ने टटोलकर कहा—हाँ, आ गया। और इसके बाद वही थाली दूसरे के सामने रख दी गई और फिर तीसरे, चौथे और बारी-बारी से सबके सामने रख दी गई। इसके बाद वह उठाली गई और चौके मे रख दी गई। तब मालिक ने कहा अच्छा, अब जीमना शुरू करो।

अधो ने थाली की तरफ हाथ बढाया तो थाली गायब। इधर-उधर टटोला, किन्तु थाली का कही पता न लगा। जब थाली न मिली तो एक दूसरे पर अविश्वास करने लगा। सोचने लगा अभी तो थाली टटोली थी और अभी-अभी कहाँ गायब हो गई ? फल यह हुआ कि वे आपस मे लडने लगे। मुक्केबाजी होने लगी, तो घर के मालिक ने कहा तुम सब नालायक हो, निकल जाओ यहाँ से।

तो क्या देश की समस्या भी इसी रूप मे हल होनी है ? एक से छीना और दूसरे के सामने रख दिया और दूसरे से छीनकर तीसरे को दे दिया। क्या समस्या का यही स्थायी हल है, अधो की थालियो की हेरफेर से क्या भूख बुझने वाली है ?

सभव है, आपके और मेरे विचारो मे भेद हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि आज देश गरीब है और चारो ओर हाहाकार है। हजारो-लाखो आदमियो को भरपेट भोजन नही मिल रहा है। वे सुबह उठते है और दिन भर काम करने के बाद रात्रि मे भूखे सो जाते है। हजारों-लाखो बहनो को तन ढाँकने तक को वस्त्र नही है। बच्चो को शिक्षा और औषधि नही मिल रही है। लोग एक किनारे से दूसरे किनारे तक कुत्तो की तरह भटकते फिरते हैं। यदि यही हालत कायम रही, तो देश की समस्या कभी भी हल नही होगी। अतएव प्रत्येक देशवासी को एक के रूप

मे सोचना बन्द करना होगा और समष्टि के रूप मे सोचना शुरू करना होगा।

एक युग था, जब राजा, राजा था और प्रजा, प्रजा थी। हजारो-लाखो वर्षो तक इस प्रकार का शासन रहा है कि जिसमे राजा, राजा के रूप में और प्रजा, प्रजा के रूप मे रही थी। किन्तु अब भारत में प्रजातन्त्र की लहर आई है। यो तो भगवान् महावीर स्वय वैशाली के प्रजातन्त्र राज्य के एक राजकुमार थे, किन्तु भारत मे जब साम्राज्यवाद का रूप आया, तो प्रजातन्त्र राज्य मिटा-मिटाकर साम्राज्यो मे सम्मिलित कर लिये गये। किन्तु अब फिर प्रजातन्त्र आया है, यो कहना चाहिए कि अभी उसकी नीव पडी है।

जब तक साम्राज्यवाद रहा, तब तक राजा मनचाही शासन करता रहा और प्रजा को बोलने का अधिकार नही रहा। किन्तु अब वह बात नही है। प्रजातन्त्र का अर्थ है, शासक और शासित के बीच मे किसी प्रकार की दीवार का न रहना। प्रजातन्त्र भी एक प्रकार का शासन है और प्रजा की शान्ति और सुविधा के लिए किसी न किसी प्रकार का शासन अनिवार्य है। बिना शासन के क्षण भर भी काम नही चल सकता। और जब शासन होगा तो उसका संचालन करने के लिए शासक भी होगे। परतु प्रजातन्त्र की विशिष्टता इस बात मे है कि शासक प्रजा की इच्छा के अनुसार अर्थात् प्रजा के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के द्वारा बनाये हुए विधान और कानून के अनुसार ही शासन करते है। इस रूप मे आज जो सरकार है, वह प्रजा भी है और प्रजा तो प्रजा है ही। वर्तमान युग मे राष्ट्रपति भी प्रजा है और नेहरू तथा पटेल जैसे राष्ट्र के कर्णधार नेता भी प्रजा ही थे। इन पर कोई अलग लेबिल नही लग गया था। यह बात नही है कि वे राजा हो गये और प्रजा नही रहे।

किसी को यदि किसी के विवाह मे जाना होता है, तो घर के सारे लोग नही जाते है, बल्कि एक व्यक्ति ही पूरे घर की तरफ से चला जाता है और यह समझ लिया जाता है कि सारा ही घर विवाह मे सम्मिलित है। इसी प्रकार शासन करने के लिए कुछ व्यक्तियों को भेज दिया जाता है और उन व्यक्तियो को ही सरकार कहते हैं। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति शासन नही करता है। और, यदि करे भी तो किस पर करे?

अतएव प्रजा योग्य व्यक्तियो को निर्वाचित कर देती है और फिर उनके शासन मे रहती है। इस प्रकार शासक भी प्रजा है और शासित भी प्रजा ही है।

सरकार और प्रजा का परस्पर सम्बन्ध :

आज की प्रजा और सरकार अलग-अलग नही है। यह नही है कि प्रजा के हाथ कुछ और है और सरकार के हाथ कुछ और है। सरकार को प्रजा के हित मे और प्रजा को सरकार के हित मे सोचना है। एक दूसरे के सहयोग से ही काम चला सकता है। हाथ धोते है, तो एक अकेला हाथ अपने आपको नही धो सकता। जब दोनो हाथ आपस मे मिलेंगे, तभी दोनो धुल सकेगे। इसी प्रकार सरकार की समस्या प्रजा को और प्रजा की समस्या सरकार को हल करनी है। समझ लेनी चाहिए कि अब दोनो अलग नही है, प्रजा और सरकार दोनो एक है।

वर्त्तमान मे जो सरकार है, उसकी तरह-तरह से आलोचना की जाती है। यह ठीक भी है क्योकि शासन मे आलोचना का भी महत्त्व-पूर्ण स्थान है। सरकार की आलोचना करने से सरकार बहुत बार गलत रास्ता अख्तियार करने से बच जाती है। किन्तु वह आलोचना सदुद्देश्य से प्रेरित होनी चाहिए और निःस्वार्थभाव से, केवल प्रजा के हित और राष्ट्र के कल्याण से की जानी चाहिए। आलोचना करने वालो को भूल नही जाना चाहिए कि सरकार के सामने भी कठिनाईयाँ है और बहुत बडी-बडी कठिनाईयाँ है। आपको सोचना चाहिए कि अगर मैं उस जगह होता, तो क्या करता? मैं उस जगह पहुँच जाता, तो मेरी क्या परिस्थिति होती? घर म चौधरीपन की बाते बघार लेना सरल है, किन्तु जब पचायत में चौधरीपन का काम करना पडता है, तो उसे सभालना कितना कठिन हो जाता है।

एक बात और है। आज भारत का नवनिर्माण हो रहा है, किन्तु वह पाश्चात्य विचारधारा से नही हो सकता। पश्चिम की सस्कृति लेकर, रहन-सहन लेकर और पाश्चात्य जगत् की आग लेकर क्या भारत का महल खडा किया जा सकता है? सदियो से भारत पाश्चात्य लोगो के सम्पर्क मे रहा है और उनके द्वारा शासित होता रहा है। पाश्चात्य सस्कार भारतीयो के मन मे घर कर गये है। परन्तु भारत

की समस्याएँ उनसे हल नही हो सकती। भारत की अपनी सस्कृति है, अपने आदर्श है और अपने सोचने-विचारने के तरीके है। उन्ही उज्ज्वल विचारो और पुराने आदर्शों के आधार पर हम भारत का निर्माण कर सकते है। यदि पाश्चात्य सस्कृति के भरोसे भारत का निर्माण करना चाहेगे, तो नही होगा, क्योकि भारत के हृदय मे वह चीज नही है। जो चीज भीतर मे नही है, वह यदि ऊपर से लादी जायगी, तो पनप नही सकेगी। हम जो बना सकते हैं, वही बना सकते हैं और जो नही बना सकते, उसे अपनी अधिक से अधिक ताकत खर्च करके भी नही बना सकते।

क्या भारत के अन्दर एक-दूसरे के सुख-दुख को समझने की कला नही है? क्या भारत के पास अपनी रोटी तलाश करने का कोई ढग नही रहा है? क्या भारत मे अपना मकान खडा करने की कला नही है? क्या हम भाई को भाई समझने की कला बाहर से लाएँगे? कदापि नही, यह सब कलाएँ तो हमे लाखो वर्षों से प्राप्त हैं और उस समय से प्राप्त हैं, जबकि शेष ससार जगली का जीवन ही बिता रहा था।

समष्टि की हित-साधना : सच्ची राष्ट्रीयता :

इसी भारत मे एक समय उच्च श्रेणी की राष्ट्रीयता थी, जब कि सम्राट् विक्रमादित्य यहाँ मौजूद थे और जिन्हे हुए आज करीब दो हजार वर्ष बीत चुके हैं। जब सम्राट् विक्रमादित्य दरबार मे बैठते थे, तो सोने के सिहासन पर हीरे जवाहरात के मुकुट पहन कर बैठते थे और ऐसे मालूम होते थे, जैसे कोई देवता या इन्द्र स्वर्ग से उतर कर आया हो। किन्तु वही सम्राट् जब व्यक्तिगत जीवन मे होते थे, तो ससार भर के दूत उन्हे देखकर हैरान हो जाते थे। उस समय वे एक साधारण चटाई पर बैठते थे। उनके सामने प्रश्न आया कि आप तो भारत के सम्राट् है और सोने के सिहासन पर बैठने वाले है, फिर इस साधारण-सी चटाई पर क्यो बैठे है? तब उन्होने कहा—सोने का सिहासन प्रजा का सिहासन है और यह चटाई मेरा व्यक्तिगत आसन है। जब राजकीय जीवन गुजारता हूँ, तब सोने के सिहासन पर बैठता हूँ और जब पारिवारिक जीवन मे होता हूँ, तो चटाई का व्यवहार करता हूँ। मेरे निजी जीवन मे, मेरे भाग्य मे यही चटाई है।

चन्द्रगुप्त के काल मे चाणक्य भी, जो भारत का प्रधान मंत्री था,

साधारण-सी झोपडी मे रहता था और उसमे मामूली-सी चटाई बिछा कर बैठा करता था। वह उसी झोपडी से साम्राज्य का सचालन भी करता रहा और एक पाठशाला के अध्यापक के रूप मे देश के नौनिहालो को ज्ञान भी देता रहा।

भारत की राष्ट्रीयता का यह उज्ज्वल स्वरूप है। यहाँ व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व नही दिया गया, बल्कि प्रजा की समष्टि को महत्त्व दिया गया था।

किन्तु आज सदियो की पराधीनता के कारण प्रजा के मानस मे राष्ट्रीयता की भावना धुँधली पड गई है। आज का व्यापारी क्या सोचता है ? वह सोचता है आज दस हजार रोकड मे जमा है, तो कल एक हजार की वृद्धि और करनी है। वह नही सोचता कि पहले मनुष्य अपने लिए कमाता था, एक युग आया कि वह अपने परिवार के लिए कमाता रहा और फिर समाज के लिए कमाता रहा। किन्तु आज व्यापारी जो कमाई कर रहा है, जिसे वह अपनी निजी कमाई समझता है, वह तो वास्तव मे राष्ट्र की कमाई है। मुझे उससे चिपक नही जाना चाहिए। आज व्यापारी को यही तथ्य समझना है और भारत के कृषकवर्ग को तथा दूसरे वर्गो को भी यही सोचना है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति आज राष्ट्र के रूप मे लानी है और राष्ट्र मे जब तमाम वर्गो की शक्तियाँ पूँजीभूत हो जाएँगी, तभी देश का अभ्युदय सभव होगा।

राष्ट्र का अर्थ :

भारत जमीन को नही कहते हैं। जमीन तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक है। राष्ट्र का वास्तविक अर्थ उस भूमि पर रहने वाली प्रजा से है। अतएव यदि प्रजा बलवान है, तो राष्ट्र भी बलवान् बनेगा और यदि प्रजा स्वयं दुर्बल है और अपनी रोटी के लिए दूसरो का मुँह ताकती है, तो उसका राष्ट्र भी कभी ऊँचा नही उठ सकता।

एक भाई ने मुझे याद दिलाया है कि पश्चिम के जितने भी देश है, वे किसी को देवता और किसी को सरक्षक नजर आते है। इस सम्बन्ध मे कोई कुछ भी सोचता हो, मेरा विचार तो यह है कि जब भी कोई पश्चिमी देश आपका सहायक या सरक्षक बन कर आता है, तो वह कभी नि स्वार्थ भाव से नही आता, वह आता है तो अपने निजी स्वार्थ

से ही आता है। एक उदाहरण लीजिए। कश्मीर का प्रश्न आता है, तो उसका फैसला करने मे इतना समय लगाया जाता है और उसे टालने की ही निरन्तर कोशिश की जाती है, किन्तु कोरिया का प्रश्न आता है, तो आनन-फानन फैसला किया जाता है और फैसला ही नही किया जाता, उसे बचाने के नाम पर अपनी सारी शक्तियाँ लेकर वे कोरिया के मैदान मे जूझ पडते है। क्या आप सोच सकते है कि अमेरिका ने परोपकार के लिए कोरिया के युद्धक्षेत्र मे अपनी सेना कटवाई है? नही, अमेरिका इतना भोला नही है।

आशय यह है कि कोई भी पश्चिमी देश आपकी सहायता के लिए आने वाला नही है। वह आएगा तो अपने स्वार्थ के लिए आएगा, अपना उल्लू सीधा करने के लिए आएगा। अतएव देशवासियो को मैं चेतावनी देना चाहता हूँ कि वे अपने उद्धार के लिए परमुखापेक्षी न बनें। दूसरो के भरोसे हमारे देश की गाडी चलने वाली नही है। दूसरे चलाएँगे तो उस रास्ते पर नही चलाएँगे, जिस पर हम चलना चाहते है और जिस पर चलने से हमारा कल्याण हो सकता है। दूसरों का मुँह ताकना ही गुलामी है। किसी स्वाधीन देश को इस प्रकार की गुलामी शोभा नही देती।

सच पूछो तो भारत को किसी का मुँह ताकने की आवश्यकता ही नहीं है। भारत स्वय विशाल देश है और उसके पास प्रचुर साधन-सामग्री है। किसी देश को उन्नत और आत्मनिर्भर बनाने के लिए जिन चीजो की आवश्यकता है, वह सब यही पैदा की जा सकती है, केवल समुचित व्यवस्था की आवश्यकता है। अगर भारत का प्रत्येक नागरिक अपने देश का ध्यान रखे और देशहित को अपने जीवन मे प्रथम स्थान दे, तो यह देश नि सन्देह शीघ्र ही उच्च स्थिति पर पहुँच सकता है और देश के कल्याण के साथ-साथ आप सबका भी कल्याण हो सकता है।

राष्ट्रीयता का आधार : धर्म और नैतिकता :

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, राष्ट्रीयता किसी व्यक्तिविशेष का बोधक नही, अपितु समष्टि का बोधक है, समुच्चय का पर्याय है। जब देश की भावना के साथ आध्यात्मिकता की भावना जुड जाती है, तभी वह राष्ट्रीयता का पर्याय ले पाती है। और जैसा कि स्पष्ट है, आध्या-

त्मिकता का सोपान धर्म और नैतिकता ही है। जबतक व्यक्ति-व्यक्ति के अंदर अपने शुभ संकल्पो को, नैतिकता के हितकारी विचारो को निष्ठापूर्वक धारण करने की क्षमता नही जगेगी, राष्ट्रीयता अपने वास्तविक अर्थ मे कभी भी निश्चित नही हो सकेगी। मानव-मानव समान है, सबके जीवन की समान आवश्यकताएँ है, समान मांगे है, सबके जीवन का ध्येय समान है, सुख-दुख की सबको समान अनुभूति होती है आदि बातो को समझते हुए जब तक व्यक्ति उन कार्यो को करने से दूर नही हो जाएगा, जिससे अन्य लोगो को हानि होती हो मनुष्य मे नैतिकबल जागृत न हो पाएगा और तब राष्ट्रीयता की कामना कल्पनामात्र रह जाएगी।

राष्ट्रीयता का व्यापक रूप :

एक जमाना था, जबकि राष्ट्रीयता का अर्थ बडा ही सकुचित था। एक देश अपनी सीमित सीमाओ के विषय मे हितचिन्तन को ही राष्ट्रीयता का पर्याय मानता था। किन्तु आज महान् वैज्ञानिक उपलब्धियो के युग मे व्यक्ति का जीवन विश्व का जीवन बन गया है। एक व्यक्ति के क्रिया-कलापो का पूरे विश्व पर प्रभाव पडता है।

ऐसे युग मे आज हमारा चिंतन किसी सकीर्ण सीमाओ की अपेक्षा नही रखता। आज हमें पुन अपने प्राचीन महान् आदर्श "वसुधैव **कुटुम्बकम्।**" की भावना का समादर करना है। विश्व की हितचिंतना करते हुए अपने राष्ट्र की सुख-समृद्धि की सतत चितना करना ही आज की सच्ची राष्ट्रीयता है। आज राष्ट्रीयता का जो रूप है, वह वस्तुत राष्ट्रीयता नही अपितु अन्तर्राष्ट्रीयता का एक रूप है। आज सच्ची राष्ट्रीयता की कसौटी विश्व-हित-चिंतन मे एकभाव से जुट जाना है। हमारे भगवान् महावीर ने भी तो शताब्दियो पूर्व इसी का उद्घोष किया था कि मानव मानव समान हैं। सबको समान समझो, सबको उचित स्थान दो। तभी तो उन्होने मानव को 'देवानुप्रिय' की गारमयी उपमा प्रदान की।

आज सवाल इस बात का नही है कि आज कितना धनोपार्जन करते हैं, कितना अच्छा खाते हैं, कितना अच्छा पहनते हैं, सवाल यह भी नही कि आप अपने परिवार को कितना सुखी रख रहे है, आपके अन्दर अपने प्रान्त व प्रदेश के लिए कितनी कुछ भावना है अथवा

अपने देश को कितना आगे बढाने की भावना रखते है, बल्कि सवाल इस बात का है कि आप अपने शरीर का सुखोपभोग, परिवार का वैभव-विलास प्रदेश की ऐकान्तिक भावना, राष्ट्र के प्रति आग्रह सबको त्यागकर मानव मात्र एव प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति, प्रेम, दया, करुणा का भाव अपने अन्दर मे भरकर विश्व कल्याण की कितनी कुछ भावना अपने अन्दर मे सँजो रहे है। जब आपकी भावना इतनी उदार पीठिका पर अवस्थित हो लेगी, उसी दिन आपकी देशभक्ति भावना एव राष्ट्रीयता का स्वस्थ रूप फलित होगा।

दूसरे शब्दो मे, जैसा कि मैंने ऊपर बताया है, आज की राष्ट्रीयता किसी सीमा विशेष के सीमित दायरे मे नही बधकर अन्तर्राष्ट्रीयता का पर्याय बन गई है। सिर्फ अपने लिए नही जीना, बल्कि दूसरो के लिए सुख की कामना करना, प्रयत्नकरना, विचार से आचार मेलाना सच्ची राष्ट्रीयता हो सकती है। सत तुलसी ने ठीक ही कहा है

"परहित सरस धरम नहीं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।

परहित की इसी भावना की नीव पर स्वस्थ राष्ट्रीयता का भवन निर्मित हो सकता है।

१५-१०-५० को दिया गया प्रवचन

१३

जैन संस्कृति का संदेश

मनुष्य की एक प्रकार की विचारधारा सभी स्थितियो एव सभी कालो मे एक समान एकरूप से कारगर नही होती। समय और परिस्थिति के अनुरूप उसे भी बदलना पडता है। मानव स्वभाव से ही नयेपन का चाहक है। किन्तु विचारधारा मे युगानुरूप परिवर्तन का यह कदापि अर्थ नही कि प्राचीन युग के समस्त विचारो का परित्याग करके एक सर्वथा नवीन विचार परम्परा स्थापित की जाती हो। बल्कि होता यह है कि प्राचीन विचारो, परम्पराओ, रीतियो एव रूढियो की आत्मा को नवीन परिस्थितियो, युग की नई मांगो, नये बोधो के अनुसार नए स्वरूप का परिधान पहना दिया जाता है। बाह्यत जो आवरण होते है, उन्हे ही नवीनता का नया आवरण दिया जाता है, यही सस्कृति के सस्कार का क्रम है।

जैन सस्कृति भी जीवन की मौलिक पथदिशा, मूल सम्वेदना, यथार्थ दृष्टिकोण को लिए हुए प्राचीन जर्जर, आडम्बरग्रस्त मत-सम्प्रदाओ की प्रतिक्रिया स्वरूप नवीन स्फुरणा की सदेशदातृ सस्कृति है। जैन सस्कृति का मूल स्वर अहिसा-भावना है। अहिसा भावना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अहिसा भावना। एक छोटे कीट से लेकर भीमकाय हाथी तक। एक हीनतम मानव पर्याय से लेकर महानतम विभूतियो तक समान रूप से, जीवन का सर्वांगीण विकास अहिसा की पीठिका पर करने का, सदेश जैनधर्म का शाश्वत स्वर है।

धर्म की जीवन-निर्माणपरक भावना :

मनुष्य-जीवन का निर्माण किस प्रकार किया जाए ? हमारे भीतर

मनुष्य का सोया हुआ जो भाव है, वह किस प्रकार जागृत हो ? और हमारे अन्तरतम मे छिपी हुई अहिंसा और सत्य की दैविक शक्तियाँ किस प्रकार प्रकट हो ? इन सब तथ्यो को जान लेना जीवन-कला की आत्मा को पहचान लेना है। जैनधर्म जीवन की इसी कला का सदेश लेकर आया है। धर्म के पीछे कोई भी विशेषण क्यो न लगा हो, यदि उसके पास कोई अनूठा एव मगलमय आदर्श है, मनुष्य की सोई आत्मा को जगाने का सदेश है, अथवा द्वन्द्वभाव को दूर करके सोये हुए ईश्वरत्वभाव को जागृत कर देने की प्रेरणा है, तो मैं कहूँगा कि वह वास्तव मे धर्म है। यदि इस प्रकार की प्रेरणा यदि किसी धर्म मे नही है और वह हमारे जीवन-निर्माण के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट-सी कल्पना या विचार नही दे सकता, तो दार्शनिक क्षेत्र मे उसका स्थान कितना ही ऊँचा क्यो न रहा हो, मैं उसे जनकल्याण की दृष्टि से कतई स्वीकार नही कर सकता, उपयोगी धर्म तो मानवता की ही बाते कहेगा। जैन विचारधारा इस दिशा मे एक अलभ्य धारा है।

भारतवर्ष के इतिहास का जब अवलोकन करेगे, तो आपको सस्कृति की विभिन्न धाराएँ बहती दिखलाई देगी। स्मरण रहे, वह धाराएँ, धाराएँ है दीवारें नही। दो पडोसी जैसे आपस मे एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं, उसी प्रकार पडोसी धर्म या सस्कृतियाँ भी एक-दूसरे से प्रभावित हुए बिना नही रहती। अलबत्ता, एक की दूसरे के द्वारा रक्षा और पोषण का कार्य होना चाहिए। भारतवर्ष के मुख्य धर्म तीन थे—जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म। इन तीनो के जो भी सदेश है, वे आपको मिलते-जुलते-से मिलेगे। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होगा कि जीवन की समस्याओ को हल करने मे वे एक-दूसरे के पोषक हैं। महाकवि पुष्पदन्त ने महिम्न स्त्रोत में कहा है

"रुचीना वैचित्र्यादृजु कुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥"

भूमडल पर बहने वाली ससार की नदियो के बहाव के मार्ग अलग-अलग है और हमे अलग-अलग रूप में बहती दिखाई दे रही है, किन्तु उन सबकी विश्रान्ति कहाँ है ? सभी समुद्र की ओर बह रही है, समुद्र से भिन्न किसी अन्य स्थान की ओर नही।

इसलिए मैं कहता हूँ कि संसार के जितने भी धर्म है, वे सब हमें यदि महान् शक्ति की ओर ले जा रहे है और जीवन के ईश्वरीय भाव की ओर ले जा रहे हैं, तो वे हमारे आदर की वस्तु है। यदि वे हमें महाशक्ति की ओर नही ले जा रहे है, बल्कि किसी विपरीत दिशा मे भटका रहे है और जीवन को महत्त्वपूर्ण संदेश नही दे रहे है, तो हमे अपनी जीवन की दिशा बदल लेनी होगी।

'जैन' शब्द से अभिप्राय :

जैनसंस्कृति क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पाने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'जैन' शब्द कैसे बना है? 'जैन' शब्द लिखने के लिए 'जन' शब्द मे दो मात्राएँ लगा देनी होती है। इन मात्राओ का अभिप्राय क्या है? अपनी वासनाओ और विकारो को जीतना और पशुत्वभाव एवं राक्षसी भाव को कुचल-कुचल कर बाहर निकाल देना तथा अपनी आत्मा पर अधिकार रखना। प्राय. हम देखते है कि मनुष्य का अपनी आत्मा पर अधिकार नही रहता। जब मनुष्य की आत्मा पर अपना अधिकार नही रहती, उस पर इन्द्रियो का नियन्त्रण हो जाता है, मनुष्य अपनी बाते भूल जाता है और विकारो की ओर झुकने लगता है। वह इन्द्रियो का आदेश सुनने लगता है और आत्मा की आवाज अनसुनी कर देता है। ऐसी स्थिति मे आस-पास का भोग-विलासमय वातावरण मनुष्य को जकड लेता है। फल यह होता है कि आत्मा की शक्तियाँ दबती चली जाती हैं। और भोग-विलास के वातावरण का स्वर जीवन मे प्रधान बनता जाता है। अतएव जैनधर्म प्रधानतया एक ही बात सिखलाता है कि तुम अपने शरीर, मन, परिवार या राष्ट्र मे, जहाँ कही भी वासना है, विकार है, बुराइयाँ हैं, उनसे लडो और डट कर उनका मुकाबिला करो। जिसने सम्पूर्ण विकारो पर विजय प्राप्त कर ली, वह 'जिन' है, विजेता है। जो राग-द्वेष आदि आन्तरिक रिपुओ को पूरी तरह पछाड चुका है, वह 'जिन' है और उसके मार्ग पर चलने वाले 'जैन' कहलाते है।

इस प्रकार जब 'जन' के विचार और आचार पवित्र बन जाते हैं, अर्थात् उसके जीवन मे विचार और आचार की दो मात्राएँ बढ जाती हैं, तब वह 'जन' से जैन बनना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार पवित्र विचार और प्रशस्त आचार जैनत्व के प्रतीक हैं।

अनेकांत और अहिंसा :

जैनसंस्कृति की महत्त्वपूर्ण भावनाएँ दो रूप में जनता के सामने आई है, (१) अनेकान्तवाद के रूप में और २ अहिंसावाद के रूप में। अहिंसावाद को आप जल्दी समझ लेते है, किन्तु अनेकान्तवाद को समझने मे कुछ देर लगती है। जो लोग अपने आपको जन्मजात जैन मानते हैं, उनका भी इस युग में, अनेकान्त के सम्बन्ध मे कोई खास चिंतन-मनन नही हो सका है। लेकिन अनेकान्त को समझ लेना आवश्यक है। अनेकान्त को भली-भाँति समझे और व्यवहार मे लाये बिना अहिंसा भी अधूरी ही रहेगी।

अहिंसा के दो रूप :

थोडे शब्दो मे कहा जा सकता है, कि अहिंसा के दो रूप है (१) विचारो की अहिंसा और (२) आचार की अहिंसा, और इन दोनो का मिला हुआ रूप ही अहिंसावाद है। हमारे मन मे जब तक विचार और आचार के बीच एक गहरे सामजस्य की प्रेरणा न होगी और मन मे समता का भाव उदित नही होगा, आचार की अहिंसा हमे महत्त्वपूर्ण सदेश नही दे सकती। पहले, विचारो का क्षेत्र साफ होना चाहिए। उसके बाद ही आचार का क्षेत्र साफ हो सकता है। कोई मनुष्य अपने विचारो का विश्लेषण न करे, उलझी हुई गुत्थियो को सुलझाने की कोशिश न करे और विचारो मे दुनिया भर का कूडा-कर्कट भर रक्खे, और फिर वह जीवन-व्यवहार मे अहिंसा को लेकर चले, तो वह अहिंसा क्या रूप ग्रहण करेगी? निस्सन्देह उसका रूप शुद्ध और परिपूर्ण नही होगा। मैं जिस अनेकान्तवाद के सम्बन्ध मे कह रहा हूँ, वह विचारो की अहिंसा है और आचरण की अहिंसा से पहले विचार क्षेत्र मे उसका आ जाना अत्यावश्यक है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर उस युग मे जब आए, तो एक ओर मनुष्य अपने स्वार्थो के लिए, अपनी वासनाओ के लिए, सघर्ष कर रहा था, दुनिया में तलवारें चमक रही थी, जनता का सहार हो रहा था और दूसरी ओर धर्म मे भी आपस मे संघर्ष चल रहे थे। जो धर्म ससार की आग बुझाने के लिए चले थे, वह पानी के बदले स्वय ही आग उगल रहे थे। जो जनता का सताप मिटाने आए थे, वे उलटा संताप बढा रहे थे और जो सघर्ष दूर

करने का दम भर कर आये थे, वे स्वयं संघर्ष मे उलझ गये थे। वे एक-दूसरे को समझाने मे दुर्बल साबित हो रहे थे। इस प्रकार भगवान् महावीर के सामने दोहरा कर्त्तव्य उपस्थित था। उन्हे रोगी और वैद्य दोनो की बीमारी दूर करनी थी। अर्थात् जनसमाज के साथ ही साथ धर्मों को भी स्वास्थ्य प्रदान करना था। भगवान् ने उस बीमारी का निदान समझ कर यह कहा 'अनेकान्त ही सब बीमारियो की अमोघ औषधि है। जब तक उसे नही समझोगे, ससार को कोई भी हितकर सदेश नही दे सकोगे। अनेकान्तवाद का आश्रय लिए बिना ससार कभी भी शान्ति नही पा सकता और कोई भी धर्म उसे शान्ति नही दे सकता।

अनेकान्तवाद एवं एकान्तवाद

अनेकान्तवाद की प्रतिकूल भावना एकान्तवाद है। अपने सोचे और समझे हुए किसी विचार के प्रति आग्रहशील होना, यह मानना कि मेरा विचार ही सत्य है, और ससार के समस्त विचार असत्य और तुच्छ हैं, एकान्तवाद का धारणा है। जब कोई भी धर्म इस प्रकार एकनिष्ठ आग्रहशील हो जाता है और अपने आपमे पूर्णता का दावा करता है, तो अहंकार की आग सुलगने लगती है। वह आग अपने तक ही सीमित नही रहती। जहाँ कही उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी मिला कि वह लडने-मरने को तैयार हो गया। इससे सघर्ष का जन्म होता है। इसी सघर्ष का उग्र रूप हमे वर्तमान मे देखने को मिल रहा है, जिसकी बदौलत आज हजारो-लाखो हिन्दू और मुसलमान मुसीबतो के पहाड अपने सिरो पर उठाये चल रहे हैं। एकान्तवादजन्य असहिष्णुता की एकागी विचारधारा ने ऐसे गहरे घाव किए है, जो लाख प्रयत्न करने पर भी नही भर पा रहे है और एक विकट समस्या राष्ट्र के सामने मुँह फैलाये खडी है।

हमने एक-दूसरे के प्रेम के भाव को, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को अपने दृष्टिकोण मे स्थान नही दिया है। भगवान् महावीर के युग मे भी इसी प्रकार के झगडे और सघर्ष थे। तब भगवान् महावीर ने लोगो को उपदेश देते हुए कहा था "मतभेद हो सकता है, यह कोई बडी बात नही है। एक का कोई एक दृष्टिकोण हो सकता है, और दूसरे का कोई दूसरा दृष्टिकोण हो सकता है। पर दृष्टिकोण की विभिन्नता को झगडे

की जड मत बनाओ। मतभेद होना और बात है, विरोध होना दूसरी बात है, और वैर होना तीसरी बात है। भाई-भाई मे भी पहनने और खाने के सम्बन्ध मे मतभेद होता है, परन्तु इसमे वैर-विरोध या लडाई-झगडे का क्या कारण है? मुझको यह चीज पसद है और उसको वह वस्तु रुचिकर है, तो यह कोई लडने की बात तो नहीं है। जैनधर्म तो कहता है कि सत्य एक अखण्ड और सर्वव्यापक है। वह असीम है। इसलिए वह साधारणतया समग्र कोण मे उपलब्ध नही होता। उसके विभिन्न कोण या खण्ड ही साधारण जनो को दिखाई देते है। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही है कि सत्य के जिस कोण-भाग को एक देखता है, दूसरा उसी कोण को न देखकर किसी दूसरे ही कोण को देखे। ऐसा होने पर उनके दृष्टिकोण एक-दूसरे से मेल नही खाएँगे, वल्कि परस्पर विरोधी भी प्रतीत होगे। परन्तु वास्तव मे वे दोनो उस असीम सत्य के ही भाग हैं, उन्हे सर्वथा मिथ्या या असत् नही कहा जा सकता। उन्हे सर्वथा मिथ्या कहना सत् के अश को मिथ्या कहने के कारण मिथ्या है। यही बात मार्ग के सम्बन्ध मे है। सत्य के मार्ग अलग-अलग है। सभव है कोई सीधा और कोई इधर-उधर घूम-घूमा कर पहुँच सके। अगर कोई मतभेद है, तो उसे प्रेम के साथ, आत्मीयता के साथ तू दूसरे के सामने रख। वह न माने तो दुवारा मिल। फिर प्रेम के साथ अपनी बात पेश कर और इस प्रकार सघर्ष भी यदि करो, तो प्रेम के साथ करो। तेरे जीवन की यही पथ-दिशा होनी चाहिए।"

मुक्ति का मार्ग :

रत्नमदिर गणि नाम के एक प्रसिद्ध जैन आचार्य हो गये है। एकबार उनसे पूछा गया कि मुक्ति कैसे मिलेगी? किस धर्म का अनु-सरण करने से मिलेगी? तब वे बोले

"नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्ष सेवा श्रमणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥"

अर्थात् न दिगम्बर बन जाने से मोक्ष मिलता है और न श्वेता-म्बर बन जाने से ही। दुनिया भर के और भी जो तत्त्ववाद हैं, उनसे भी मोक्ष नही प्राप्त हो सकता। ऐ मनुष्य! जब तेरा क्रोध, मान, माया, लोभ से छुटकारा हो जाएगा, तू वासनाओ पर विजय प्राप्त कर लेगा, उनके मैल को दूर कर देगा, जब तू अपने भीतर की पशुत्व-

भावना और आसुरी-भावना को निकाल वाहर कर देगा, जव तेरे अन्तर मे पवित्र-ईश्वरीय भावना जाग उठेगी। इस प्रकार जव तू कपाय से पूरी तरह छुटकारा पा जाएगा, तभी तुझे मोक्ष प्राप्त हो सकेगा, क्योकि कपायमुक्ति ही वस्तुत मुक्ति है।

जैनाचार्य हरिभद्र जैन-परम्परा मे एक महान् दार्शनिक आचार्य हो गये हैं। कहा जाता है, उन्होने सैकडो ही महान् ग्रन्थो का निर्माण किया है। आज दूसरे विद्वान् भी आदर और सम्मान के साथ उनका नाम स्मरण करते है। उनसे भी जव यही प्रश्न किया गया कि मुक्ति कव होगी ? तव उन्होने कहा

"सेयंवरो या आसबरो य, बुद्धो वा तह व अन्नो वा।
समभाव भाविअप्पा, लहइ मोक्ख न सदेहो॥"

अर्थात् तू श्वेताम्वर है तो क्या, और दिगम्वर है तो क्या ? मैं यह नही पूछता। तू 'शैव' धर्म को मानता है या 'वैष्णव' धर्म को मानता है या 'जैन' धर्म को मानता है, यह भी मैं नही जानना चाहता। मैं सिर्फ एक ही वात पूछता हूँ कि तेरे मन मे समभाव कितना जागा है ? तू अपने विरोधी के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखता है ? जब तू वात करता है तो स्नेह देकर स्नेह लेता है, या द्वेष देकर द्वेष लेता है ? विरोध की भावना देकर विरोध की भावना लेता है अथवा प्रेम और स्नेह के भाव लेता है और स्नेह का दान देता है ? अगर तेरे जीवन मे समभाव आ गया है, तेरे जीवन मे कपाय की कलुषता नही रह गई है, यदि तू मनुष्य की उच्चतम श्रेणी मे पहुँच चुका है, और राग-द्वेष की अग्नि को बुझा चुका है, तो समझ ले कि मोक्ष तेरे अन्दर में जागृत है। जिस मनुष्य ने सम्पूर्ण निर्विकार अवस्था प्राप्त कर ली, उसने मुक्ति प्राप्त कर ली, फिर भले ही वह किसी भी जाति का, किसी भी देश का और किसी भी वर्ग का क्यो न हो। मुक्त अवस्था प्राप्त होने पर कोई भी जाति-पाति या देश नामक विभेद नही रह जाता है। जीवन की जो अपनी पवित्रता है, वही तो मोक्ष है।

आज के परिप्रेक्ष्य मे अनेकान्तवाद :

विचार करने पर विदित होगा कि अनेकान्तवाद उस युग मे जितना आवश्यक था, उससे भी वढ कर आज आवश्यक है। आप देखते हैं कि चारो ओर धर्म के नाम पर कितने अन्याय हो रहे है ? एक, दूसरे की वात को सुनना भी पसन्द नही करता। हम गह-

राई में पैठने की कोशिश नही करते और एक-दूसरे को चिढाने की बाते ध्यान में रखते हैं। ससार मे शान्ति का पीयूष-प्रवाह वहाने का दावा करने वाले धर्म जब एकान्त के चक्कर मे पड कर घृणा और विरोध का विष फैलाने लगे तो अनेकान्त की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। और यह आवश्यकता केवल धर्म के लिए ही नही, वरन् जीवन के लिए भी है।

आप किसी दूसरे से मिले, आपस मे वात-चीत की और सघर्ष हो गया। मैं पूछता हूँ कि आखिर ऐसा क्यो हुआ? इसलिए न कि आप अपने मत के प्रति अत्यधिक आग्रहशील है। आपके दिमाग में दूसरे के मत की युक्तियुक्तता को समझने की गुँजाइश नही है। और यही हाल उस दूसरे मत वाले का है। ऐसी स्थिति मे सघर्ष के सिवाय और हो ही क्या सकता है? इसी प्रकार अगर अध्यापक, विद्यार्थी के दृष्टिकोण को और विद्यार्थी, अध्यापक के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास न करे, तो परिणाम क्या होगा? इसी नासमझी के कारण विभिन्न धर्म भारत के लिए सिर-दर्द सावित हो रहे हैं। आप विचारो के नाप के लिए एक गज रखते हैं, और केवल उसी गज से सारी दुनिया को नापते चलते हैं। दूसरा दूसरी भूमि पर वाते कर रहा है। आप उसकी वात नही समझना चाहते और वह आपकी वात नही समझना चाहता। वस, सघर्ष की सामग्री तैयार है। अनेकान्तवाद इस प्रकार के सघर्षों को पैदा नहीं होने देने का और यदि कही पैदा हो भी गये हो, तो उन्हे मिटाने का एक सवल और अहिंसात्मक तरीका है। जिसमे दुर्वलता नही दृढता है, मिथ्या के साथ सम-झौता नही, सत्य के विविध वाजुओ की सकलना की अपेक्षा है। जिसमे सकीर्णता नही, विशालता है, जिसमे अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करने की प्रवल क्षमता है।

जव विचारो मे कोमलता आयेगी, दूसरे के भावो को समझने की कोशिश की जायेगी और गहराई से तत्त्व को परखने की वृत्ति उत्पन्न हो जाएगी, तव जीवन अनेकान्त के आलोक से आलोकित होगा और विश्व की रहस्यमय शक्तियो को पूरी तरह समझने की एक अपूर्व दृष्टि उत्पन्न हो जाएगी।

जोश और होश :

मैं खास तौर से नवयुवकों से कहूँगा कि भारत का भविष्य आप लोगों से ही चमकने वाला है। अब तक जो हुआ सो हुआ, पर जो समय आने वाला है, उसके विधाता आप हैं। देश को बनाना और बिगाड़ना आपके ऊपर निर्भर है। आपके अन्दर जोश है, वीरता की भावना है। लड़ने की शक्ति है, तो हम आपकी कद्र करेंगे। किन्तु जोश के साथ होश भी आना चाहिए। इसके बिना काम नहीं चलेगा। मुझे कांग्रेस के एक अन्तरंग सज्जन ने बतलाया था कि एक-बार गांधीजी ने कहा—'तुम्हारे भीतर जोश है। तुम देश का निर्माण करोगे। इस पर बूढ़े के होश की भी तो जरूरत पड़ेगी?' अत जब जोश और होश—दोनों का सामंजस्य होता है, तभी जीवन का सही तौर पर निर्माण होता है। होश हो, पर जोश न हो, काम करने की क्षमता न हो, जीवन लड़खड़ाता हो—हँसता हुआ न हो, तो देश का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जोश तो हो मगर होश न हो, काम करने की शक्ति हो मगर उचित समझदारी न हो, तो वह कोरा जोश आपको और आपके देश को भी ले डूबेगा। जोश यदि आगे बढ़ने वाला कदम है तो होश रास्ता दिखाने वाला नेत्र है।

जोश के साथ होश किस रूप में आना चाहिए? आप अपनी और साथ ही दूसरों की भूमिका को भी समझने की कोशिश कीजिए। बच्चे की, बूढ़े की, विद्यार्थी की और अध्यापक की अलग-अलग भूमिकाएँ हैं। उन सब भूमिकाओं को मिटा कर एक मंच नहीं बनाया जा सकता। जीवन-व्यवहार में कदम-कदम पर झुक कर चलना होता है। आप दूसरों को झुकाना चाहेंगे, तो आपको भी झुकना पड़ेगा। जीवन में यह लचक आनी ही चाहिए। इसी लचक से जीवन का निर्माण होगा। जिस जीवन में लचक नहीं, वह रूढ़ हो जाएगा। पर लचकने वाला लचक कर फिर ज्यों का त्यों हो जाएगा। लचकीले जीवन में अवसर आने पर लचक आ जाती है और वह पुन स्प्रिंग की तरह अपनी सतह पर आ जाता है। अनेकान्तवाद का यही संदेश है कि इस विशाल विश्व में एकमात्र अपनी ही सत्ता सर्वोपरि न समझो। दूसरे भी प्राणी हैं, उनकी भी अपनी सत्ता है। उनके साथ समझौते की भावना रखो। देश में और जातियाँ भी हैं, उनसे भी समझौता करो।

जैन धर्म की ईश्वर-भावना :

जैनधर्म की एक और मान्यता है, जो बड़ी महत्वपूर्ण है। मैं कहता हूँ कि एक ओर मनुष्य है और दूसरी ओर ईश्वर है। कुछ लोग आक्षेप करते हैं—जैनधर्म ईश्वर को नही मानता। वह नास्तिक है और उसके पास जगत् को कुछ भी देने को नही है। किन्तु इस प्रकार का कथन पारस्परिक घृणा का ही परिणाम है। जैनधर्म ईश्वर की सत्ता से इनकार नही करता। तब प्रश्न होता है कि मनुष्य और ईश्वर मे क्या सम्बन्ध है? हम ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके किस प्रकार अपने जीवन का निर्माण कर सकते है? यह एक दार्शनिक प्रश्न है जो बड़ा महत्व पूर्ण है। इस प्रकार ठीक तरह से विचार किया जाना चाहिए।

मैंने सांख्य और वेदान्त के बड़े-बड़े आचार्यो की रचनाएँ पढी हैं। उन सब पर विचार करने से मालूम होता जाता है कि भारत मे एक परम्परा ऐसी रही है, जिसने ईश्वर सम्बन्धी बातो को गहरे विचार के साथ साफ करने का प्रयत्न किया है।

एक ओर मनुष्य का अपना व्यक्तित्व है और दूसरी ओर ईश्वर का व्यक्तित्व है। किंतु मनुष्य अपने व्यक्तित्व की ऊँचाई को ईश्वर के चरणो का दास बना देता है और जब अपनी बात आती है तो वह भूल जाता है कि उसको भी अपने जीवन का निर्माण करना है और एक के बाद एक ऊँचाई तय करनी है। जो जाति या समाज मानव को मिला है, उसे उसका ईश्वर बनना है और अपनी समस्याओ को हल करके आगे बढना है। वह अपने प्रचण्ड सामर्थ्य को, तेजोमय व्यक्तित्व को और असीम क्षमताओ को भूल जाता है, और वह एक प्रकार की हीन भावनाओ से दब जाता है। वह सोचने लगता है कि "आखिर होगा तो वही न जो ईश्वर ने तय कर रक्खा है। हमारे लाख करने से भी क्या कुछ होने को है?" इस प्रकार की हीन भावना जीवन को स्फूर्ति-हीन और निर्माल्य बना देती है। अतएव भारत के प्रमुख दार्शनिको ने आत्मा मे ही परमात्मा की ज्योति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। उन्होने कहा 'मनुष्य, तू अपने क्षेत्र मे महान् है। तेरे भीतर ईश्वर की ज्योति विद्यमान है, जो दबी हुई तो है, किंतु है और जाग सकती है।' मेरे विचार से, मानव-जीवन के लिए यह एक महानतम संदेश और उद्बोधन है। जिन दार्शनिको ने इस प्रकार का महत्वपूर्ण संदेश दिया,

वह जैन दार्शनिक थे। कुछ लोग समझते है कि जैनधर्म ईश्वर को नही मानता, किन्तु बात ऐसी नही है। वह तो प्रत्येक आत्मा से परमात्मा बनने की बात कहता है। वह कभी यह नही कहता कि मनुष्य, ईश्वर नही बन सकता। जैनधर्म घोषणा करता है कि प्रत्येक प्राणी अनन्त प्रकाश का पुंज है। उस प्रकाश पर छाए हुए धुंधलेपन को हटाओ, सोए हुए ईश्वर-भाव को जगाओ और उसी प्रकाश की ओर अग्रसर होते चलो। भगवान् महावीर ने इसे स्पष्ट शब्दो मे कहा 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है।

जब आकाश मे बादल छा जाते हैं तो सूर्य का प्रकाश धुंधला हो जाता है। ठीक है, यहाँ तो धुंधला पड जाता है किंतु बादलो के ऊपर क्या है? वहाँ अपने असली रूप मे ही चमकता रहता है। इस प्रकार सूर्य के प्रकाश को आवृत करने का जो काम बादलो का है, वही काम हमारी आत्मा के सम्बन्ध मे अहकार और वासना आदि विकारो का है। इन विकारो ने हमारी आत्मा की ज्योति को धुंधला कर दिया है। अब यह काम हमारा है कि आत्मा के बादलो को, विकारो को दूर कर दें, जीवन को बन्धन मुक्त कर लें। विकारो के दूर होने पर और जीवन के स्वच्छ बनने पर, ईश्वरीय ज्योति, जो हमारे भीतर विद्यमान है, स्वय चमक उठेगी।

मैं जो बात कह रहा हूँ किसी दूसरे दृष्टिकोण से नही कह रहा हूँ। हमारे दूसरे पडोसी धर्म वाले भी यही कहते है। आचार्य शंकर की वाणी हमने पढी है। वह भी कहते है कि "आत्मा, परब्रह्म है। संसार में ब्रह्म ही सत्य है, प्रत्येक प्राणी ईश्वर का रूप है।" कोई भी तत्त्वचिन्तक जब गहराई में उतर कर विचार करेगा, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा। संत तुलसीदासजी, जब देवताओ को नमस्कार करने लगे, तो प्रत्येक को नमस्कार करते-करते अन्त मे उन्होने एक ही बात कही

"सिया-राममय सब जग जानी।
करऊँ प्रणाम जोरि जुग पाणी॥"

रामचरित मानस

अर्थात् संसार मे जितने भी प्राणी है, उन सब को मैं सीता और राम के रूप मे देखता हूँ। सभी प्राणी सीता राम स्वरूप है और मैं इन सब आत्माओ को दोनो हाथ जोड कर नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार प्रत्येक आत्मा को निसर्गत परमात्मस्वरूप मानने की, जैनसंस्कृति की जो धारा है, उसी धारा मे दूसरे सन्तो की विचारधारा भी आ मिलती है। संत कवीर ने कहा है

"घट घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।
वा घट की वलिहारियां, ज घट परगट होय।"

घट-घट मे प्रभु का वास है। हर हृदय मे उस प्रभु की सेज बिछी है। कोई हृदय प्रभु से सूना नही है। पर, उस हृदय की वलिहारी है, जिसमे वह ज्योति प्रकट हो जाती है।

संक्षेप मे मेरा आशय यह है कि जैनधर्म ईश्वरवादी धर्म है, और आत्मा को परमात्मा बनाने का उसका महान् संदेश है। कोई मनुष्य कितना ही पिछडा क्यो न हो, कितना ही दुराचारी क्यो न हो, यदि वह अपने आप को जगाए, तो उसमे भी ईश्वरीय ज्योति प्रकट हो सकती है और वह ईश्वर बन सकता है। मनुष्य के लिए यह संदेश कितना महत्त्वपूर्ण है? इसमे प्रेरणा है, स्फूर्ति है, सान्त्वना है और है शाश्वत सच्चाई की तलखती शिखाएँ।

जैन धर्म की पौरुषेयत्व भावना :

सर्वसाधारण जनता मे अकसर हम दुर्वल भावना देखते है। उनमे अपने को हीन और तुच्छ समझने का भाव मौजूद रहता है। खास तौर से भारत मे यह भावना व्यापक रूप मे पाई जाती है। कोई आपसे मिलने आया। आपने पूछा 'कहिए, क्या हाल है?' वह उत्तर देता है 'वस, कुछ न पूछिए, वुरा हाल है। जीने को जी तो रहे हैं, पर इस जीने से तो मर जाना अच्छा है।' आप कहते है 'कुछ काम कीजिए।' वह कहता है 'क्या करे? करने को कुछ है ही नही। अक्ल काम नही देती। विचार कोसो दूर भागते हैं। शरीर भी साथ नही दे रहा है। मैं तो कुछ भी करने योग्य नही रहा।' चारो ओर यही निराशा और नामर्दी की भावना काम कर रही है। विद्यार्थी जीवन की ओर दृष्टिपात करे, तो देखते हैं कि कभी-कभी विद्यार्थियो मे भी

जीवन को हीन समझने की वृत्ति आ जाती है। वे कहते हैं—'यह काम तो हम से नही हो सकेगा।' किन्तु याद रखना चाहिए कि कोई भी मनुष्य, चाहे वह छोटा हो या बडा, हीन नही है, केवल हीनता की दुर्भावना ही उसे हीन बनाती है। जो इस दुर्भावना को अपने पास नही फटकने देता, समस्त शक्तियाँ, सफलताएँ और सिद्धियाँ उसका वरण करने के लिए उत्सुक रहती है। इसी दुर्भावना ने, इसी हीनता की मनोवृत्ति ने, भारतवर्ष के अध पतन मे प्रधान भाग लिया है। भारत के पतन के मूल मे एक ही मुख्य चीज मिलती है 'यह हम से नही हो सकेगा' की जडतामयी भावना। उभरती तरुणाई के युवक से प्रश्न किया जाता है, तो वह भी यही कहता है यह हमसे हल नही होने का। इस प्रकार जो पहले से ही हल न होने की बात कहता है, वह जीवन की मोहर मे 'न' लगाता है। और इस 'न' ने ही देश को नीचे गिराया है। अतएव इस हीनता की भावना के स्थान पर 'मैं करूँगा, क्यो नही कर सकूँगा' की पुरानी प्रेरणा आनी चाहिए जो भारत से निकल गई है। जैनधर्म यही सदेश देता है कि आप अपने जीवन को कभी दीन और हीन न समझे। जब आत्मा मे परमात्मा बन जाने की शक्ति है, तो फिर कौन ऐसी शक्ति है जो आत्मा मे विद्यमान न हो ? साथ ही, जीवन में कभी कैसी भी कठिनाई क्यो न आ जाए, आप जीवन को झुकने न दे। आपकी अटलता देख कर सारी कठिनाइयाँ स्वय ही टल जाएँगी। अगर कुछ देर नही भी टलेगी, तो आप उनके साथ सघर्ष करेंगे और वह सघर्ष आपको जो नूतन शक्ति प्रदान करेगा, उसका सामना करना कठिनाइयो के लिए भी कठिन हो जाएगा। ससार भर में जो भी ईश्वरीय शक्तियाँ है, वे सब मेरे अन्दर मौजूद है, इस प्रकार की दृढ मनोभावना के साथ मनुष्य को ऊँचा ही ऊँचा चढना चाहिए और अपने मे महान् ज्योति जागृत करनी चाहिए।

एक आचार्य ने कहा है

> "निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
> लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
> न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥"

हम अपने मार्ग पर चल रहे है। जीवन की ओर बढ रहे हैं।

उस समय हमारे एक तरफ हजार-हजार निन्दा करने वाले हो तो क्या, और प्रशसा तथा गुणगान करने वाले हो तो क्या ? हमें केवल सत्य के पथ पर चलते जाना है। निन्दा और प्रशसा उस पथ के रोडे नही बन सकते। न हम फूलो से रुकेंगे, न काँटो से रुकेंगे। मनुष्य कभी फूलो से रुक जाता है और कभी शूलो से रुक जाता है। कठिनाई एव विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर घबराकर लौट पडता है। प्रशंसा के फूल मिलने पर फूल जाता है और अपने प्राप्तव्य लक्ष्य को भूल जाता है। किन्तु निन्दा और प्रशसा से जीवन की मजिल तय नही होती। संसार मे सभव है, किसी युग मे धनवान् बनना बडी बात मानी गई हो, किन्तु आज धन-वैभव मनुष्य को ऊँचा नही बनाएगा, सोने के सिहासन मनुष्य को महत्ता प्रदान नही कर सकेंगे। आज तो चरित्र से मनुष्य का मूल्य आँका जाने वाला है। जिस मनुष्य का चरित्र-निर्माण ऊँचा होगा और बुराइयो से लड कर जो उच्च श्रेणी की मनुष्यता प्राप्त कर लेगा, उसे सोने के सिहासन नही खरीद सकेंगे। दुनियाँ भर के प्रलोभन और लालच उसे नही खरीद सकेंगे। वही अपने आपको बडा बना सकेगा। लक्ष्मी है या नही, और खाने के लिए रोटी का टुकडा है या नही, इसकी चिंता नही। मृत्यु आ जाए, तो भी कोई परवाह नही, किन्तु उच्च चरित्रवान् व्यक्ति अपने पथ से कदापि विचलित नही होगा।

जैनधर्म की मृत्यु भावना :

भारत मे सबसे बडा भय माना जाता है मौत का। जब कभी महामारी, प्लेग या हैजे का प्रकोप हो जाता है, तो उस समय क्या बूढे और क्या बच्चे, सभी भाग खडे होते हैं। उस बीमारी के शिकार बने हुए लोगो की सेवा के मार्ग पर भी भय के कारण लोग नही जा सकते। मनुष्य के भीतर जो भगोडी मनोवृत्ति है, वह उसे भगाने को प्रेरित करती है। किन्तु मृत्यु के सम्बन्ध में जैनधर्म का कहना है।

'नत्थि जीवस्स नासोत्ति इइ पेहेज्ज संजए'

उत्तराध्ययन

साधक ! तू समझता है कि मैं मर जाऊँगा। पर तू कहाँ मरता है। तेरा शरीर भले अनन्त बार मरे, किन्तु शरीर के मरने पर भी तू चैतन्य तो अजर-अमर ही है। गीता में भी यही कहा है कि आत्मा

अजर और अमर है। वह न तलवार से काटी जा सकती है। न आग से जलाई जा सकती है न जल मे गलाई जा सकती है और न वायु से सुखाई जा सकती है। सतो की अमर वाणी आत्मा को अजर-अमर के रूप मे स्वीकार करती है तो, हे मनुष्य, तू यहाँ भी अमर है और आगे जहाँ भी जाएगा वहाँ भी अमर ही रहेगा। इस प्रकार जब आत्मा की अमरता - शाश्वत है, तो रोना और भागना क्यो ? जीवन मे ऊँचाई का आदर्श होना चाहिए। कितनी ही मुसीबते क्यो न आएँ, किन्तु भगवान् महावीर और पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की भाषा मे यही ध्यान रखना चाहिए कि मेरा कदापि विनाश नही हो सकता।

जीवन की समस्याएँ और वैचारिक दृष्टिकोण :

जीवन मे कई बाते गडबड पैदा करती हैं। मुझे एक वृद्ध सज्जन से मिलने का प्रसग आया। उन्होने अच्छा अध्ययन किया था। वार्त्तालाप के सिलसिले में मैंने उनसे कहा 'आपको अब किसी फर्म या कारखाने में नौकरी करके क्या करना है ? आप तो देश की नौकरी करनी चाहिए। जीवन तो कही भी और कैसे भी चल जाएगा। पेट पाल लेना ही तो कोई महत्त्वपूर्ण बात नही है।' किन्तु वे सज्जन पेट की चिंता मे इतने अधिक डूबे हुए थे कि कुछ सोच ही नही सके।

भारतवर्ष की सतान जहाँ भी खडी होगी, उसके लिए पेट की समस्या साधारण बात है। आप विद्यार्थी अभी अध्ययन कर रहे है, मनन कर रहे है। इसके बाद आप कहाँ जाएँगे और क्या करेंगे, इस सम्बन्ध मे मैं कोई भविष्यवाणी तो नही कर सकता, फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आपमे से जो भी अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण निर्माण कर सकेगा, प्रधान मन्त्री की कुर्सी और राष्ट्रपति का सिंहासन तक भी उसकी प्रतीक्षा मे रहेगा। आपके सामने काम करने के लिए विशाल क्षेत्र पडा है। कला और विज्ञान का क्षेत्र है, साहित्य और संस्कृति का क्षेत्र है, इतिहास और पुरातत्त्व का क्षेत्र है, दर्शन और आध्यात्मिक चिन्तन का क्षेत्र है। भारतवर्ष के हजारो-लाखो भौतिक साधन, प्रतीक्षा कर रहे है कि भारत के वैज्ञानिक छात्र आएँ और अनुसन्धान करे ताकि हम सोना उगल सके, भारत को समृद्ध कर सके। भारत के पुरातन स्थापत्य की एक-एक ईंट राह

देख रही है कि कोई नौजवान आए और भूले हुए इतिहास को फिर से अपने सत्प्रयत्नो एव सत्कर्त्तव्यो के द्वारा पुनः अतीत का गौरव प्रदान करे। हल्दीघाटी आदि ऐतिहासिक स्थानो का एक-एक रजकण मानो कह रहा है कि कोई नवयुवक आए और हमारा पुराना इतिहास अद्यतन छानवीन के साथ नई कलम से लिखे। क्या महावीर क्या बुद्ध, और क्या आचार्य शंकर और क्या हर धर्म का महापुरुष इन्तजार कर रहा है कि देश के मनीषी नौजवान अपनी उमडी हुई जवानी और तेजस्वी लेखिनी से हमारे सम्बन्ध मे ऐसा कुछ लिखे, ताकि हम अपने असली चमकते हुए रूप मे फिर ससार के सम्मुख आ सके। बन्धुओ! इन सब की प्रतीक्षा का आपको उत्तर देना है।

हमारे यहाँ शिक्षा का स्तर जितना चाहे ऊँचा हो, पर विचारो का स्तर ऊँचा नही है। विद्यार्थी से पूछा जाता है पढ कर क्या करोगे? वह कहता है मेट्रिक कर लिया, बी०ए० या एम० ए० कर लेंगे और फिर नौकरी कर लेंगे। व्यापारी से पूछते है लाला, क्या कर रहे हो? वह कहता है एक दुकान और एक हवेली बना लेनी है। लडका और लडकी का विवाह कर देना है। पुन प्रश्न किया जाता है फिर क्या करोगे? तब वह उत्तर देता है बस, मौज! मानो, इसके सिवाय और कुछ करना बाकी नही है।

यह स्थिति कितनी शोचनीय है? हमारे जीवन का मापक गज कितना छोटा बन गया है। हम कितनी तुच्छ विचार भूमिका पर खडे है। किसी एक ही क्षेत्र मे यह बात हो तो कुछ सतोष भी किया जाए, किन्तु यहाँ तो कुएँ में ही भाँग पडी है। छात्रो की ही क्या बात, यहाँ तो नेता कहलाने वालो के भी विचार तुच्छ एवं सकीर्ण बन गये है।

एक बी० ए० पास युवक एक दिन फिर मेरे पास आकर बोला कही नौकरी नही मिल रही है, हताश हो गया हूँ। एक नई दुनिया आ रही है। शादी हो गई है, और भाई-बहन आदि का बडा परिवार पहले से ही मौजूद है। सब जगह धक्के खा आया हूँ, किन्तु कही भी स्थान न मिला।

मैंने पूछा आखिर कही कोई जगह तो मिलती होगी?

कहने लगा यो जगह तो मिल रही है। और वह हवाई जहाज के चालक के रूप मे अच्छी भी है, किन्तु डर लगता है। क्या करूं।

मैंने कहा भले मानुस ! डर क्यो लगता है ? तुम्ही मानते हो कि तुम्हे अपना और अपने परिवार का पेट पालना है, कपडे-लत्तो की व्यवस्था करनी है। इसके लिए नौकरी करनी है। वह कहाँ करनी है, यह तुम्हारा अपना व्यक्तिगत प्रश्न है। मुझे इस सम्बन्ध मे हाँ, या ना कुछ नही कहना है। परन्तु मृत्यु से डर कर भागना तो तुम्हारे लिए ठीक नही है ! क्या घर और दफ्तर में बैठे, मृत्यु नही आएगी, इसका कुछ निश्चय है ?

आशय यह है कि हमारे देश के नवयुवको मे साहस-हीनता और भीरुता भर गई है और जब तक वह दूर नही हो जाती, उसका और देश का उत्थान नही हो सकता। जिस देश के नवयुवक साहसी है, निर्भय है, जान पर खेलने को तैयार रहते हैं, वह देश धन्य है। उस देश की ओर कोई आँख उठा कर नही देख सकता। मैं आपको परामर्श दूंगा कि आप निर्भीक बने, समाज के जीते-जागते कर्मवीर बने, उत्साह के साथ अपने कर्त्तव्य क्षेत्र में आगे बढ़े और अपने जीवन को सफल और देश को समुन्नत बनाएँ। मैं समझता हूँ, यही मानव-सस्कृति का सदेश है, यही भारतीय सस्कृति का सदेश है और यही जैन सस्कृति का भी सदेश है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे जैन सस्कृति का सदेश :

जैसा कि मैंने अपने कथन के आरम्भ में बताया है, जैनधर्म का मूल स्वर अहिसा-भावना है, इस अहिसा-भावना का वास्तविक अर्थ है, प्रेम और दया। यह मानी हुई बात है कि जब तक हम किसी प्राणी-विशेष से प्रेम नही करेगे, उस पर दया का बर्ताव भी नही कर पाएंगे। यानी जब तक हम किसी से प्रेम नही करेगे हम उसके प्रति सहानुभूति की भावना रख नही सकते। और, जब तक प्रेम नही करेगे, दया का बर्ताव नही करेगे, हम अहिसा का आचरण किस प्रकार कर पाएँगे ? अत. स्पष्ट है, अहिसा के मूल में प्रेम और दया की भावना का स्वर निनादित है।

आज के युग में महात्मा गांधी ने भी अहिसा-भावना का तात्पर्य

प्रेम और दया से ही माना था। यही कारण है कि नरसी महेता के माध्यम से उन्होंने विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम और दया के आचरण की बात कही है।

"वैष्णवजन तो तेने कहिए,
जे पीड़ पराई जाने रे।"

पराई पीड को जानने वाला ही सच्चा वैष्णवजन है इस भावना के मूल में भी वही अहिंसा की भावना का स्वर है। यही कारण है कि महात्मा गाधी ने सत्य और अहिंसा के आधार पर सत्य का आग्रह करके वडे से वडा दुष्कर कार्य भी सुगम करके दिखा दिया।

आज का युग लोकतन्त्र का युग है। कोई भी व्यक्ति अपने ऊपर किसी महाशय का शासन स्वीकार करने को तैयार नही है। तो, इसका क्या तात्पर्य है ? यही न कि प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहता है। यही समानता का स्वर लोकतन्त्रात्मक शासन-विधान का आधार है। प्रजातन्त्र का अर्थ ही है प्रजा के द्वारा प्रजा के लिए, प्रजा का शासन। तो, क्या आप यह सोच सकते है कि इस शासन की पथदिशा क्या हो सकती है ? क्या भय और आतक ? घृणा और वैर ? नही, कदापि नही। यह तो प्रेम के द्वारा ही सम्भव है। प्रेम के विना एक व्यक्ति दूसरे को न तो अपने समान समझ पाएगा और न ही उसके प्रति दया कर पाएगा। अत पर्यायक्रम से सूक्ष्म मनन करने के उपरान्त हम यही पाते है कि आज की लोकतन्त्रीय विचारधारा का भी एक-मात्र आधार अहिंसा-भावना ही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन सस्कृति का संदेश न किसी युग विशेष का सदेश है न, सम्प्रदाय विशेष का सदेश है, अपितु यह युगयुगीन सदेश है। जग-जीवन, आत्मा-परमात्मा आदि के प्रति चिरतन सार्वकालिक सदेश है। भले ही समय एवं परिस्थितियो के अनुसार इसकी वाह्यपथदिशा-धारा मे मोड आते हो, किंतु इसकी आत्मा-जलराशि मे कोई परिवर्तन नही आता। वह तो युग-युगो पिपासार्त्त प्राणियो की प्यास वुझाने वाली चिरतन धारा के समान है।

—

१४

भारतीय संस्कृति में व्रतों का योगदान

मानव-जाति के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आदिकाल के अकर्म-युग से मनुष्य ने जब कर्म-युग मे प्रवेश किया, तब उसके जीवन का लक्ष्य अपने पुरुषार्थ के आधार पर निर्धारित हुआ। जैन परम्परा और इतिहास के अनुसार उस मोड के पहले का युग, एक ऐसा युग था, जब मनुष्य अपना जीवन प्रकृति के सहारे पर चला रहा था, उसे अपने आप पर भरोसा नही था, या यो कहे कि उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नही हुआ था। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति के हाथो पूरी होती थी, भूख-प्यास की समस्या से लेकर बडी से बडी समस्याएँ प्रकृति के द्वारा हल होती थी, इसलिए वह प्रकृति की उपासना करने लगा। कल्पवृक्षो के निकट जाकर उनकी आरजू-मिन्नतें करता और उनसे प्राप्त सामग्रियो के आधार पर अपना जीवननिर्वाह करता। इस प्रकार आदियुग का मानव प्रकृति के हाथो मे खेला था। उत्तर कालीन ग्रन्थो से पता चलता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ बहुत ही कम थी। उस समय भी पति-पत्नी होते थे, पर उनमें एक-दूसरे का सहारा पाने की आकांक्षा, उत्तरदायित्व की भावना नही थी। अपनी अभिलाषाओ और अपनी आवश्यकताओ के सीमित दायरे में बँधे थे। एक प्रकार वह युग उत्तरदायित्व-हीन एव सामाजिक तथा पारिवारिक सीमाओ से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन था, कल्पवृक्षो के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओ की पूर्ति होती थी, इसलिए किसी को भी उत्पादन-श्रम एवं जिम्मेदारी की भावना से बांधा नही गया था, सभी अपने में मस्त थे, लीन थे।

व्रत और रीति-रिवाज :

पुराने युग में एक ऐसा रिवाज प्रचलित था कि विवाह समय बैल को ताजा मार कर उसके गीले खून से भरा लाल चमडा वर-वधू को ओढाया जाता था। परन्तु जैनो को यह रिवाज कब मान्य हो सकता था ? इसका अनुकरण करने से तो अहिंसा व्रत दूषित होता है। व्रतो के सामने रीति-रिवाजो का क्या मूल्य है ? तो जैन इस रिवाज के लिए क्या करे ? वैदिक परम्परा के कुछ लोग तो ऐसा किया करते थे और सम्भव है उन्होने इस चीज को धर्म का भी रूप दिया हो। परन्तु जैन लोग इस प्रथा को स्वीकार नही कर सकते थे। उन्होने इसमे सम्यक्त्व और व्रत दोनो की हानि देखी। अतएव जैन गृहस्थो और जैनाचार्यो ने उस हिंसापूर्ण परम्परा मे संशोधन कर लिया। उन्होने कहा—गीला चमडा न ओढाया जाए, उसके स्थान पर लाल कपड़ा ओढ लिया जाए, तो अति उत्तम हो। ऐसा करने से प्रचलित परम्परा का मूल्य उद्देश्य का मूल्य भी कायम रह जाएगा और सम्यक्त्व तथा व्रतो में दूषण भी न लगने पाएगा।

लाल कपडा प्रसन्नता का अनुराग का द्योतक माना जाता है। इस प्रकार जैनो ने रक्त से लथपथ चमडे के बदले लाल कपडा ओढने की जो परम्परा चलाई, वह आज भी चल रही है। आज भी विवाह आदि अवसरो पर स्त्रियाँ लाल कपडे पहनती हैं। तो जैनो ने उस दूषित परम्परा को बदलने के साथ कितनी बडी क्रान्ति की है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषय में अधिक देखना चाहे तो **'गोभिल्ल गृह्यसूत्र'** में विस्तार से देख सकते हैं।

उसी युग मे यह एक परम्परा थी। उत्सव के अवसर पर लोग मनुष्य की खोपड़ी लेकर चलते थे। परन्तु जब जैन धर्म का प्रचार बढा, तो खोपडी रखने की भद्दी परम्परा समाप्त कर दी गई। जैनधर्म ने उसके स्थान पर नारियल रखने की परम्परा प्रचलित की। इस प्रकार जैन धर्म की बदौलत खोपडी की जगह नारियल की परम्परा धीरे-धीरे सर्व मान्य हो गई। आप देखेगे कि नारियल ठीक खोपडी की शक्ल का होता है, वह मानव की सी आकृति का है। इस रूप में नारियल नर-मुण्ड का प्रतीक है। उस समय के जैनियो ने विचार किया कि खोपडी रखने से क्या लाभ ? खोपड़ी तो अपावन और अशोभन वस्तु है और

जगलीपन की निशानी है। नारियल रखने से उस परम्परा का पालन भी हो जाएगा। और जंगलीपन की निशानी भी दूर हो जाएगी।

इस प्रकार उस समय के जगली रीति रिवाजो को जैनधर्म ने दूर किया, जिसमें देवी देवताओ के आगे मनुष्य की खोपडी चढाई जाती थी। मैं समझता हूँ, जैनियो ने उन हिंसक परम्पराओ को खत्म करके और उनकी जगह नवीन अहिंसक परम्पराओ को कायम करके मानवीय वृत्ति की स्थापना की। जैनो ने नारियल के रूप में खोपडी को प्रतीक रक्खा, उसे अन्य धर्मावलम्बियो ने भी स्वीकार कर लिया और आज तक कायम है। इस प्रकार, जैनधर्म द्वारा स्थापित की हुई प्रथाओ और परम्पराओ मे सर्वत्र आप अहिंसा की ही स्फुरणा देखेंगे।

अकर्म-भूमि की उस अवस्था में मनुष्य सागरो के सागर चलता गया। मानव की पीढियाँ दर पीढियाँ वढती गई। किन्तु फिर भी उस जाति का विकास नही हुआ। उनके जीवन का क्रम विकसित नही हुआ, उनके जीवन मे संघर्ष कम थे, लालसाएँ और आकाँक्षाएँ कम थी। जीवन मे भद्रता, सरलता का वातावरण था। कषाय की प्रकृतियाँ भी मन्द थी, यद्यपि कषायभाव की यह मन्दता ज्ञानपूर्वक नही थी, उनका स्वभाव, प्रकृति ही शान्त और शीतल थी। सुखी होते हुए भी उनके जीवन मे ज्ञान एव विवेक की कमी थी, वे सिर्फ शरीर के क्षुद्र घेरे मे वन्द थे। सयम, साधना तथा आदर्श का विवेक उस जीवन मे नही था। यही कारण था कि उस काल मे एक भी आत्मा मोक्ष मे नही गई और कर्म तथा वासना के वन्धन को नही तोड सकी। उनकी दृष्टि केवल 'मैं' तक ही सीमित थी। शरीर के अन्दर मे शरीर से परे क्या है, मालूम होता है, इस सम्वन्ध में उन्होने कभी सोचा ही नही, और यदि किसी ने सोचा भी तो आगे कदम नही वढा सका। जव कभी उस भूमिका का अध्ययन करता हूँ, तो मन में ऐसा भाव आता है कि मैं उस जीवन से वचा रहूँ, जिस जीवन में ज्ञान का कोई प्रकाश न हो, सत्यता का कोई मार्ग न हो, भला उस जीवन मे मनुष्य भटकने के सिवा और क्या कर सकता है? उस जीवन मे यदि पतन नही है, तो उत्थान भी तो नही है। ऐसी निर्माल्य दशा मे, इस त्रिशकु जीवन का कोई भी महत्त्व नही है। कुछ ऐसी ही कान्ति और प्रगतिविहीन

सामान्य दशा में वह अकर्म-युग चल रहा था, उसे जैन भाषा में पौराणिक युग कहते हैं।

नवयुग का नया संदेश :

धीरे-धीरे कल्पवृक्षों का युग समाप्त हुआ। इधर प्राकृतिक उत्पादन क्षीण पड़ने लगे, उधर उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ने लगी। ऐसी परिस्थितियों में प्राय विग्रह, वैर और विरोध पैदा हो ही जाते हैं। जब कभी उत्पादन कम होता है और उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होती है, तब परस्पर संघर्षों का होना अवश्यभावी है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक तौर पर उस युग में भी यही हुआ कि पारस्परिक प्रेम एवं स्नेह टूट कर घृणा, द्वेष, कलह और द्वन्द्व बढ़ने लगे, संघर्ष की चिनगारियाँ छिटकने लग गई। समाज में सब ओर कलह, घृणा, द्वन्द्व का सर्जन होने लगा।

मानव जाति की उन संकटमयी घड़ियों में, संक्रमणशील परिस्थितियों में भगवान् ऋषभदेव ने मानवीय भावना का उद्बोधन किया। उन्होंने मनुष्य जाति को समझाया कि अब प्रकृति के भरोसे रहने से काम चलने का नही है। हमारे हाथों का उपयोग सिर्फ खाने के लिए ही नही, प्रत्युत कमाने, उपार्जन करने के लिए भी होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि युग बदल गया है, वह अकर्म-युग का मानव अब कर्म-युग (पुरुषार्थ के युग) में प्रविष्ट हो रहा है। इतने दिन पुरुष सिर्फ भोक्ता बना हुआ था। प्रकृति के कर्तृत्व पर उसका जीवन टिका हुआ था। किन्तु अब यह वैषम्य चलने का नही है। अब कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही पुरुष में है। पुरुष ही कर्त्ता है और पुरुष ही भोक्ता है। तुम्हारी भुजाओं में बल है, तुम पुरुषार्थ से आनन्द का उपभोग करो। भगवान् आदिनाथ के कर्म-युग का यह उद्घोष अब भी वैदिक वाङ्मय में प्रतिध्वनित होता दिखाई पड़ता है

"अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तर :
कृत मे दक्षिण हस्ते जयो मे सव्ये आहितः ॥"

मेरा हाथ ही भगवान् है, भगवान् से भी बढकर है। मेरे दाएँ हाथ मे कर्तृत्व है, पुरुषार्थ है, तो बाएँ हाथ मे विजय है, सफलता है।

पुरुषार्थ जागरण की उस वेला में भगवान् ऋषभदेव ने युग को नया मोड दिया। मानवजाति को, जो धीरे-धीरे अभावग्रस्त हो रही थी,

पराधीनता के फन्दे मे फँसकर तडपने लगी थी, उसे उत्पादन का मन्त्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया। और, मानव-समाज मे फिर से उल्लास एवं आनन्द बरसने लग गया। सुख-चैन की मुरली बजने लग गई।

मनुष्य के जीवन मे जब-जब ऐसी सुख की घडियाँ आती हैं, आनन्द की स्रोतस्विनी बहने लग जाती है, वह नाचने लगता है। सबके साथ बैठकर आनन्द और उत्सव मनाता है और बस वे ही घडियाँ, वे ही तिथियाँ जीवन मे व्रत का रूप ले लेती है और इतिहास की महत्त्वपूर्ण तिथियाँ बन जाती है। इस प्रकार उस नये युग का नया संदेश जन-जीवन मे नई चेतना फूँककर उल्लास का त्योहार बन गया। और वही परम्परा आज भी हमारे जीवन में आनन्द-उल्लास की घडियो को त्योहार के रूप में प्रकट करके सबको सम्यक् आनन्द का अवसर देती है।

भगवान् ऋषभदेव के द्वारा कर्म-भूमि की स्थापना के बाद मनुष्य पुरुपार्थ के युग में आया और उसने अपने उत्तरदायित्वो को समझा। परिणाम यह हुआ कि वह सुख-समृद्धि और उल्लास के झूले पर झूलने लगा, और जब सुख-समृद्धि एव उल्लास आया, तो फिर व्रतो मे से व्रत निकलने लगे। हर घर, हर परिवार त्योहार मनाने लगा और फिर सामाजिक जीवन मे पर्वो, त्योहारो की लडियाँ बन गई। समाज और राष्ट्र में त्योहारो की शृ खला बनी। जीवन का क्रम, जो अबतक व्यक्तिवादी दृष्टि पर घूम रहा था, अब व्यष्टि से समष्टि की ओर घूमा। व्यक्ति ने सामूहिक रूप धारण किया और एक की खुशी, एक का आनन्द, समाज की खुशी और समाज का आनन्द बन गया। इस प्रकार समाजिक भावना की भूमिका पर चले हुए व्रत, सामाजिक चेतना के अग्रदूत सिद्ध हुए। नई स्फूर्ति, नया आनन्द और नया जीवन समाज की नसो मे दौडने लगा।

प्राचीन जैन, बौद्ध एव वैदिक ग्रन्थो के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय में पर्व, त्योहार जीवन के आवश्यक अग बन गए थे। एक भी दिन ऐसा नही जाता था, जबकि समाज में पर्व-त्योहार व उत्सव का कोई आयोजन नही हो। इतना ही नही, बल्कि एक-एक दिन और तिथियो में दस-दस और उससे भी अधिक पर्वो का सिलसिला चलता

रहता था। सामाजिक जीवन मे बच्चो के पर्व अलग, युवको तथा औरतो के पर्व अलग और वृद्धो के पर्व अलग। इस दृष्टि से भारत का जन-जीवन नित्यप्रति बहुत ही उल्लसित और आनन्दित रहा करता था।

व्रतो का सन्देश :

हमारे व्रतो की वह लडी, कुछ छिन्न-भिन्न हुई परम्परा के रूप मे आज भी हमे महान् अतीत की याद दिलाती है। हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, इसमे कोई सदेह नही। किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है, यह थोडा विचारणीय है। इन व्रतो के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नही है, बल्कि उसके प्रकाश मे वर्तमान को देखना भी आवश्यक है। अतीत का वह गौरव, जहाँ एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहाँ दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी संदेश देता है। इसलिए व्रतो की खुशी के साथ-साथ हमे अपने नव-जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए।

जीने की कला :

यद्यपि जैन धर्म की परम्परा निवृत्ति-मूलक रही है, उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग नही, त्याग है, बन्धन नही, मोक्ष है, तथापि इसका यह अर्थ नही कि वह सिर्फ परलोक की ही बात करता है। इस जीवन से उसने आँखे मूँद ली है। हम इस ससार मे रहते हैं, तो हमें ससार के ढग से ही जीना होगा, हमे जीने की कला सीखनी होगी। जब तक जीने की कला नही आती है, तबतक जीना वास्तव में आनन्द-दायक नही होता। जैन परम्परा, जैन पर्व, एव जैन विचार हमे जीने की कला सिखाते है, हमारे जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने का मन्त्र देते हैं। जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए। वह यह नही कहता कि व्यक्ति मुक्ति के लिए परिवार व समाज के सम्बन्धो को तोड डाले, कोई किसी को अपना न माने, कोई पुत्र अपने पिता को पिता न माने, पति-पत्नी परस्पर कुछ भी स्नेह का नाता न रखें, बहन-भाई आपस में एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर चले। जीवन की यात्रा में चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने

उत्तरदायित्वो का भार उतार फेके। इस प्रकार तो जीवन में एक भयंकर तूफान आ जाएगा, भारी अव्यवस्था और अशान्ति बढ जाएगी, मुक्ति की अपेक्षा स्वर्ग से भी गिरकर नरक मे चले जाएँगे। जैन धर्म का सदेश है कि हम जहाँ भी रहे, अपने स्वरूप को समझकर रहे, शारीरिक, पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो के बीच वँधे हुये भी उनमें कैद न हो। परस्पर एक-दूसरे की आत्मा को समझकर चलें, शारीरिक सम्बन्ध को महत्त्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखे। जीवन मे सब कुछ करना पडता है, किन्तु आसक्त होकर नही, अपितु सिर्फ एक कर्त्तव्य के नाते किया जाए। शरीर व इन्द्रियो के बीच मे रहकर भी उनके दास नही, अपितु स्वामी बनकर रहे। भोग मे रहते हुए भी योग को न भूल जाएँ। महलो मे रहकर भी उनके दास बनकर नही, किन्तु उन्हे अपना दास बनाकर रखे। ऊँचे सिंहासन पर, या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर भी उसके गुलाम न बनें, बल्कि उसे अपना गुलाम बनाए रखें। जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान है। जब तक ये इन्सान के पैरो के नीचे दबे रहते है, तब तक तो ठीक है, परन्तु जब ये सर पर सवार हो जाते हैं, तो इन्सान को भी शैतान बना देते हैं।

समाज का ऋण :

जैन धर्म में भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे है, किन्तु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन मे नही फँसे। जब तक इच्छा हुई, उपभोग किया और जब चाहा तब छोडकर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य और शासन, बल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होता था। उन लोगो ने यही विचार दिया कि जब हम इस जगत् मे आये थे, तो कुछ लेकर नही आए थे, जन्म के समय तो मक्खी-मच्छर तक को भी शरीर से दूर हटाने की शक्ति नही थी। शास्त्रो में उस स्थिति को 'उत्तानशायी' कहा गया है। जब उसमे करवट बदलने की भी क्षमता नही थी, इतना अशक्त और असहाय प्राणी बाद मे इतना शक्तिशाली कैसे बना? इसका आधार भी कुछ है, और वह है अपने शुभ कर्मो का सचय एव उसके आधार पर प्राप्त होने वाला माता, पिता, परिवार व समाज का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग!

यह निश्चित है कि जिन पुरुषार्थों ने हमे समाज की इतनी ऊँचाइयो पर लाकर खडा किया है, उनके प्रति हमारा बहुत बडा उत्तर-

दायित्व है। समाज का ऋण प्रत्येक मनुष्य के सिर पर है, जिसे वह लेते समय हर्ष के साथ लेता है। फिर उसको चुकाते समय वह कुल-बुलाता क्यो है? हमारी यह सब सम्पत्ति, सब ऐश्वर्य और ये सब सुख-सामग्रियाँ समाज की ही देन है। यदि मनुष्य लेता ही लेता जाए, वापस दे नही, तो वह समाज के अग में विकार पैदा कर देता है। वह इस धन-ऐश्वर्य का दास बन कर क्यो रहे, उसका स्वामी बनकर क्यो न उपयोग करे। उसे दो हाथ इसीलिए मिले हैं कि एक हाथ से वह स्वय खाए और दूसरे हाथ से औरो को खिलाए। वेद का मन्त्र है

"शत हस्त समाहर, सहस्रहस्त सकिर।"

सौ हाथ से इकट्ठा करो, तो हजार हाथ से बाँटो। सग्रह करने वाला यदि विसर्जन नही करे, तो उसकी क्या दशा होती है? पेट में यदि अन्न आदि खाद्य इकट्ठे होते जाएँ, न उनका रस बने, न मल का विसर्जन हो, तो क्या आदमी जी सकता है? मनुष्य यदि समाज से कमाता है, तो समाज की भलाई के लिए देना भी आवश्यक होता है, खुद खाता है, तो दूसरो को खिलाना भी जरूरी है। हमारे अतीत-जीवन के उदाहरण बताते है कि अकेला खाने वाला राक्षस होता है और दूसरो को खिलाने वाला देवता।

एक बार की बात है कि देवताओ को भगवान् विष्णु की ओर से प्रीतभोज का आमत्रण दिया गया। सभी अतिथियो को दो पक्तियो में आमने-सामने बिठलाकर भोजन परोसा गया। और सभी से खाना शुरू करने का निवेदन किया गया। भगवान् विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची कि सभी के हाथ सीधे रह गए, किसी का मुडता तक नही था। अब समस्या हो गई कि खाएँ तो कैसे खाए? जब अच्छा भोजन परोसा हुआ सामने रखा हो, किन्तु खा न सके, तो ऐसी स्थिति मे आदमी झुँझला जाता है। कुछ अतिथि भौचक्के-से देखते रह गये कि यह क्या हुआ? आखिर बुद्धिमान देवताओ ने एक तजवीज निकाली। जब देखा कि हाथ मुडकर घूमता नही है, तो आमने-सामने वाले एक-दूसरे को खिलाने लग गए। दोनो पक्ति वालो ने परस्पर एक-दूसरे को खिला दिया और अच्छी तरह से खाना खा लिया। जिन्होने एक-दूसरे को खिलाकर पेट भर लिया, वे सभी तृप्त हो उठे, पर कुछ ऐसे थे, जो यो ही देखते ही रह गये, उन्हे एक-दूसरे को खिलाने की नही सूझी, वे भूखे पेट ही उठ खडे हुए। विष्णु ने कहा जिन्होनें एक-दूसरे को

खिलाया, वे देवता हैं और जिन्होंने किसी को नही खिलाया, सिर्फ खुद खाने की चिन्ता ही करते रहे, वे दैत्य है।

वास्तव मे यह रूपक जीवन की एक ज्वलंत समस्या का हल करता है। देवता और राक्षस के विभाजन का आधार, इसमे एक सामाजिक ऊँचाई पर खडा किया गया है। जो दूसरो को खिलाता है, वह स्वयं भी भूखा नही रहता और दूसरी बात है कि उसका आदर्श देवत्व का आदर्श है, जबकि स्वयं ही पेट भरने की चिन्ता में पडा रहने वाला, स्वयं भी भूखा ही रहता है और समाज मे उसका दानवीय रूप प्रकट होता है।

व्रतो की सार्थकता :

हमारे व्रत जीवन के इसी महान् उद्देश्य को प्रकट करते है। सामाजिक जीवन की आधार भूमि और उसके उज्ज्वल आदर्श हमारे व्रतो एव त्योहारो की परम्परा में छिपे पडे है। भारत के कुछ पर्व इस लोक के साथ परलोक के विश्वास पर भी चलते है। उनमें मानव का विराट् रूप परिलक्षित होता है। जिस प्रकार इस लोक का हमारा आदर्श है, उसी प्रकार परलोक के लिए भी होना चाहिए। वैदिक या अन्य संस्कृतियो में, मरने के पश्चात् पिण्ड-दान की प्रक्रिया की जाती है। इसका रूप जो भी कुछ हो, किन्तु भावना व आदर्श इसमे भी बडे-ऊँचे हैं। जिस प्रकार वर्तमान कालीन अपने सामाजिक सहयोगियो के प्रति अर्पण की भावना रहती है, उसी प्रकार अपने मृत पूर्वजो के प्रति भी एक श्रद्धा एवं समर्पण की भावना इसमें सन्निहित है। जैन धर्म व संस्कृति इसके धार्मिक स्वरूप में विश्वास नही रखती। उसका कहना है कि तुम पिण्ड-दान या श्राद्ध करके उन मृतात्माओ तक अपना दान नही पहुँचा सकते, और न इससे श्राद्ध आदि मनाने की ही सार्थकता सिद्ध होती है। श्राद्ध का पर्व हो, या और कोई पर्व हो, सबकी सार्थकता तो इसी में है कि जीवन के दोनो ओर-छोर पर आनन्द और उल्लास की उछाल आती रहे।

इस भावना को लेकर कि परलोक के लिए भी हमे जो कुछ सोचना है, करना है, वह इसी लोक में कर लिया जाए, हमारी जैन संस्कृति में अनेक पर्व चलते हैं। पर्युषणपर्व भी इसी भावना से सम्बद्ध है। इन पर्वो की परम्परा लोकोत्तर पर्व के नाम से चली आती है। इनका आदर्श विराट् होता है। वे लोक-परलोक दोनो को आन-

न्दित करने वाले होते हैं। उनका संदेश होता है कि तुम सिर्फ इस जीवन के भोग, विलास व आनन्द मे मस्त होकर अपने को भूलो नही, तुम्हारी दृष्टि व्यापक होनी चाहिए, आगे के लिए भी जो कुछ करना है, वह भी यही करलो। तुम्हारे दो हाथ हैं, एक हाथ मे इहलोक के आनन्द हैं, तो दूसरे हाथ मे परलोक के आनन्द रहने चाहिएँ। ऐसा न हो कि यहाँ पर सिर्फ मौज-मजा के त्योहार मनाते यो ही चले जाओ और आगे फाकाकशी करनी पडे। अपने पास जो शक्ति है, सामर्थ्य है, उसका उपयोग इस ढंग से करो कि इस जीवन के आनन्द के साथ परलोक का आनन्द भी नष्ट न हो, उसकी भी व्यवस्था तुम्हारे हाथ मे रह सके। जैन पर्वो का यही अन्तरंग है कि वे आदमी को वर्तमान मे भटकने नही देते, मस्ती मे भी उसे होश मे रखते है और बेचैनी मे भी। समय-समय पर जीवन के लक्ष्य को, जो कभी प्रमाद की आँधियो से धूमिल हो जाता है, स्पष्ट करते रहते हैं। उसको दिङ्मूढ होने से बचाते रहते हैं और प्रकाश की किरण बिखेर कर अन्धकाराछन्न जीवन को आलोकित करते रहते है।

नया साम्राज्य :

त्रिपिटक साहित्य मे एक कथानक आता है कि भारत में एक ऐसा सम्राट् था, जिसके राज्य की सीमाओ पर भयंकर जगल थे, जहाँ पर हिंस्र वन्य पशुओ की चीत्कारो और दहाडो से आस-पास के क्षेत्र आतंकित रहते थे। वहाँ एक विचित्र प्रथा यह थी कि राजाओ के शासन की अवधि पाच वर्ष की होती। शासनावधि की समाप्ति पर बडे धूमधाम और समारोह के साथ उस राजा को और उसकी रानी को राज्य की सीमा पर स्थित उस भयकर जगल में छोड दिया जाता था, जहाँ जाने पर बस मौत ही स्वागत मे खडी रहती थी।

इसी परम्परा मे एकबार एक राजा को जब गद्दी मिली, तो खूब जय-जयकार मनाये गये, बडी धूमधाम से उसका उत्सव हुआ। किन्तु राजा प्रतिदिन महल के कंगूरो पर से उस जंगल को देखता और पाँच वर्ष की अवधि के समाप्त होते ही आने वाली उस भयकर स्थिति को सोच-सोचकर काँप उठता। राजा का खाया-पीया जलकर भस्म हो जाता और वह सूख-सूख कर काँटा होने लग गया।

एक दिन कोई बूढ़ा दार्शनिक राजा के पास आया और उसने राजा की गम्भीर व्यथा का कारण पूछा। राजा ने दार्शनिक के समक्ष अपनी पीडा का भेद खोलकर रख दिया कि क्या करूँ, पाँच वर्ष बाद मुझे और मेरी रानी को उस सामने के जंगल में जंगली जानवरों का भक्ष्य बन जाना पडेगा। बस यही चिन्ता मुझे खाए जा रही है।'

दार्शनिक ने राजा से कहा—पाँच वर्ष तक तो तेरा अखण्ड साम्राज्य है न ? तू जैसा चाहे वैसा कर तो सकता है न ?

राजा ने कहा हाँ, इस अवधि में तो मेरा पूर्ण अधिकार है, मेरा आदेश सभी को मान्य होता है।

दार्शनिक ने बताया "तो फिर अपने अधिकार का उपयोग क्यों नही करते ? उन समस्त जंगलों को कटवा कर साफ करवा दो और वहाँ पर नया साम्राज्य स्थापित करदो, अपने लिए महल बनवा लो, जनता के रहने के लिए भी आवास बनवाकर अभी से उस जंगल को शहर के रूप में आबाद करदो। यदि समय पर ऐसा कर दो तो फिर तुम्हे कोई खतरा नहीं है। क्योंकि विधान व परम्परा के अनुसार जब तुम्हे अवधि समाप्त होने पर जंगल में छोडा जाएगा तो हिंस्र पशुओं की गर्जना व आतंक की जगह तुम्हे नागरजनों का मधुर स्वागत मिलेगा, धन व ऐश्वर्य क्रीडा करता मिलेगा।" राजा को यह बात जँच गई और तत्काल आदेश देकर जंगल को साफ करवा दिया। वह स्थान सुन्दर-सुन्दर भवन, उद्यान आदि से खूब सजा दिया गया। और एक नगर का निर्माण कर दिया गया। अब राजा बहुत प्रसन्न रहने लगा, अपने उस नगर को देखता, तो पुलकित हो उठता। पाँच वर्ष की अवधि सम्पूर्ण हुई। जहाँ अन्य सम्राट् अवधि समाप्त होने पर रोते बिलखते वहाँ यह हँस रहा था। विधानानुसार पाँच वर्ष की अवधि थे, समाप्त होने पर राजा अपने ही द्वारा निर्मित उस नये साम्राज्य में, जो कभी भयंकर जंगल था, जाने लगा तो नगर के हजारों नर-नारी उसके पीछे हो गए। उस नवनिर्मित नगर के आकर्षण व सौन्दर्य के कारण लोग वहाँ जाकर बसने लगे और राजा आनन्द से रहने लगा।

यही बात जीवन की है। इस संसार से परे आगे नरक की भीषण-यातनाएँ-ज्वालाएँ हमें अभी से बेचैन कर रही है और हम सोचते है

कि आगे नरक मे यह कष्ट भोगना पडेगा। किन्तु वह नही सोचते कि उस नरक को बदलकर स्वर्ग क्यो न बना दिया जाए। यह सच है कि यहाँ से एक कोडी भी हमारे साथ नही जाएगी। किन्तु इस जीवन में रहते-रहते तो हम वहाँ का साम्राज्य बना सकते है। इस जीवन के तो हम सम्राट् हैं, शाहशाह हैं। यह ठीक है कि जीवन के साथ मौत की भयकर घाटी भी है, नरक आदि की भीषण यंत्रणाएँ भी है, जो प्राणी को उदरस्थ करने की प्रतीक्षा में रहती है, किन्तु यदि मनुष्य अपने इस जीवन की अवधि मे दान दे सके, तपस्या कर सके, त्याग, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि का पालन कर सके, साधना का जीवन बिता सके, और इस प्रकार पहले से ही आगे की तैयारियाँ करके प्रस्तुत रहे, तो इस ससार की यात्रा में, इस जीवन मे उसे हाय-हाय करने की आवश्यकता नही रहती। वह वर्तमान के साथ भविष्य को भी उज्ज्वल बना सकता है, उसके दोनो जीवन आनन्दमय हो सकते हैं।

व्रतो की फलश्रुति :

इस प्रकार जितने भी पर्व-त्योहार आते है, उनका यही सदेश है कि तुम इस जीवन मे आनन्दित रहो और अगले जीवन मे भी आनन्दित रहने की तैयारी करो। जिस प्रकार यहाँ पर त्योहारो की खुशियो में मचलते-उछलते हो, उसी प्रकार अगले जीवन मे भी उछलते रहो।

हमारे व्रत लोगो से यही कहते है कि आज तुम्हे जीवन का वह साम्राज्य प्राप्त है, जिस साम्राज्य के बल पर तुम दूसरे हजारो-हजार साम्राज्य खडे कर सकते हो। तुम अपने भाग्य के स्वय विधाता हो, अपने सम्राट् स्वय हो। तुम्हे अपनी शक्ति का ज्ञान होना चाहिए। मौत के भय से काँपते मत रहो, बल्कि ऐसी साधना करो, ऐसा प्रयत्न करो कि वे भय दूर हो जाएँ और परलोक का भयकर जगल तुम्हारे साम्राज्य का सुन्दर स्वदेश बन जाए। पर्व मनाने की यही परम्परा है, पर्युषण की यही फलश्रुति है कि जीवन के प्रति निष्ठावान बनकर जीवन को निर्मल बनाओ, इस जीवन में अगले जीवन का प्रबन्ध करो। जब तुम्हे यहाँ की अवधि समाप्त होने पर आगे की ओर प्रस्थान करना पडे, तो रोते बिलखते नही, बल्कि हँसते हुए करो। साधक इस जीवन को भी हँसते हुए जीए और अगले जीवन को चले,

तो भी हँसते हुए चले, पर्युषण का यह पर्व हम सबको अपना यही सन्देश सुना रहा है।

हमारे सभी व्रत आत्म-साधना के सुन्दर प्रयास है। अन्दर के सुप्त ईश्वरत्व को जगाने की साधना है। मानव शरीर नही है, आत्मा है, चैतन्य है, अनन्त गुणो का अखण्ड पिण्ड है। लोक-पर्व शरीर के आस-पास घूमते है, किन्तु लोकोत्तर पर्व आत्मा के मूल केन्द्र तक पहुँचते हैं। शरीर से आत्मा मे, और आत्मा मे अंतर्हित निज शुद्ध सत्तारूप परमात्मा में पहुँचने का लोकोत्तर सदेश, ये व्रत देते है। इनका सदेश है कि साधक कही भी रहे, किसी भी स्थिति में रहे, परन्तु अपने को न भूले, अपने अन्दर के शुद्ध परमात्मतत्त्व को न भूले।

श्रेष्ठव्रत : और सस्कृति :

ऊपर हमने जितना विवेचन किया है, उससे व्रतो के विभिन्न पहलुओं को समझना सहल हो गया है। अव हमारे सामने निष्कर्ष रूप मे यह सोचने के लिए प्रश्न रह गया है कि व्रतो के इन विभिन्न रूपो में कौन-सा व्रत श्रेष्ठ है तथा कौन व्रत सस्कृति को सपुष्ट करने मे समर्थ है ? गहराई से सोचने पर हम यह पाते है कि जिस प्रकार हम जिस घडे से जल पीते हैं, उसकी बाहर-भीतर दोनो तरफ की सफाई एव शुद्धि आवश्यक है, उसी प्रकार से व्रतो का वाह्याचरण एव आंतरिक शुद्धता दोनो ही अपेक्षित हैं। फिर भी यदि कोई बाह्य साज-शृगार पर ही अटका रहा जाए, तो ज्यादा सभव है, इस क्रम मे अतर की शुद्धि उपेक्षित हो जाए। अतः वाह्य साज-शृगार आदि पर विशेष वल न देकर आतरिक शुद्धता पर ही प्रधानतः ध्यान देना चाहिए। अतर का मानस-सरोवर यदि पवित्र होगा, तो वही बाह्य पक मे से भी भीतर की शुद्धता सुन्दर कमल-पुष्प के रूप में खिल पडेगी। अत व्रतो के पालन मे वाह्य आचरण पर अपेक्षाकृत अल्प ध्यान देते हुए, आतरिक शुद्धता पर ही विशेप ध्यान देना चाहिए।

एक वार महात्मा गाँधी ने व्रतो के विपय मे विवेचन करते हुए कहा था "व्रत दो प्रकार के होते है, 'काम्य' और 'नित्य'। काम्य उन्हे कहते हैं, जो किसी विशेष कामना को लेकर किए जाते हैं। और नित्य वे हैं, जिनमे कामना का समावेश नही होता, वरन् जो भक्ति

और प्रेम के कारण आध्यात्मिक प्रेरणा से किए जाते है। उक्त दोनों व्रतो मे निष्काम अथवा निःस्वार्थ व्रत का ही स्थान ऊँचा होता है।"

वस्तुत व्रतो के साथ वणिक् वृत्ति पालना व्रतो का उपहास ही है। अत सभी व्रतों के मूल में बस ये ही बाते मूलरूप से निहित हैं आचरण की स्वच्छता, आतरिक शुद्धता एव निष्काम-भावना। इन्ही तीनो का समन्वित रूप सर्वश्रेष्ठ व्रतो का नियामक होता है। इन्ही तीनो की पावन धारा के त्रिवेणी सगम पर व्यक्ति अपने लक्ष्य की अतिम परिणति पाता है, आध्यात्मिक भावना का चरम उत्कर्ष यही से उद्भूत होता है।

मानव संस्कृति का विकास इसी प्रकार के श्रेष्ठ व्रतो के पावन आधान में होता है। जहाँ आचरण की पवित्रता जीवन के स्वस्थ विकास की पथ-दिशा प्रशस्त करती है, वहाँ आतरिक शुद्धता एवं निष्काम भावना वीतरागता का पथ प्रशस्त कर मानव आत्मा को विश्वात्मा का महान् गौरव प्रदान करती है। अत स्पष्ट है, इस प्रकार के श्रेष्ठ व्रत मानव संस्कृति के गौरव रत्न है। अपने इस गौरवमय योगदान के द्वारा हमारे व्रत हमारी पुनीत सस्कृति को आरभ से पुष्ट करते आए है, और युगो-युगो सम्वर्द्धित करते रहेगे।

१५

रक्षाबन्धन

भारतवर्ष पर्वो का एक विशाल देश है। इन त्योहारो और पर्वो के साथ सहस्रो वर्षो पूर्व का हमारा इतिहास जुड़ा हुआ है। अतएव इन पर्वों मे हमारी प्राचीन साधना, संस्कृति या 'कल्चर' की झलक होती है। जिन पर्व और त्योहारो में अगर हमारी संस्कृति नही झलकती है, तो मैं समझता हूँ, उनमें भारत की आत्मा भी नही झलकेगी, वहाँ भारत का हृदय भी नही उमडेगा।

त्योहारों के रूप :

अच्छा खा-पी लेना और अच्छा पहन लेना, कोई बुरी बात नही है, यदि उसके पीछे उच्च विचार और उच्च संस्कार हो। अगर पर्वों के साथ मानव में ऊँची भावनाएँ जागृत होती है, तो उन्हे मनाने से लाभ है अन्यथा हानि है।

त्योहार के दो रूप हैं (१) बाह्य रूप और (२) आतरिक रूप। अच्छा खाना, अच्छा पीना और अच्छा पहन लेना त्योहार का शरीर है बाह्य रूप है। और त्योहार की पृष्ठभूमि मे अन्तर्निहित भावना को जीवन मे स्थान देना, उसका आन्तरिक रूप है।

प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं। एक शरीर रूप मे दिखाई देने वाला यह पिण्ड है और दूसरी सचेतन आत्मा है। शरीर का मूल्य तो है, पर आत्मा के पीछे ही। आत्मा है, तो शरीर मूल्यवान् है। आप हजार बार शरीर की देखभाल करेंगे, सुख-दुख हो जाएगा तो फिक्र करेंगे, व्यवस्था करेंगे, किन्तु जिस क्षण इस शरीर में आत्मा नही रहेगी, उस क्षण आप क्या करेंगे ? इस शरीर के साथ क्या बर्ताव

करेंगे ? फिर वह शरीर तो चाहे आचार्य का हो उपाध्याय का हो, मुनि का हो, साक्षात् तीर्थंकर का ही शरीर क्यों न हो, उसे आग की भेंट करना ही पड़ेगा।

फिर भी शरीर अपने आपमें एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। उसे यों ही धिक्कृत नहीं कर सकते और उसके विषय में अनुचित टीका-टिप्पणी करके उसके गौरव को समाप्त नहीं कर सकते। शरीर का शरीर के रूप में भले कोई महत्त्व न हो, आत्मा के अधिष्ठान के रूप में तो अवश्य उसका महत्त्व है।

क्रियाकांड की आत्मा :

यही बात प्रत्येक क्रियाकाण्ड के विषय में भी है। आप आते हैं और कपड़े उतारते हैं, आसन बिछाते हैं और मुखवस्त्रिका बांध लेते हैं। फिर सामायिक का पाठ बोलते है। यह सब क्या है ? यह सामायिक का शरीर है। इसके बाद जब आपके मन में क्षमाभाव आता है, ऊँचे संकल्प और पवित्र विचार आते हैं, रागद्वेष की स्थिति कम होती जाती है और आपका समग्र जीवन समभाव की लहरों में बहने लगता है, तो आपको सामायिक की आत्मा भी मिल जाती है। इसी को शास्त्र की भाषा में द्रव्यसामायिक और भावसामायिक कहते हैं।

तप की आत्मा :

तपस्या के सम्बन्ध में भी यही बात है। कुछ भी न खाना और किसी भी भोगोपभोग की वस्तु का उपयोग न करना, तो तपस्या का शरीर है। उसके साथ जब भूख लगे और द्वन्द्व आएँ तो आत्मशक्ति के द्वारा उन्हें हटाने की कोशिश करना और शुभ एवं पवित्र विचारों में अधिकाधिक लीन रहना, तपस्या की आत्मा है। उस समय आपको विचार आना चाहिए देखो, श्रमण भगवान् महावीर ने छह-छह महीने की तपस्या की। तपस्या के अन्तराल में कष्टों के कितने विकराल बवण्डर आये। परीषहों के कैसे-कैसे भूकम्प आये। क्या प्रभु रंचमात्र भी डिगे ? इस प्रकार की भावना यदि आपको मिल गई, तो समझ लीजिए कि आपको तपस्या की आत्मा मिल गई।

संयम की आत्मा :

हम दुनिया से अलग थोड़े ही हैं। हम भी आपकी तरह ही थे कभी, किन्तु एक दिन गुरु के चरणों में पहुँचे। कपड़े उतारे गृहस्थ के और काठ पात्र ले लिए। यह साधु बाना ले लिया। तो क्या ? यह

संयम का शरीर है। जब संयम के इस बाह्यस्वरूप शरीर में पूर्ण अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा तप, अनासक्ति और त्याग-वैराग्य की भावना-रूप प्राणो का प्रादुर्भाव होता है, तब सयम की आत्मा मिलती है। सयम की यही आत्मा तारने वाली है। सिर्फ वेष तो शरीर है, जो तारने वाला कदापि नही है। अनन्तकाल बीत चुका और इस काल में अनन्त वार भिन्न-भिन्न वेष भी धारण कर लिए, पर उन्होने एक बार भी तो नही तारा। सयम के शरीर मे रही हुई आत्मा-भावना-ही तार सकती है। और जो तिरे है, इसी की बदौलत तिरे हैं। वेष के बिना तिरा जा सकता है, परन्तु भावना के अभाव मे कोई नही तिर सकता।

जिन्दा और मुर्दा त्योहार :

त्योहार और पर्व के भी इसी प्रकार दो रूप है। चाहे वह रक्षा-बन्धन हो, दशहरा हो या दीपावली हो या और कुछ हो, प्रत्येक के साथ भारतवर्ष की पावन संस्कृति चली आ रही है। वही सस्कृति त्योहार की आत्मा है। अच्छा खाना-पीना और पहनना त्योहार का शरीर है, आत्मा नही। और मैं नही कहता कि इस शरीर को ठुकरा दो या नष्ट कर दो, बल्कि मैं यह कहता हूँ कि शरीर के साथ आत्मा को भी देखो, यदि शरीर मिला और आत्मा नही मिली, तो कुछ भी नही मिला। ऐसे त्योहारो को मुर्दा त्योहार ही कहना अच्छा रहेगा। जिस त्योहार में आत्मा नही डाली गई और हमारे जो सस्कार है वे नही डाले गये, तो उसको और क्या कहा जा सकता है ?

इस रूप में हम कह सकते है कि त्योहार दो प्रकार के हैं मुर्दा त्योहार और जिन्दा त्योहार। मुर्दा त्योहार वह है, जिसके पीछे सस्कृति की भावना नही है और ऊँचे विचार नही हैं। ऊँचे विचार का अर्थ यह विचार होना है कि आज इस त्योहार को मैं जिन उच्च विचारो के साथ मना रहा हूँ, अगले त्योहार को और कितने ऊँचे विचारो के साथ मनाऊँगा ? और उससे भी अगले त्योहार को और कितने ऊँचे विचार से मनाऊँगा ? जब यह त्योहार फिर आएगा और जीवन एक वर्ष और बीत जाएगा, तो मैं कितनी अधिक ऊँचाई पर इस त्योहार को मना सकूँगा ? इन त्योहारो के साथ निरन्तर यह भावना जागृत नही रहेगी और प्रगति नही की जाएगी, तो वह त्योहार मुर्दा होगा।

मुर्दा त्योहार मना लीजिए और हजार वार मना लीजिए, इससे क्या लाभ होने वाला है ? मुर्दा घर मे रखने लायक नही होता, मुर्दा सडने के लिए होता है, लड़ने के लिए नही होता। विचार कीजिए, एक बच्चा है और उसमें चेतना है, तो वह भी रक्षा करने के लिए हाथ-पैर हिलाता है। एक बूढा है और अशक्त है, यदि उससे और कुछ नही वन पडेगा, तो वह कोसने ही लगेगा। किन्तु मुर्दा तो कुछ भी नही कर सकता।

इसी प्रकार त्योहार मुर्दा हो जाता है, उसमे राष्ट्र को ऊँचा उठाने की योग्यता नही रहती। अतएव हमें सावधान होना चाहिए और त्योहार मे प्राणों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। त्योहार जव सप्राण वन जाएगा, तो ऐसा नही होगा कि वह आज है और कल नही है।

रक्षावधन का अर्थ :

आज का रक्षाबन्धन क्या कल का रक्षाबन्धन नही है ? क्या साल भर रक्षा वन्द रहेगी ? क्या कल तोड़ देंगे रक्षा करने की प्रतिज्ञा को ? यदि ऐसा हुआ तो रक्षाबन्धन का आना, न आने के ही समान है। आज एक दूसरे को रक्षासूत्र बाँधेगा और एक दूसरे का सहयोगी और साथी वनने की प्रतिज्ञा करेगा तथा जीवन भर का साथी वनने का संकल्प प्रकट करेगा। किन्तु क्या कलही इन सव बातो पर पानी फेर देगा ? क्या कल वह अपनी प्रतिज्ञा को भग कर देगा ?

थोडा विचार करके तो देखिए, उस राखी के पतले-से धागे का क्या मूल्य है ? वह एक झटके में टूट जाएगा। वह कव तक चलने वाला है ? वह रग-विरगा है खूबसूरत है, परन्तु उसका रग ठहरने वाला नही है। उसे फीका होना है, मिनट मिनट में फीका पडना है। जो आज है, वह कल नही रहेगा और जो कल होगा, वह परसो नही रहेगा। वह गन्दा हो जाएगा तो आप ही उसे तोड कर फेक देंगे।

तो, उस धागे का अपने आपमे क्या महत्त्व है ? वह तो एक प्रतीक है, एक स्मृति है, और एक निशानी है। किन्तु इसका अर्थ यह है कि वह भावनाओ का केन्द्र है। उसके साथ सच्चे प्रेम का गठवधन है।

असली रक्षावन्धन न तो आज टूटना चाहिए और न कल ही टूटना चाहिए। वह साल भर भी नही टूटेगा। आज जो स्नेह का वन्धन वाँधा गया है और प्रण किया गया है, वह यदि कल या परसो टूट गया,

तो वह स्नेह ही कैसा ? वह प्रण ही क्या ? मेरा अभिप्राय यह है कि रुई के धागे के साथ जो स्नेह का धागा बाँधा गया है, वह रुई के धागे के समान ही नही टूट जाना चाहिए। उस प्रतीक के द्वारा स्नेह के बन्धन को हम भीतर तक, अन्तरतम तक पहुँचा दे, और यही सोचे कि हमने जिससे रक्षा का सूत्र बन्धवाया है, उसके साथ अपने स्नेह बन्धन को जीवनपर्यन्त किस प्रकार निभाएँ ? हाथ आगे कर दिया और राखी का सूत्र बधवा लिया और दो-चार नोट या रुपये दे भी दिये, तो इतने से उसको क्या मिलने वाला है ? उसके पीछे तो हमारे मन का सिक्का होना चाहिए। प्रेम का सिक्का बाँटा जाना चाहिए। तभी रक्षाबंधन पर्व की सही कीमत अदा हो सकेगी।

आत्मरक्षा का प्रश्न :

आत्मरक्षा का प्रश्न भी विचारणीय है। मनुष्य मे दोनो प्रकार की शक्तियाँ हैं वह अपनी रक्षा भी कर सकता है और अपनी हत्या भी कर सकता है। साधारण बोलचाल की भाषा मे जिसे आत्मरक्षा और आत्महत्या कहते है, वह तो शरीर की रक्षा और हत्या है। वास्तव मे जो आत्मा की हत्या है, वह इतनी साधारण चीज बन गई है कि उसकी ओर लोगो का ध्यान ही नही जाता। शरीर की हत्या को लेकर जो हल्ला किया जाता है, उसका शतांश भी आत्महत्या के लिए नही किया जाता। यही कारण है कि लोग पल-पल पर आत्म-हत्या करते रहते है और उसमें कोई बुराई नही समझते। यह कितने परिताप का विषय है। इसीसे अन्दाज लगाया जा सकता है कि आज लोग कितने बहिर्मुख हो गए हैं। जिसके कारण शरीर का महत्त्व है, उसे कोई महत्त्व ही नही देते।

शरीर की रक्षा को हर कोई महत्त्व दे रहा है, परन्तु आत्मा की रक्षा की ओर विरले ही ध्यान देते हैं। अधिकाश लोग यही नही जानते की आत्मा की रक्षा किस प्रकार हो सकती है। सुन्दर वस्त्र धारण करने से, दुनिया भर की सम्पदा इकट्ठी कर लेने से अथवा नाना प्रकार के भोजन कर लेने मात्र से कही आत्मा की रक्षा होती है ? नही, आत्मा की रक्षा का यह मार्ग नही है।

आपको क्रोध आता है और आप बेभान हो जाते हैं। उस समय न तो आप अपने प्रति विवेकयुक्त व्यवहार करते हैं और न दूसरे के प्रति

ही आपका व्यवहार विवेकयुक्त होता है। आपका मन अपावन हो जाता है और आपका मुख, जिसमें सरस्वती का वास है, गालियों का वमन करने लगता है। इस प्रकार जब क्रोध आता है और अन्दर में आग के गोले भडक उठते है, तब एटमबम से भी ज्यादा व्यथा-जनक बन निकलते हैं। तब सोचिए तो कि उस समय आत्मा की रक्षा होती है या आत्मा की हत्या होती है? उस समय आपका ध्यान आत्मरक्षा की ओर होता है या आत्महत्या की ओर?

इसी तरह जब आपके दिमाग पर धन का, बल का, परिवार का अथवा प्रतिष्ठा का नशा छा जाता है, जब अहंकार की आग मन मे प्रज्वलित हो उठती है, तो जरा-सा भी अपमान बर्दाश्त नही होता है और आप झटपट मरने तथा मारने को तैयार हो जाते हैं। और जब, नाम का सवाल आ जाता है, तो परिवार का सम्बन्ध भी धूल मे मिल जाता है। महाभारत किसलिए हुआ था? इस नाम ने ही तो अगणित योद्धाओ के सिर कटवाये थे। अस्तु जब मन मे अभिमान की वृत्ति जागृत हो, तो साधक अपने मन से प्रश्न करे कि वह आत्मा की हत्या कर रहा है या रक्षा कर रहा है?

किसी के पास इतना ऐश्वर्य है कि वे सेठजी कहलाते हैं। लाखो-करोडो की सम्पत्ति है। सोने के महल खडे हैं। फिर भी एक के बाद एक बनवाते ही जा रहे हैं, और इच्छा है कि दुनिया की सारी जगह में मेरे ही महल खडे हो। दूसरे के पास सर्दी-गर्मी से बचने तक की जगह नही है, वे भूख से बिलबिला रहे हैं, हाहाकार मच रहा है, भूख रूपी पिशाचिनी नौनिहालो को दो-दो रुपयो में बिकवा रही है। परन्तु इस ओर सेठजी का ध्यान ही नही है। वे भरे जा रहे है अपनी तिजोरियाँ। ठीक है सेठजी, जब परलोक की यात्रा करेंगे, तो क्या उन्हे साथ ही लेते जाएँगे। आज तक तो किसी के साथ धन-सम्पदा गई नही है, किन्तु सेठजी के साथ जरूर चली जाएगी क्या। धन की बदौलत सेठजी को बडी दीर्घ दृष्टि जो प्राप्त हो गई है।

इस प्रकार की लोभवृत्ति आत्महत्या है, आत्मरक्षा नही। अभि-प्राय यह है कि आत्मरक्षा का सच्चा और सही तरीका पररक्षा है, करुणा और दया करना ही धर्म की रक्षा करना है। आप जब अपने धर्म की रक्षा करेंगे, तो आपकी भी रक्षा होगी

"धर्मो रक्षति रक्षितः।"

तो आप यदि सचमुच ही रक्षाबन्धन का व्रत मनाना चाहते हैं, तो आज इस बात पर विचार करें कि आपका अपने प्रति और दूसरो के प्रति क्या धर्म है। यदि आपने अपने प्रति धर्म का यथोचित निर्वाह कर लिया, तो दूसरो के प्रति भी आप धर्म का निर्वाह कर सकेंगे। क्योंकि यह ध्रुव सत्य है कि पररक्षा मे ही आत्मरक्षा है और पर की उपेक्षा मे ही आत्मा की उपेक्षा है।

किंतु आज तो दूसरे ही रूप मे रक्षाबन्धन मनाया जाता है। अच्छा खा लिया, अच्छा पी लिया और आभूषणों की झनकार गुजा दी। बस, रक्षाबन्धन मन गया। वास्तव मे यह रक्षाबन्धन नही। जब देश में हाहाकार हो, भुखमरी का ताण्डव नृत्य हो रहा हो, बालक, वृद्ध और अबलाएँ अकाल के गाल मे समा रही हो। भीषण स्थिति उपस्थित हो। उस समय मनुष्य अपने आपमे बँधा रह जाए, दया की भावना लेकर बाहर न निकले, पडोसियो और देशवासियो के आर्त्तनाद को न सुने और केवल स्वार्थ मे ही तत्पर रहे, तो यह जिन्दा त्योहार मनाना नही है। यह मुर्दा त्योहार मनाया जा रहा है। और इसके मनाने मे कभी भी आत्मरक्षा नही होगी, बल्कि आत्महत्या होगी, क्योंकि यहाँ धर्म की रक्षा नही की जा रही है।

दूसरो की बात जाने दीजिए। आप केवल अपने ही सम्बन्ध मे विचार कीजिए कि आपने अपने जीवन मे आत्मा की रक्षा की है या आत्मा की हत्या की है? मैं समझता हूँ जिसके अन्तःकरण में तिरने की भावना उत्पन्न हुई है, जिसने अपनी वासनाओ को कम किया है, जिसने अपनी आवश्यकताओ की उपेक्षा करके भी दूसरो की आवश्यकताओ की पूर्ति की है, दूसरो के हित के लिए अपनी बुद्धि, शक्ति और समय को अर्पण किया है, उसने अपनी आत्मरक्षा की है। और जो लक्ष्मी की पूजा करता है, धन का गुलाम बना रहा है, अपनी वासनाओ का दास हो रहा है, जिसने अपने जीवन को हीन भावो मे गुजारा है, उसने आत्मा की रक्षा नही की है। उसने आत्महत्या की है, क्योंकि उसने अपने धर्म की हत्या की है।

आप गम्भीर भाव से विचार कीजिए कि जो मनुष्य नरकगति और तिर्यञ्च में जाने के कार्य कर रहा है, मनुष्यता से हाथ धोने के

काम कर रहा है और चिन्तामणि को लुटा रहा है, जो छल-कपट, ठगी और प्रपचो पर चल रहा है, जो एक-एक पैसे के लिए अपने जीवन को और देश की इज्जत को वेचने के लिए तैयार है, वह अपनी आत्मरक्षा कर रहा है या आत्महत्या कर रहा है ?

इस आत्मा ने कितनी वार नरक-लोक की यात्रा की ! और वहाँ कैसी-कैसी दुस्सह यातनाएँ भुगती है ! अनन्त-अनन्त वार वह नरक मे गई और सागरोपमो तक रही और अकथनीय यातनाएँ भोगी । कितनी वार कीडा-मकोडा वनी है ! कितनी वार मक्खी-मच्छर के रूप मे जन्म ग्रहण कर चुकी है ! पक्षी वनकर कितनी वार आकाश मे उड चुकी है । जव कभी ऐसा हुआ, तो उसका कारण आत्मा की अवज्ञा करना ही था आत्मा की हत्या करने से ही वे भयानक स्थितियाँ प्राप्त हुई थी । आत्मदेवता का जव हम अपमान करते हैं, तो ऐसी स्थिति प्राप्त होती है । जव हम क्रोध, अभिमान छल-कपट, लोभ-लालच करते हैं, तो आत्मदेवता का अपमान होता है । आत्मदेव की अवज्ञा करना ही आत्महत्या है ।

कोई भी धर्म क्यो न हो, जिसमे पवित्रता की धारा वहती है, जो इन्सानियत का सदेश लेकर आया है, जो मारने के युद्ध गीत नही गाता वल्कि करुणा की मधुर रागिनी सुनाता है, वह कोई भी धर्म क्यो न हो, वह आत्मरक्षा का दिव्य सदेश देता है । वह इंगित करता है कि न अपनी आत्मा का अपमान करो, न दूसरे की आत्मा का अपमान करो । कोई भी धर्म ईश्वर से ऐसी प्रार्थना करने की हिम्मत नही करता कि 'प्रभु ! मुझे अच्छा खाना और अच्छा कपडा देना, ताकि मैं दूसरो की आँखो मे चुभता रहूँ । भगवन् ! मुझे ऐसी लक्ष्मी देना, जो मेरे ही काम आए और दूसरे का कभी कोई स्पर्श न रहे । मुझे इतने ऊँचे महल देना, जहाँ दीन-दुखियो का करुण चीत्कार न पहुँच सके, और दूसरा उनकी छाया मे भी न वैठ सके ।' प्रभु के चरणो मे ऐसी प्रर्थना करना आत्महत्या की प्रार्थना करना है ।

ससार में जो भी अच्छी चीजे है, वे मेरी है और मेरे लिए ही है, यह नारा रावण का और दुर्योधन का नारा रहा है । और दुनिया की अच्छी चीजे सभी लोगो की हैं, यह नारा राम का रहा है, युधिष्ठिर

का रहा है। यही आदर्श भगवान् महावीर का है। प्रभु के चरणो मे यही नारा होना चाहिए

"खुश रहना खुश रखना, जीना और जिलाना।
नाथ ! मेरे जीवन का, बस एक यही हो गाना ॥"

समभाव ही आत्मा की रक्षा का मूल :

आकाश से बिजलियाँ गिरे और चारो तरफ से आग बरसने लगे, देवता भी आकर क्यो न हमारा प्रतिरोध करे, किन्तु हम अपनी प्रतिष्ठा को भंग न होने दें। आग में खेलते हुए भी अपने चेहरे से मुस्कराहट की किरणे छिटकाते रहे। संसार की ताकत जड-वैभव को नष्ट कर सकती है, किन्तु दुनिया मे ऐसी कोई ताकत नही, जो आत्मा की ताकत को नष्ट कर सके। प्रत्येक मनुष्य में ईश्वरीय तत्त्व विद्यमान है। इस प्रकार की भावनाओ को ज्यो-ज्यो जागृत किया जाता है, त्यो-त्यो आत्मा में भागवत् अंश का विकास होता जाता है और जैसे-जैसे आत्मा को नीचे गिराया जाता है, भागवत्-अंश का ह्रास होता जाता है। तो, भागवत् चेतना या ईश्वरत्व की प्रेरणा हमारे अन्दर से प्रकाश के रूप में उद्भूत होती है।

किन्तु वह चेतना या प्रेरणा आती कब है ? जब आत्मा की हर्ष और विषाद से, राग और द्वेष से रक्षा की जाती है। अच्छा सयोग मिला, तब भी प्रसन्न और बुरा संयोग मिला, तब भी प्रसन्न, सुख मिला तो उसे जिस प्रसन्न भाव से ग्रहण किया, दुख मिला, तो उसे भी उसी भाव से ग्रहण किया। आचार्य अमितगति कहते है

"दु:खे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धे, समं मनो मे ऽस्तु सदापि नाथ ॥"

अर्थात्—"प्रभो ! मैं नही चाहता कि दु खो का वज्र कभी मेरे सिर पर न गिरे और सुख ही सुख में सारा जीवन व्यतीत हो जाए। किन्तु इतना अवश्य चाहता हूँ कि मुझे ऐसी सद्बुद्धि प्राप्त हो कि मैं सुख और दु ख को समान भाव से स्वीकार कर सकूं। सुख में जैसी प्रसन्नता होती है, दु ख में भी वैसी ही प्रसन्नता रहे, दोनो मे समभाव रहे। इसी प्रकार वैरी पर और बन्धुजन पर, संयोग के समय और वियोग के

समय, सुन्दर से सुन्दर महल में और सुनसान भयावने वन में भी मेरा समभाव स्थिर रहे। नाथ! मुझे इतनी क्षमता दो।"

इस प्रकार की समभावना जब अन्तरंग में उत्पन्न हो जाती है, तभी दिव्य चेतना का आविर्भाव होता है और तभी आत्मा की वास्तविक रूप में रक्षा होती है।

जो जरा-सा दुःख उपस्थित होने पर कातर हो जाता है, हाय-हाय करने लगता है। साहस के हथियार डाल देता है और जीवन के संघर्ष से विरत हो जाता है, वह महावीर का पुत्र कैसा? उसे महावीर का अनुयायी होने का क्या अधिकार है?

इसके लिए तो आवश्यक यह है कि मनुष्य प्रत्येक परिस्थिति में खुश रहे और दूसरे को भी खुश रक्खे। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मिला, दोनों की मुस्कराहट का लेन-देन हुआ। आप उसे देखकर हर्षित हुए और वह आपको देखकर हर्षित हुआ। और, हर्ष के साथ ही दोनों अलग-अलग हुए, तो हम समझेंगे कि दो इन्सान मिले थे। उसकी जगह यदि दो मिले और चेहरे पर सिकुड़न डाल कर मिले और रोते हुए विदा हुए, दोनों कड़वापन लेकर विदा हुए, तो क्यों न समझा जाए कि दो इन्सान नहीं, कोई और मिले थे।

जीवन का लक्ष्य क्या है? खुश रहो और खुश रहने दो। जीवन खुश रहने को है, रोने को नहीं। आँसू आएँ, तो उनके जहर को स्वयं पी जाओ और दूसरों को अमृत बाँटो। शिव ने जहर पिया और विश्व को अमृत दिया। दुनिया है भाई, दुनिया! यहाँ सब जगह फूलों की सेज नहीं है, शूलों के मार्ग पर भी चलना पड़ता है। कभी फूलों और कभी शूलों से निबटना पड़ता है। पर प्रत्येक स्थिति में तुम खुश रहो और दूसरों को खुश रक्खो। प्रसन्नता के साथ जिया रहो ऐसा मनोभाव पाने की प्रभु से प्रार्थना करो। स्वयं जिंदा रहो और दूसरों को भी जिंदा रक्खो। प्रत्येक को यह अधिकार है कि वह जिंदा रहे और प्रसन्नता के साथ जिन्दा रहे। मौत से लड़े और उसे ठुकराए। कोई कहीं भी क्यों न खड़ा हो, यदि उसका जीवन संयम, सदाचार और मैत्री का जीवन है, उसके जीवन का एक-एक क्षण त्याग और

वैराग्य की भावनाओं में गुजर रहा है, तो वह अधिक से अधिक दूसरो को जिन्दा रखता है, उन्हे सुख शान्ति देता है, तभी उसे जिंदा रहने का वास्तविक अधिकार है।

दूसरो की लाश पर जिंदा रहना, जीवन का अर्थ नही है। दूसरो के रोने पर, दूसरो की बर्बादी पर और दूसरो की पनपती हुई जिन्दगी को रौंद कर जिंदा रहना, जिंदा रहना नही है। स्वय जीवित रहना और दूसरो को जीवित रहने देना, यही नही, बल्कि दूसरो के जीवित रहने मे सहायक होना ही जीवन का वास्तविक अर्थ है।

आज के रक्षाबन्धन के अवसर पर मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ। इसमे भारतवर्ष की सस्कृति का निचोड आ गया है। जीवन मे कितने ही सघर्ष आएँ, फिर भी यदि आप खुश रहते हैं, तो आत्मा का अपमान नही होता। और जब दूसरो को खुश रक्खेंगे, यदि उन्हे जिंदा रखने का प्रयत्न करेंगे, तो दूसरो का भी अपमान नही होगा।

आत्मा का सम्मान करना ही आत्मा की रक्षा करना है और आत्मा का अपमान करना ही आत्मा की हत्या करना है। चाहे स्वय की आत्मा हो अथवा पर की। प्रत्येक को समझ लेना चाहिए कि तुम्हे किसी को भी मारने का अधिकार नही मिला है। कोई किसी के जीवन पर नहीआक्रमण कर सकता।

हाँ, मनुष्य एक बात कर सकता है। वह अपने जीवन के उपहार दूसरो को अर्पण कर सकता है और अपने शुभ सकल्प समर्पित कर सकता है। हमारे जो पवित्र विचार हैं और पवित्र भावनाएँ हैं, उन्हे हम संसार को अर्पित कर सकते हैं और ससार से ले भी सकते हैं।

रक्षा बन्धन की आत्मा :

इस प्रकार दूसरे की रक्षा करना और रक्षा करने की भावना रखना, अपनी ही रक्षा करना है। भारत ने किसी भी प्रकार के अनुचित भेदभाव का कभी भी समर्थन नही किया है। भारत की सस्कृति तो यह कहती आई है

"अय निज परो वेति, गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

जिनका हृदय क्षुद्र है, वही गिनती लगाया करते हैं कि यह मेरा है और यह पराया है। किन्तु विशाल हृदय वाले, विराट् भावना वाले, तो सारे संसार को अपना परिवार समझते है। जहाँ यह विराट् भावना होगी, वही सच्चा रक्षाबन्धन होगा। जहाँ यह भावना नहीं है, और अच्छे वस्त्र और भोजन से ही त्योहार मना लिया जाता है, वहाँ त्योहार का दिखावा मात्र है। उस त्योहार मे त्योहार की आत्मा नही है, केवल शरीर मात्र है।

जहाँ 'रक्षा' का नाम आता है, मुझे लगने लगता है कि जैनधर्म की आत्मा बोलने लग गई है। लेकिन वह बोलेगी कब ? जब हृदय मे रक्षा की सच्ची भावना होगी, उच्च विचार और उच्च चरित्र होगा। वह केवल रक्षाबन्धन के इन रग-विरगे धागो से बोलने वाली नही है। अपनी करुणा रूपी बहन की रक्षा के लिए जब आप प्राणपण से तैयार होगे, समाज और देश की रक्षा के लिए धन की आहुति देने का अवसर आने पर भी पीछे न हटेगे, तभी आप रक्षा-पर्व का सच्चा महत्त्व समझ सकेगे।

हमे एक युवक मिला। वह हिन्दू-मुस्लिम दगे के समय पश्चिमी पाकिस्तान से भाग कर आया था। वह हमे सुनाने लगा कि अमुक परिवार में इतने मारे गये और अमुक कुटुम्ब की बहनो का अपहरण कर लिया गया। मेरे घर वालो में से भी बहुत से मारे गये। अपनी माता और बहन की बेइज्जती का किस्सा कहते-कहते उसकी आँखो से आँसू टपकने लगे।

दुःख और दर्द से भरी इस घटना को सुनकर मैंने कहा तुम क्यो आये ? तुम्हारे अकेले आने का क्या अर्थ है ? गुण्डो के द्वारा भाई के सामने बहिन का शील लूटा जाए, तो उसे भाई होने का क्या अधिकार है। तुमने अपनी जिदगी बचा कर क्या कुछ अधिक पा लिया !

रक्षाबन्धन का सदेश :

वास्तव में रक्षाबन्धन व्रत का यही प्रधान और एकमात्र सदेश है। यदि तुम्हारे सामने कही भी अनीति हो रही हो, बुराई फैल रही हो, और गलती हो रही हो, तो तुम लडो, तन मे लडो, मन मे लडो किन्तु ध्यान रहे, लडाई केवल शरीर से नही, बल्कि लडाई ऊँचे चरित्र-बल की होनी चाहिए, न्याययुक्त होनी चाहिए।

जैन आगमो मे धर्मिष्ठ श्रावक चेडा और कोणिक का सग्राम प्रसिद्ध है। चेडा अपने शरणागत की रक्षा के लिए कोणिक से लडे थे। वे अन्याय का प्रतीकार करने को लडे थे। उनकी लडाई न्याय की लडाई थी। कोणिक सम्राट् होते हुए भी अनीति की राह पर था, अतः नरक का अतिथि बना और चेडा रण मे खेत होकर भी वीर गति पाया।

भूल और बुराई दूसरो की हो और उससे लडा जाए, यही पर्याप्त नही है। अपनी भूल और अपनी बुराई, जो बाहर से दिखाई नही देती, और अन्दर ही छिपी रहती है, उससे भी लडना चाहिए। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि पहले अपनी बुराई से लडना चाहिए, फिर दूसरो की बुराई से। जो अपनी भूलो और बुराइयो से नही लडता, उसे दूसरो की भूलो और बुराइयो से लडने का अधिकार प्राप्त नही होता। फिर भी यदि कोई लडता है, तो सफलता मिलने की पूरी सभावना नही है, क्योकि उसकी आत्मा अपनी ही भूलो और बुराइयो के कारण दुर्बल बनी हुई है। इसके अतिरिक्त आखिर भूल तो भूल ही है और बुराई आखिर बुराई ही है। वह अपनी हो या परायी हो, यदि उसे आप हानिकारक समझते है, तो फिर अपनी भूल और बुराई से भी क्यो जूझने ? क्या दूसरो की भूल और बुराई बुरी है और आपकी नही ? क्या दूसरो की बुराई और भूल हानिकारक है और आपकी बुराई या भूल हानिकारक नही है ? ऐसा तो कभी भी नही हो सकता। और यदि हानि की बात सोची जाए, तो आपकी भूल और बुराई ही आपके लिए अधिक हानिकर हो सकती है, दूसरे की उतनी नही। अत एव अपनी बुराइयो और भूलो से जब आप जूझ लेंगे और उन्हे दूर कर देंगे, तो आपकी आत्मा सबल और प्रभावशाली बन जाएगी और तभी आप आत्मा की रक्षा कर सकेंगे और फिर दूसरो की रक्षा करने मे भी समर्थ हो सकेंगे।

राजस्थान की रक्षाबन्धन की कहानियाँ इतिहास मे प्रसिद्ध है। जब-जब राजस्थान की बहिनो की आन का प्रश्न उपस्थित हुआ, उनकी इज्जत लुटने की नौबत आई, तब-तब वीर राजपूत भाइयो ने अपनी असहाय बहनो की रक्षा के लिए अपने प्राणो की आहुति दे डाली।

यह है सच्चा रक्षाबन्धन। इसे कहते हैं निःस्वार्थ त्याग। किसी अपरिचित बहन ने छोटे-से पुर्जे मे, राखी के नाम से सूत के कच्चे धागे

भी, संकट के समय में भेजे, तो जिसके पास वे पहुँचे, उसने जलती आग में कूदने तक की प्रतिज्ञा की है। उसके पीछे स्वार्थ का एक भी काला धब्बा नहीं था। न मृत्यु का भय था, न शोक था। मृत्यु का तो उन वीरों ने हँसते-हँसते आलिंगन किया है। वह निःस्वार्थ उत्सर्ग भारतवर्ष की पवित्रतम गौरवमयी गाथा है।

धर्मवीर विष्णुकुमार मुनि ने कितने कष्ट से धर्म की रक्षा की थी। नमूची प्रधान के द्वारा साधुओं पर किए हुए भीषण अत्याचार के सामने विष्णुकुमार मुनि ने घुटने नहीं टेक दिए, बल्कि उन्होंने अत्याचार का डट कर प्रतीकार किया और साधुओं की रक्षा की।

विष्णुकुमार मुनि ने यह एक महान् आदर्श उपस्थित किया है।

आज का दिन यह संदेश देता है कि दूसरों की रक्षा के लिए, अनीति का प्रतीकार करने के लिए हर क्षण तैयार रहो। दूसरों के प्रति स्नेहशील की प्रवृत्ति करो। आज का दिन स्नेह और आत्मीयता बढ़ाने का दिन है। यह विराट् बनने का त्योहार है। आत्मा को विराट् बनाने का त्योहार है।

७-८-५० को कविश्री जी का दिया गया प्रवचन।

१६

कृष्ण जन्माष्टमी

आज जन्माष्टमी है। जन्माष्टमी कहते ही पता चल जाता है कि आज के दिन भारतीय संस्कृति के उन्नायक श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म हुआ था। यों, जन्म का महत्व सिर्फ जन्म लेने भर से नही गाया जाता, वल्कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत किए गए कर्त्तव्यो के महान् गौरव से परिपूर्ण जीवन के कारण ही जन्म की गरिमा होती है।

वैसे अष्टमियाँ तो और भी आती है, हर महीने में दो आती ही है। उनमे भी हजारो लाखो, मनुष्यो का जन्म हुआ है। और एकम, दूज, तीज आदि कोई भी तिथि क्या ऐसी बीतती है, जिसमें कोई न कोई जन्म न लेता हो ? जन्म तो मिनट-मिनट मे होते ही रहते हैं। अज्ञात दुनिया की वात छोड दीजिए और वैज्ञानिको ने जिस दुनिया का पता लगाया है, उसी दुनिया की वात लीजिए। कहते है, जानी हुई छोटी-सी दुनिया मे प्रति मिनट साठ हजार मनुष्य जन्म लेते हैं। इस प्रकार हर मिनट एक छोटा-सा नगर भूमण्डल पर उतर आता है। एक नवीन नगर खडा हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि इस पृथ्वी पर मनुष्य जन्म लेते ही रहते हैं और मरते ही रहते हैं। किन्तु और महीनो की अष्टमियो को जन्माष्टमी नही कहते। इसका क्या कारण है ? क्यो यही अष्टमी जन्माष्टमी कहलाई ?

कारण स्पष्ट है। जन्म उसका सार्थक होता है, जो किसी महान् उद्देश्य को पूरा करता है, जो जगह खाली है, उसे भरने की कोशिश करता है और इस प्रकार भरता है कि जब वह उसे खाली करके जाता

है, तो जनता को वह खाली जगह खाली ही मालूम पड़ती है और हजारो वर्षों तक जनता महसूस करती है कि वह जगह खाली है, जो अन्य के द्वारा भरी नही गई है। उसी का जन्म सार्थक होता है।

एक महापुरुष के जन्म लेने के कारण वह अष्टमी जन्माष्टमी कहलाई। उसने जन्म लेकर एक खाली जगह को भरा और इस रूप मे भरा कि आज भी हम उसे स्मरण करते हैं। उस जगह को भरने मे उस महापुरुष को क्या-क्या प्रयत्न करने पडे, कितना पुरुषार्थ करना पडा, कहाँ-कहाँ और कितनी बार प्राणो की बाजी लगानी पडी और कहाँ-कहाँ जिंदगी की कुर्बानी करनी पडी, कितने कष्ट उठाने पडे, आज वह सब विचार नेत्रो के सामने है।

अष्टमी यो ही आती थी और चली जाती थी। उसका कोई महत्त्व नही था। किन्तु कर्मयोगी कृष्ण ने जन्म लेकर इस अष्टमी को महत्त्व प्रदान किया और इस तिथि को हमारे लिए एक महत्त्वशाली व्रत का दिन बना दिया।

तिथियाँ यो ही आती और जाती रहती है, किन्तु किसी महापुरुष का प्रसग जिससे जुड जाता है, वह अजर-अमर और स्मरणीय हो जाती है। जैसे चैत्र सुदि तेरस भूतकाल मे कितनी ही आई और चली गई किन्तु जिस तेरस को भगवान् महावीर ने जन्म लिया, वह तेरस अजर-अमर हो गई। वैशाखी पूर्णिमा क्या एक बार ही आई थी? नही, कितनी ही आई और गई, किन्तु जिस वैशाखी पूर्णिमा के दिन बुद्ध ने प्रथम बार संसार को अहिंसा और दया का सदेश दिया, वह लाखो और करोडो के लिए अमर हो गई। इसी प्रकार भाद्रपद आया और अधेरी अष्टमी भी आई और चली गई, किन्तु कृष्ण ने जन्म लेकर और उस काल के साथ अपना सम्बन्ध जोड कर, उस क्षणभंगुर काल को भी अजर-अमर बना दिया। वह इतिहास के सुनहरे पृष्ठो में इस प्रकार मे जुड गया कि हजारो वर्ष बीत जाने पर भी उसकी चमक क्षीण नही हुई।

तो, महापुरुष जिस दिन जन्म लेते हैं, उसे हम उनकी जयन्ती का दिन कहते है। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वीर-जयन्ती कहते हैं, चैत्र शुक्ला नवमी को राम-जयन्ती कहते है और इस भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को कृष्ण-जयन्ती कहते है।

कोई भी जयन्ती क्यों न हो, 'जयन्ती' के भीतर से जय का स्वर सुनाई देता है। 'जयन्ती' शब्द सुनते है, तो हृदय मे विजय की रागिनी बजने लगती है और प्रभाती भैरवी राग की झंकार उठती है।

मनुष्य मात्र विजय का अभिलाषी है। पराजय कौन चाहता है? हार किसे पसन्द है? और तो क्या बच्चे भी जब खेलकूद करते है, तो विजय के लिए छटपटाने लगते है। यद्यपि उनकी विजय विनश्वर है, किन्तु उसके लिए भी जी-जान से संघर्ष करने लगते है। घर मे या इधर-उधर बिरादरी मे किसी ने कोई बात कह दी। उसकी बात मानी जाए, तो उसकी विजय है और उस विजय के लिए वह सारी शक्ति खर्च कर देता है।

इस प्रकार संसार मे, एक कोने से दूसरे कोने तक, जितने भी प्राणी है, सब विजय की राह पर चलने की कोशिश करते हैं। परन्तु सच्ची विजय प्राप्त करने वाले विरले ही होते है। वे ही विरले पुरुष महापुरुष कहलाते है और उन्ही का जन्म दिवस 'जयन्ती' कहलाता है विजय का दिन कहलाता है।

कृष्ण हमारे सामने एक महान् विजेता के रूप मे आते हैं और जिन्दगी के हर संघर्ष मे उन्होने अपनी विजय को पराजय के रूप मे परिवर्तन नही होने दिया।

श्रीकृष्ण का जन्म इन्द्रधनुष की तरह रंग-बिरंगा विराट् जीवन है। जिस प्रकार इन्द्रधनुष का रंग-बिरंगा रूप विराट् आकाश को व्याप्त किए रहता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का जीवन भी अपने विविध मोहक रंगो से भारतीय संस्कृति के विराट् आकाश को परिव्याप्त किए हुए है।

हजारों-हजार वर्ष बीत जाने पर भी उनके जीवन की सम्मोहक रंगीनी आज भी भारतीय जनता के मन पर छाई हुई है। कवि, लेखक और कलाकार आदि के द्वारा आज भी उनकी जीवन-गाथाओ से दिव्य प्रेरणा के खिले पुष्प खिलाते हुए जन-जीवन मे सौरभ बिखेरते चले आ रहे हैं।

श्रीकृष्ण का बचपन उल्लास, स्फूर्ति एव ताजगी से लबालब भरा रहा है। उनका यौवन तेजस्वी, प्रखर तथा दिव्य कर्त्तव्य से सन्नद्ध रहा है, और उनका सध्याकाल भी बहुत गरिमामय एवं ऊर्जस्विल बन कर बीता है।

श्रीकृष्ण और गौ प्रेम :

श्रीकृष्ण के जीवन का रंगीन चित्र उपस्थित करते हुए महाकवि जयदेव ने अपने रस काव्य 'गीत गोविन्द' में गाया है

> "धीरसमीरे यमुनातीरे,
> वसति वने वनमाली।"

यमुना के शान्त और सुहावने तट पर काली, चितकबरी, श्वेत, लाल तथा बड़ी-छोटी सैकड़ों रंग-बिरंगी गायों के बीच झूम-झूमकर वंशी बजाते हुए श्रीकृष्ण गोवृन्द के साथ तन्मय हो जाते हैं। गायों और बछड़ों के प्रति उमड़ता हुआ उनके हृदय का असीम प्रेम और सद्भाव उनके निर्मल, उज्ज्वल, सहज प्रेम की एक मनोरंजक झाँकी हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

वे संसार मे आए तो सुख और दुख दोनो को लेकर आये। वे काँटो पर भी चले और फूलो पर भी चले। सोने के सिंहासन पर भी बैठे और कंकर-पत्थर वाली जमीन पर भी बैठे। उन्होने अपनी जिन्दगी सुख मे भी गुजारी और दुख मे भी गुजारी, किन्तु कभी हार नही मानी। वे जीवन भर संघर्ष करते रहे, कठिनाइयो से लडते-भिडते रहे, किन्तु निराश और हताश होना किसे कहते हैं, यह उन्होने कभी नही जाना। अपने जीवन-संग्राम मे उन्होने कभी थकावट का अनुभव नही किया। इसी कारण तो आज के दिन को हम जयन्ती अर्थात् विजय का त्योहार कहते हैं।

कृष्ण के जीवन का गोपालन के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कृष्ण का स्मरण करे और उनके आसपास खड़ी हुई गायो की कल्पना न आए, यह सम्भव नही मालूम होता। कृष्ण का नाम लेते ही जैसे वनमाला और बाँसुरी हमारी आँखो के सामने झूलने लगती है, उसी प्रकार गायें भी झूलने लगती है।

कृष्ण के जीवन का निर्माण कहाँ हुआ ? यदि वे कभी मिले और उनसे पूछो कि कहाँ पढे हैं आप ? कौन-से गुरुकुल में शिक्षा पाई है आपने ? तो क्या उत्तर मिलेगा ? एक ही उत्तर मिलेगा हमारा गुरुकुल गोकुल ही है। हमारा विद्यालय या विश्वविद्यालय गायें ही रही हैं। उन्ही की छाया में यह जीवन बना है और पला है। एक बार श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है कि मैंने अपना जीवन कहाँ गुजारा है ? सुनो।

"गावो मे पृष्ठतः सन्तु, गावो मे सन्तु चाग्रतः।
गावो मे पार्श्वतः सन्तु, गवां मध्ये वसाम्यहम्॥"

गाये मेरे पीछे हो, गाये मेरे आगे हो, गायें ही मेरे अगल-बगल मे हो, मैं तो बस गायो के बीच मे रहता हूँ।

कृष्ण के उक्त कथन में कितना अलौकिक आनन्द है। उक्त आनन्द के आगे संसार के सभी आनन्दो को निछावर किया जा सकता है।

गायो के झुण्ड के झुण्ड चल रहे हैं और आगे बढ रहे हैं, और उनके बीच मे कृष्ण जब हाथ में लकुटिया और कधे पर कम्बल लेकर चलते थे, उन्हे अपूर्व आनन्द आता था। दर्शको का चित्त भी मुग्ध हो जाता था। कवि रसखान ने मुसलमान होते हुए भी, कृष्ण भक्ति में लीन होकर व्रजभाषा मे अपने कितने सुन्दर भाव व्यक्त किये है

"या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहुँ पुर को तजि डारौं।"

कृष्ण गायो के झु ड के साथ चल रहे है। कभी आगे और कभी पीछे हो लेते हैं। कभी दाएँ और कभी बाएँ हो लेते हैं। गायो पर अपार स्नेह है, परम प्रीति है और वृन्दावन मे घूम रहे है। उन्हे वह लकुटी और कम्बली इतनी प्यारी है कि उसके बदले तीनो लोको का राज्य मिले तो उसे भी ठोकर लगा दे।

जैसे कृष्ण एक दिन अर्जुन के सारथी बने थे, उसी प्रकार वे बचपन में गायो के भी सारथी बने थे।

आजकल लोग विश्वविद्यालयो से एम० ए० आदि की पदवियो के बडे-बडे पुछल्ले लगा कर निकलते हैं, किन्तु उन्हे भी जीवन की वह कला नही सिद्ध होती, जो कृष्ण ने गायो मे रहकर सीखी थी। ऊँची-ऊँची दीवारो के घेरे मे रहकर दुनिया भर के इतिहास और भूगोल को रट लेना, किताबी शिक्षण हो सकता है, किन्तु जीवन का शिक्षण नही हो सकता।

सूरदास ने कृष्ण की बचपन में गौ-सम्बन्धी मनोवृत्ति का बडे ही मधुर शब्दो मे वर्णन किया है। आस-पास के लडके गाये चराने जाते हैं। यह देख कर कृष्ण के मन मे आता है कि मैं भी क्यो न जाऊँ? तब वे अपनी माता से कहते है

"मैया! मैं गैया चरावन जैहो।"

वृन्दावन के भांति-भांति फल, अपने कर तें खेहो ।।

जान पडता है, कृष्ण के चित्त मे एक पीडा उत्पन्न हुई थी। वे कहते है गायो को दूसरो के सरक्षण में चराने भेजती हो तो मुझे दुख होता है। जो गाये अमृत अर्पण करती हैं दूध देती है, उन्हे दूसरो के भरोसे छोड देती हो। वह दूध अपने पुरुषार्थ का नही है। आज मैं स्वय गाये चराने जाऊँगा और वृन्दावन के तरह-तरह के फल अपने ही हाथो तोड-तोड कर खाऊँगा। दूसरो के तोडे हुए और घर पर लाये हुए जो फल तुम मुझे देती हो, वे तो बासी हो जाते हैं। उनमे वह आनन्द नही है। आज मैं स्वय जाऊँगा और स्वय तोड-तोड कर फल खाऊँगा।

माता ने कहा तुम बहुत सुकुमार हो, धूप बर्दाश्त नही कर सकोगे। फिर पहले ही कुछ काले हो, धूप लगने से और भी काले पड जाओगे। और जब भूख लगेगी तो वहाँ घर कहाँ से आएगा, जो रोटी मिलेगी ?

कृष्ण कहते हैं मुझे भूख लगती ही नही। तू तो जबर्दस्ती मेरे गले में ठूसती रहती है। और तेरा मन रखने को मैं निगल जाता हूँ। मुझे भूख की और धूप की परवाह नही। मुझे जाने दो।

एक राजपुत्र स्वयं गाये चराने के लिए हठ करता है। उसे भेजा नही जाता, तो गायो के पीछे-पीछे भाग जाता है। कभी पकड कर जबर्दस्ती लौटा लिया जाता है और कभी-कभी जाने दिया जाता है। किन्तु सवाल तो यह है कि वह क्यो जबर्दस्ती तैयार हो जाता है। कारण, वह किसी काम को छोटा और किसी को बडा नही समझता। कर्त्तव्य, कर्त्तव्य है, उसमें छोटापन क्या और बडापन क्या ? सोने के सिहासन पर बैठ कर उसने यदि अपने पैर धुलवाये और पुजवाये, तो दूसरो के भी वह पैर धोने को तैयार रहे।

एक बार युधिष्ठर ने यज्ञ-उत्सव किया। उस प्रसग पर बडे-बडे अतिथि आने वाले थे। काम का बँटवारा हो रहा था। किसी ने अपने जिम्मे उतारने की व्यवस्था ली, किसी ने भोजन की, किसी ने कुछ, किसी ने कुछ। अन्त मे कृष्ण से पूछा गया आप क्या करेंगे ? कृष्ण ने कहा पहले यह तो देख लो कि कौन-सा काम शेष रह गया है ? उत्तर मिला बडे-बडे सभी काम बँट चुके है। तब कृष्ण ने कहा छोटे-बडे का प्रश्न नही है, यज्ञ में हजारो अतिथि आएँगे, और हमारे यहाँ अतिथियो के पैर धोने का रिवाज है। तो, बस मैं यही काम करूँगा। पाद-प्रक्षालन का कार्य मुझें सौंप दो।

कृष्ण ने सहज भाव से पैर धोने का काम अपने जिम्मे ले लिया। उन्होंने कभी नही देखा कि कौन काम बडा है और कौन छोटा है ? यदि कोई काम छोटा है और उसमे जीवन का रस उँडेल दिया जाए, प्रेम और स्नेह का रस डाल दिया जाए, तो वही बडा हो जाता है। और किसी ने बडा काम ले लिया, किन्तु उसमें जीवन का रस-प्रेम और स्नेह न निचोडा गया, वह सूखा ही सूख रहा, उसको रोते-रोते और कुठा मे घुलते-घुलते किया, तो वह क्षुद्र है, वह बड़ा नही है।

कृष्ण के महान् जीवन का रहस्य अपनी समस्याओं को आप ही हल करने के उनके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मे निहित है। आपने गोवर्द्धन पूजा के विषय मे सुना ही होगा। उसका प्रसंग इस प्रकार है

गोकुल मे और व्रजभूमि में इन्द्रपूजा का बहुत महत्त्व था। लोग मिल कर दूध के हजारो घडे, इन्द्र के नाम पर धरती पर यो ही उँडेल देते थे। उस समय लोगो की ऐसी मान्यता थी कि इन्द्र हमारे लिए वर्षा बरसाएगा, अन्न पैदा करेगा और बीमारी से हमारी रक्षा करेगा। यह भ्रान्ति उनके जीवन मे घुल-मिल गई थी। इन्द्र उस समय देवता का ऐसा रूप था कि उसके नाम से सब डरते थे। इस कारण अमृततुल्य दूध, जो मनुष्य जीवन के लिए परम उपयोगी है, इन्द्र के नाम पर अर्पण कर दिया जाता था, कहना चाहिए बर्बाद कर दिया जाता था।

तब कृष्ण ने कहा इन्द्र है कहाँ ? वह क्या करता है ? जिस इन्द्र की पूजा कर रहे हो, उसे कभी किसी ने देखा भी है ? क्या तुमने उसके दर्शन किये हैं ? और जब कभी बीमारी आई, तो इन्द्र रक्षा करने को आया ? वर्षा नही होती तब इन्द्र कहाँ चला जाता है ? और जब अतिवृष्टि होती है तो कभी तुम्हे बचाने आता है ? फिर क्यो उस इन्द्र के चक्कर में पडे हो, जिसे कोई जानता नही, पहचानता नही और जो हमारे काम कभी आता नही।

कृष्ण फिर कहते है असली इन्द्र तो गोवर्द्धन पर्वत है। यही पहाड अच्छा है। यह हमारी गायो को चराने के लिए घास देता है और हमारे उपयोग के लिए लकडियाँ देता है। इस पर से गुजरे हुए पानी से नदियाँ और तलाब भर जाते हैं। अतएव यही इन्द्र है। जब अतिवृष्टि होगी गाँव मे पानी भर जाएगा, तो इस पर चढ कर हम

अपनी रक्षा कर सकेंगे। यह गोवर्द्धन ही हमारा सच्चा उपकारक है, अतः इसी की हमें पूजा करनी चाहिए।

कर्मयोग का देवता :

जो लोग देवी-देवताओं की पूजा मे अपनी बहुत-सी शक्ति खर्च कर देते हैं, उनके लिए कृष्ण ने वास्तविक यथार्थवाद के रूप मे कहा है कि जीवन की समस्या तो इस पृथ्वी से ही हल होती है। आकाश से रोटियाँ नही बरसेंगी। उन्हे तो पुरुषार्थ से और पहाडो और खेतो मे से ही पैदा करना होगा। उन्होने साफ शब्दो मे कहा

"अस्ति चेदीस्वरः कश्चित्"

भागवत

श्री कृष्ण का जीवन महान् कर्मयोगी का जीवन था। उनका सम्पूर्ण जीवन कर्ममय था। जब तक जीवन मे कर्म के प्रति निष्ठा रहती है, तब तक जीवन में उल्लास रहता है, स्फूर्ति और रस रहता है। श्रीकृष्ण को जो रसो में श्रेष्ठ रस **'रसानां वै रस'** और **'आनद कन्द'** माना गया है, उसका अभिप्राय यही है कि आरम्भ से अत तक उनके जीवन मे लोकहित का अमृत रस छलकता रहा, उदात्त कर्त्तव्य की दिव्य लौ जलती रही, और इस प्रकार प्रतिपल एव प्रतिपद आनन्द, उत्साह का सागर लहराता रहा।

उनके जीवन में संकट आए, और इतने आए कि आज का आदमी तो उसकी कल्पना से भी काँप उठता है। जन्म के पहले ही उनके जीवन पर मौत का पहरा बिठा दिया गया। माता कैद में थी, और पहरेदारो की नगी तलवारे हवा में लपलपा रही थी कि जन्म होते ही बालक की कोमल काया के खण्ड-खण्ड कर दिए जाएँ।

मौत के इस क्रूर पंजे से निकल कर वे अर्धरात्रि के गहन अंधकार मे मचलती-उफनती हुई यमुना को पार कर गोकुल में जाते है। कहा जाता है कि उनके अँगूठे का स्पर्श पाकर यमुना की धारा फटती गई, रुकती गई, उन्हे रास्ता देती गई। इस घटना का आध्यात्मिक अर्थ ले तो बहुत ही प्रेरणास्पद होगा कि संसार में जो विषय-वासनाओ की तूफानी नदियाँ बहती हैं, वे महापुरुषो के जीवन का स्पर्श पाकर शान्त हो जाती हैं। उनकी मचलती हुई धारा रुक जाती है, वेग टूट जाता है और वे उन्हे पार होने का रास्ता दे देती हैं।

श्री कृष्ण व्रज की मिट्टी मे खेले-कूदे, वडे हुए, ग्वाल बालो के साथ वचपन विताया, पर जब उन्हे लगा कि व्रजभूमि पर जरासध की काल-दृष्टि पड़ रही है, वह मौका पाकर व्रजभूमि को कुचल डालेगा, तो उन्होने तुरन्त व्रजभूमि छोड़ने की उद्घोषणा कर दी। समय और परिस्थिति को देखकर उन्होने मातृभूमि का परित्याग करने में भी अगल-वगल नही झाँका। उनके इस निर्णय पर जब कुछ वडे वूढो ने कहा—"हम व्रज को छोडकर कैसे जी सकेंगे? यहाँ का कण-कण हमारे शरीर मे रमा हुआ है, यह हमारी मातृभूमि है।"

श्री कृष्ण ने उस समय जो कहा, वह महान् सत्य और विराट् चिन्तन की वाणी थी। उन्होने कहा

"यस्याति सर्वत्र गतिः स करगात्
स्वदेशरागेण हि याति खेदम् ?
तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणाः
क्षार जले कापुरुषाः पिवन्ति ॥"

जिसके शरीर मे शक्ति है, ऊर्जा है, प्राणो में स्पन्दन है वह कही भी जाकर अपने जीवन का निर्माण कर सकता है। अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करने वाला, स्वदेश के झूठे अनुराग के कारण, व्यर्थ सकट और विपत्तियो मे नही उलझता, रोता-पीटता नही फिरता। घर है तो क्या? जिस घर में मौत वरस रही है, जो मकान गिर पडने को हो रहा है, उसे अपने वाप-दादो का मान कर भीतर ही घुसे रहने में कौन-सी समझदारी है? पुरखो के कुएँ में आज खारा पानी है, तो उसके पीते जाने में कौन सी पितृ-भक्ति और परम्परा-प्रेम है? ऐसे दुर्वल हृदय में कोई कुल-गौरव की वात नही, किंतु कायरता छिपी हुई है। यो कहिए, दूर से मीठा जल लाकर पीने की हिम्मत नही है।

श्रीकृष्ण ने व्रजवासिओ को आवाज दी अब वह खारा जल पीकर अपने पुराने कुएँ की साख रखना मूर्खता है, आगे चलो, वढो। चलते हुए अमृत मिलता है **'चरन् वै मधु विन्दति'**। श्रीकृष्ण की आवाज पर व्रजवासी निकल पडे। चलते-चलते भारत-भूमि के सुदूर किनारे पर अर्थात् सागर के तट पर ससार की सुप्रसिद्ध स्वर्ण-पुरी द्वारिका का निर्माण किया। वैभव और साम्राज्य का विस्तार करके

श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण भारत पर अपने पौरुष और पराक्रम का दवदवा जमा दिया।

मैं आपसे पूछूँ श्रीकृष्ण का सहयोगी कौन राजा था? किसने उन्हे साम्राज्य का विस्तार करने मे सहारा दिया? उत्तर एक ही है उनके पौरुष ने, साहस और धैर्य ने।

आपको मालूम होना चाहिए सहारा ताकने वाली तस्वीरें दीवारो पर टँगी रहती है। और अपने आप चलने वाले ये जीवित चित्र लाखो योजन की दूसरी पार कर जाते है।

कुछ व्यक्ति यही रोना रोते रहते हैं क्या करे, कोई सहारा नही मिला! ठीक है सहयोग के द्वारा भी काम हो जाता है, पर तुम्हे अपने आप पर भरोसा होना चाहिए! तुम मूर्ति तो नही हो कि सहारे के विना खडे भी नही रह सकते!

भगवान् महावीर ने कहा है भिक्षुओ! तुम भिक्षा लेने जाओ तो अपनी जॉत-पॉत और कुल का नाम लेकर भिक्षा मत मागो! किसी की स्तुति और चापलूसी करके पेट मत भरो। इस प्रकार जाति, कुल आदि का सहारा लेकर यदि भिक्षा ली, तो यह भिक्षा नही, निर्माल्य है।

साधु, सज्जन और सत्पुरुष अपने त्याग, सद्गुण एव पुरुषार्थ के वल पर ही जीते हैं। जाति, कुल परम्परा के गौरव सव मृत गौरव है। जिन्हे अपने पुरुषार्थ का गौरव होता है, वे पुराने गौरव का रोना नही रोते। वे नया निर्माण करते हैं। महापुरुष वह है जो नही मे से सव कुछ पैदा करदे। **'असत. सद् जायते'**। जादू और चमत्कार उसी का नाम है जो कुछ नही है उसमे से सव कुछ वनादे। अभाव में से भाव को जन्म दे दे, रिक्त को पूण कर दे। इसी को हमारे शास्त्रो मे **'असत. सद् जायते'** कहा है। श्रीकृष्ण के पुरुषार्थ में इसी जादू को सिर चढकर वोलता देखते हैं। उन्होने जगल मे मगल कर दिया, समुद्र के सूने किनारे को जन-धन-वैभव से गुलजार कर दिया। मगल को जगल वनाने मे कोई वड़ी वात नही, जंगल को मगल वनाना वास्तव मे चमत्कार है।

निराशा के तम मे आशा की ज्योति :

श्रीकृष्ण के जीवन मे हम कदम-कदम पर निराशा में आशा

की ज्योति चमकते देखते हैं। मनुष्य जब हताश एवं निराश हो जाता है, हाथ-पाँव ढीले पड़ जाते है और जीवन में शून्यता छा जाती है, तव श्रीकृष्ण का जीवनदर्शन संजीवनी की तरह उसे पुनर्जीवन देता हुआ प्रतीत होगा। नई स्फूर्ति और नया उत्साह फूँकता-सा लगेगा।

कर्म का छोटा-बड़ा क्या ?

छोटा से छोटा और वडे से वडा कार्य श्रीकृष्ण ने सम्पन्न किया है, एक-सी तन्मयता के साथ, एक-सी रुचि और गौरव के साथ। गाय चराते हुए वन में मस्ती से झूमते हैं तो भी वडी तन्मयता और आनन्द के साथ। द्वारिका के सिंहासन पर बैठकर भारतवर्ष का राज्य संचालन करते हैं, जनता के अभ्युदय और गौरव के स्वप्न देखते हैं, तव भी उसी तन्मयता और दक्षता के साथ। कर्म रस मे वे आकंठ निमग्न हैं, कर्म उनके जीवन मे छोटे-वडे का चोगा पहने नही आता, वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को लेकर उपस्थित होता है, और विधि के साथ सम्पन्न होता है।

"मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं, वितीर्णं केन कानने ?
विक्रमार्जितसत्वस्य, स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥"

सिंह को मृगेन्द्र कहते हैं। सिंह का वन राजा कहलाता है। किन्तु राजा के रूप में कव उसका अभिषेक किया गया था ? किसने उसे राजा वनाया ? कौन-सा मुहूर्त्त निकलवाया गया ? और कौन-से संगी-साथी उसे मिले ? यह सब कुछ नही। बस, सिंह में पुरुषार्थ जगा और वन का राजा वन गया।

व्रज से यादवो का एक विराट् काफला चला वीच-बीच में युद्ध होते रहे, यादव कुमार प्राणो पर होली खेलते रहे और काफला आगे ही आगे वढता रहा। आखिर पश्चिम समुद्र के तट पर जाकर खड़ा हो गया। उस समय यादव जाति के नेताओ ने कहा कृष्ण! आज तक तो हमने निभाया अब यह राजमुकुट तुम्हारे सिर पर है। जिन यादवो के पास रहने को एक झौपडी भी नही थी, उन्होने अपना राज्य कृष्ण को दिया। आगे महासमुद्र गरज रहा है और पीछे जाएँ तो कहाँ जाएँ। ऐसे विकट अवसर पर समुद्रविजय ने

अपना मुकुट उतारा और कृष्ण के मस्तक पर रख दिया। कहा लो, आज से तुम राजा हुए!

कृष्ण ने मुस्करा कर कहा यह ठीक रहा। स्वर्गोपम व्रज के तो आप राजा रहे और अब इस सूने जंगल का मुझे राजा बना दिया।

समुद्रविजय ने कहा तुम्हारे अन्दर शक्ति है, पुरुषार्थ है। तुम सूने जंगल मे भी मंगल कर सकते हो।

दुनिया मे कई प्रकार के जीवन होते हैं। कुछ माई के लाल होते हैं जो जंगल में भी मंगल कर देते है। और कुछ ऐसे भी जन्मते है जो मगल में जगल का निर्माण कर देते है। कुछ जंगल को जंगल ही रहने देते है और कुछ मगल को मंगल ही वनाये रहते है। कृष्ण जंगल मे मगल करने वाले महापुरुष थे।

कृष्ण ने जब राजमुकुट धारण किया तो क्या स्थिति थी? रहने को एक झोपडी नही, खाने को एक दाना नहीं। खुले आकाश के नीचे उन्होने राजमुकुट धारण किया। किन्तु अपने प्रवल और अथक पुरुषार्थ से उन्होने विपुल वैभव और विशाल साम्राज्य हस्तगत किया। कृष्ण के जीवन की महान् सफलता का, यह एक उज्ज्वल उदाहरण है।

महाभारत के युद्ध का जब शंखनाद होता है, तो वे अर्जुन जैसे साधारण राजकुमार के सारथि बनकर युद्ध का नेतृत्व करते है। रण-क्षेत्र मे अर्जुन जव मोहग्रस्त होकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है, तो कृष्ण रथ क घोडो की रास पकडे हुए गीता का महान् उपदेश देते हैं, और अर्जुन की नसो का जमा हुआ रक्त दौडने लग जाता है। गीता का उपदेश निराश, हताश जीवन के लिए सजीवनी है, कर्त्तव्य की एक ज्वाला है, और ससार के कर्त्तव्यविमुख कायरो को एक कडी वुलद ललकार है।

आप कल्पना कीजिए, महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण किस कुशलता और सजीदगी के साथ पाडवशिविर की नैया खे रहे हैं। एक आचार्य ने कहा है कि महाभारत का युद्ध एक उफनता हुआ नद था, उसे पार करना पाडवो के वश की वात नही थी। यदि श्रीकृष्ण जैसे नाविक नही होते, तो वह नैया कव की मँझधार मे डूब जाती।

"मोत्तीर्णः खलु पाण्डवैः रणनदी,
कैवर्तकः केशव. ।"

श्रीकृष्ण ने पाडव-शिविर का साथ क्यो दिया ? वे जानते थे कि भारत के दिग्गज योद्धा, राजनीतिज्ञ और धनुर्धर सब दुर्योधन के शिविर मे जमा हो रहे हैं, भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसी महान् हस्तियाँ पाडवो के विरुद्ध युद्ध लडने को प्रस्तुत हो गई हैं। फिर भी उन्होने पाडवो का साथ दिया, इसलिए कि पाडवो के पक्ष में सत्य था, नीति थी और धर्म था। श्रीकृष्ण ने बल और शक्ति को महत्त्व नही दिया, उन्होने महत्त्व दिया सत्य और नीति को।

कृष्ण का जीवन ललकार कर कहता है मेरे पास कौन से साधन थे ? किन साधनो को लेकर मैंने जन्म लिया था ? ग्वालो मे पला, तब कौन से साधन थे ? सम्राट् बना तो कौन से साधन थे ? भारत का नेतृत्व करने और भारत की संस्कृति का निर्माण करने के कौन से साधन थे ? मुझको क्या साधन प्राप्त थे ? फिर क्यो साधनो के नाम पर रोते-गिडगिडाते हो ? तुम्हारे पास दृढ मनोबल नही है, आगे बढने का संकल्प नही है और व्यर्थ ही साधनो का रोना रोते हो।

वायुमंडल मिलता नही, बनाया जाता है। वातावरण का निर्माण करना पडता है। बने-बनाये वातावरण मे आगे बढे तो क्या मर्दानगी दिखाई ? जो स्वय वातावरण बनाता है और आगे बढता है, वही सच्चा मर्द है और वही महान् आत्मा है। उसी की जीवन-कहानी हमारे लिए आदर्श बनती है।

हाँ, तो कृष्ण का जीवन उन बच्चो, जवानो और बूढो के लिए एक बडी चुनौती है, जिन्हे निराशा ने चारो ओर से घेर लिया है, जो कहते हैं कि हमारे पास कोई साधन नही है, हमारे सिर पर किसी की छत्रच्छाया नही है और अनुकूल वातवरण नही है। हम क्या करें ? हम कर ही क्या सकते हैं ? हमारा जीवन तो अंधकार मे भटक रहा है।

कृष्ण मानो पुकार-पुकार कर कह रहे है मेरी ओर देखो। मुझे कौन-सा स्वर्ण-महल मिला था ? महल मिलता नही, बनाया जाता है। मुझे क्या वातावरण मिला था ? कौन बना-बनाया जीवन मिला था ?

निराशा की क्या बात है ? तुम्हे यदि प्रचण्ड जीवनशक्ति प्राप्त है, तो वही बहुत है, वही तो सब कुछ है। प्रचण्ड जीवन शक्ति है तो सभी साधन मिल जाएँगे। और वह न होगी तो मिले हुए साधन भी नष्ट हो जाएँगे और जीवन बर्बाद हो जाएगा, वे साधन ही जीवन को नष्ट कर देंगे।

वास्तव में कृष्ण का जीवन समुद्र की तरह विशाल और हिमालय की भाँति ऊँचा है। इस प्रकार का स्पृहणीय जीवन कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? इसके लिए एक मंत्र याद करना होगा। **पुरुषार्थ, पुरुषार्थ, प्रयत्न और फिर प्रयत्न।** जीवन में फिर विजय ही विजय है। निराशा के सघन अन्धकार मे जब तुझे आशा का एक भी किरण चमकती दिखाई दे, तब तू गर्व से कह कि मुझे तो महान् प्रकाश दिखाई देता है।

कृष्ण के समग्र जीवन का आदर्श विजय है। जहाँ जितना प्रकाश है, जितना उत्साह है, आशा की लहर है और पुरुषार्थ है, वहाँ उतनी ही विजय निश्चित है। वातावरण कितना ही प्रतिकूल क्यो न हो, घबराओ मत, निराश और हताश मत बनो, प्रयत्न करते जाओ। अन्धकार को प्रकाश के रूप मे पलट देने की शक्ति तुम्हारे भीतर है।

बस, महान् सकल्प रक्खो, संकल्प के अनुसार बन जाओगे। जो जैसा सकल्प करता है, वह वैसा ही बन जाता है। गीता मे कृष्ण कहते हैं

"श्रद्धामयो ऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्ध. स एव स।"

बीज मे यदि जीवनशक्ति है, जमीन मे गड कर भी वह उभरना जानता है, तो मिट्टी में दबा देने पर भी वह दबा नही रहता है। नया जीवन लेकर वह बाहर आता है। उसे मिट्टी भी कहती है उभर, उभर, बढ, बढ ! और पानी की धारा भी कहती है मैं भी सेवा मे उपस्थित हूँ। आपको बढाने मे सहायता करने आई हूँ। सूर्य की किरणे भी कहती हैं हम आपको बढाने आई है। हवा का झोका कहता है बढे जाओ, मैं आपको सहलाने आया हूँ, आपको पखा कर रहा हूँ।

किन्तु ये सब सहायक मिलते तभी हैं जब बीज मे जीवन-शक्ति होती है। जीवनशक्ति के रहते प्रत्येक साधन बीज को ऊपर

लाने और बढाने मे जुट जाता है। एक दिन वह ऊपर आता है और वृक्ष का रूप धारण करता है फलता-फूलता है और सैकडो वर्षो तक ससार को अपने फल देता रहता है, शीतल छाया देता रहता है।

किन्तु बीज यदि सडा हो, उसमे जिदगी न हो और प्राण न हो, तो क्या होगा ? उस बीज को जमीन मे बोओगे तो क्या वह ऊपर आ जाएगा ? कभी नही। मिट्टी उससे कहेगी मैं तुझे गलाती हूँ। पानी कहेगा ले, मै तुझे सडाता हूँ। हवा कहेगी मैं तुझे सुखाती हूँ। सूर्य की गर्मी कहेगी जरा ठहर, मैं तुझे भून देती हूँ।

वही की वही चीजे है, किन्तु जिन्दा बीज के लिए वे उद्धारक बन जाती हैं और जीवनशक्तिहीन मुर्दा-बीज के लिए वही संहारक हो जाती है। इस उदाहरण से हमे साधन के बल का पता लग जाता है। यह मत समझो कि जिसके पास साधन है, वही बनेगा। नही, आपमे जीवनशक्ति है, तो साधनो के अभाव मे भी आप बनेंगे। यदि जीवन-शक्ति नही है,तो कुछ भी बनने वाला नही है।

दीपक की एक नन्ही-सी लौ चमकने की कोशिश करती है, किन्तु हवा का झोका आता है और बुझा कर भाग जाता है। किन्तु जब वन मे दावानल सुलगता है, तो क्या होता है ? वही हवा का झोका उसे विराट् रूप देता है और कहता है कि मैं तेरे साथ हूँ। देखा, जो हवा दीपक को बुझा जाती है, वही वन मे लगी आग को एक सिरे से दूसरे तक फैला देती है। वह दावानल का सहायक बन जाती है।

इन्सानी दुनिया में भी यही बात है। यदि किसी में इन्सानी जिन्दगी मौजूद है और वह अच्छाइयो के लिए जुट जाए, तो ऊपर उठ सकता है। किन्तु जिसमें प्राण नही, उत्साह नही, साहस नही और ससार मे जीवित रहने की कला नही, जो संसार में मरियल होकर आया है, उसके लिए वही साधन सामग्री उलटा रूप ग्रहण कर लेती है और उसके विनाश का कारण बन जाती है।

कृष्ण मे जीवनशक्ति के बीज भरपूर मौजूद थे। वे जन्म ले रहे थे तो कस ने कहा मैं मार कर छोडूँगा। जब कस की कैद से निकले और ग्वालो के यहाँ आये, तब भी कस के षड्यन्त्र चलते रहे। बड़े हुए तो जरासध अकड़ने लगा और कहने लगा मैं मार कर ही

छोड़ूँगा। फिर शिशुपाल ने भी मारने की तैयारियाँ की। मतलब यह कि कृष्ण के जीवन को समाप्त करने के लिए एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी जितनी ही घातक तैयारियाँ की गई, वे उतने ही चमकते गए।

श्रीकृष्ण की राजनीति यथार्थ की भूमिका पर खडी थी। पाडव सत्य और नीति के कोरे शब्दो से चिपटने वाले थे, जबकि श्रीकृष्ण परिस्थिति की नब्ज को पहचान कर चलते थे। भविष्य के गहन गर्भ मे पडे घटनाचक्र को वे समय से पहले ही देख लेते थे। वे शब्दो को नही, यथार्थ को पकडते थे और उसी के आधार पर उनकी नीति के सतरंगे इन्द्रधनुष बार-बार कर्त्तव्य के आसमान मे चमक उठते थे।

श्रीकृष्ण का जीवन विविध रंगो मे इतना मोहक और विचित्र लगता है कि उसके हर रंग को देखना, पहचानना और बताना बहुत कठिन है। एक जादुई व्यक्तित्व था वह। वह एक ओर गीता के महान् कर्मयोग का उपदेश करते है, तो दूसरी ओर पाडवो के सारथि बनकर घोडो की रास पकडे चलते हैं। इससे भी आगे आप देखेगे तो वहाँ श्रीकृष्ण का और ही विचित्र रूप दिखाई देगा। वे दिन मे सारथि की भूमिका पर सघर्षत रहते हैं तो रात को आराम से नीद के-खर्राटे नही लेते। घोडो के शरीर में लगे बाणो को बीन-बीन कर निकालते हैं, उनकी मरहम-पट्टी करते है और अपने हाथ से उनको दाना-पानी देते हैं। पुत्रो की तरह घोडो को स्नेह और प्यार से दुलारते हैं।

आज की स्थिति में इस घटना को जरा देखिए आज की माताएँ अपने बच्चो तक को दूध नही पिला सकती, उनके लिए भी दाई चाहिए। अपने बच्चे को उठाकर ले चलने में भी उन्हे अपमान और लज्जा लगती है। घर मे हर काम के लिए नौकर चाहिए, यदि नौकर नही आया तो पतिदेव की जान पर आ बनती है। यह स्थिति क्यो है? कारण एक ही है कि आज कर्म मे रस नही रहा है? जब कर्म मे रस नही रहा तो कर्तृत्व की ज्योति उसमें उभर नही सकती, उसमे आनन्द की अनुभूति नही हो सकती। और तब कर्म, एक सिर-दर्द बन जाता है।

श्रीकृष्ण का जीवन जितना महान् है उतना ही उज्ज्वल है। उनके सामने जीवन एक उल्लासभरा खेल है। सर्वत्र विशुद्ध प्रेम। वे गोपियो के वस्त्र चुरा कर भागते है, उनके जीवन मे स्वच्छंद काम और विलास छाया हुआ है आदि-उनके जीवन के साथ वासना और कामुकता का जो रूप जोड़ा गया है, वह गलत है। यह बाद के रसिक और विकारग्रस्त मानस की प्रतिच्छाया है। उनका जीवन-दर्शन समझना हो तो जैन-साहित्य मे देखिए, महाभारत और गीता मे देखिए, कितना विराट् और दिव्य रूप वहाँ अंकित हुआ है। विशुद्ध प्रेम और निष्काम कर्म का विचित्र सामञ्जस्य, जैसा भारतीय सस्कृति के इस महान् जीवन मे उजागर हुआ है, वह बहुत ही गौरव-मय एव प्रेरणास्पद है। वास्तव में श्रीकृष्ण का जीवन पुरुषार्थ और उद्योग का महान् सदेश देने वाला जीवन है। आदि से अत तक उनके जीवन में पुरुषार्थवाद की ही प्रेरणा लवक्षित होती है। इसी के द्वारा वे जीवन की उच्चतम भूमिका पर पहुँचे और दूसरो को वहाँ पहुँचने का सही मार्ग दिखाया।

राष्ट्रनायकत्व का सार्वजनीन सन्देश :

श्रीकृष्णचन्द्र का जीवन जहाँ एक ओर गीता के उपदेशक के रूप मे धर्म, अध्यात्म एव दर्शन के क्षेत्र मे चिर स्मरणीय है, वहाँ दूसरी ओर महाभारत के कुशल नीतिपूर्ण संचालन के कारण भी प्रेरणा की वस्तु है। उन्होने सत्य एव न्याय का पक्ष लेकर, उसका हार्दिक समर्थन करके तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उसकी सार-सभाल करके जिस गरिमा का प्रतिष्ठापन किया, वह आज भी स्तुत्य है, और आनेवाले समय मे भी स्मरणीय रहेगा। उन्होने पाडवो का पक्ष लेकर यह चरितार्थ कर दिखाया कि अन्याय का पक्ष चाहे कितना भी प्रवल क्यो न हो, उससे डरकर न्याय का पक्ष कदापि नही छोडना चाहिए। सत्य (पाडव) की रक्षा के लिए असत्य (कौरवो) से चाहे कितना भी कठिन-से-कठिन सघर्ष क्यो न करना पडे, उससे विमुख कभी नही होना चाहिए।

दूसरी वात जो उनके जीवन से मिलती है, वह यह कि श्रीकृष्ण-चन्द्र के हाथ मे जहाँ एक सुदर्शनचक्र अनवरत चक्र लगा रहा है। वह यह वताता है कि न्याय जहाँ मुरली की कल्याण-रागिनी का सुरम्य

रसास्वाद करता है, वहाँ अन्याय एव उत्पीडन सुदर्शनचक्र द्वारा विनष्ट कर दिया जाता है। एक ओर पाडव जहाँ न्याय की मुरली-धुन पर अलमस्त बढते गए, वहाँ दूसरी ओर कंश, शिशुपाल एवं कौरव सुदर्शनचक्र की कोपाग्नि के शिकार बने।

श्रीकृष्ण की शासन नीति आज के युग की दल-बदल वाली भ्रष्ट नीति के लिए प्रेरणा एवं पथदिशा प्राप्त करने की अमोघ वस्तु है। आज श्रीकृष्ण का जीवन हमारे राष्ट्र एव समाज के लिए, इस दृष्टि और भी महत्वपूर्ण है।

आज श्रीकृष्ण की जन्माष्टमी मनाई जा रही है, लोग उनके जन्म के उत्सव में मग्न हो रहे है। पर, यह बाह्य जन्म हर साल होता है और आप यूँ ही रह जाते हैं। जब तक आपके हृदय में उनके गुणो का दिव्य जन्म नही होता, तब तक उनके जन्मोत्सव, और जन्माष्टमी से आपका बेडापार होने वाला नही है। आवश्यकता इसी बात की है कि भगवान् के गुणो का जन्म हमारे हृदय मे हो। उनके आदर्श हमारे जीवन में प्रतिबिम्बित हो।

४-६-५० को दिया गया कविश्रीजी का प्रवचन

१७

विजयपर्व [विजया दशमी]

आज भारतवर्ष के प्रत्येक क्षेत्र मे जहाँ कही भी भारतवासी है और भारतीय सस्कृति है, वहाँ सर्वत्र एक बडा त्योहार और राष्ट्रीय पर्व मनाया जा रहा है, जिसे हमने 'विजयादशमी' का प्रेरणाप्रद और अर्थसूचक नाम दिया है। विजयादशमी को मैं केवल एक सामाजिक त्योहार नही, वल्कि राष्ट्रीय पर्व कह रहा हूँ। ऐसा क्यो कह रहा हूँ? इस बात को समझने के लिए हमें भारत के इतिहास पर नजर डालनी होगी। उस पुराने इतिहास पर जब हम नजर डालते हैं, तो एक महान् आदर्श और एक महान् प्रेरणा हमारे सामने खडी हो जाती है।

अच्छे और बुरे महापुरुष :

आप इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि विश्व के इस विराट् रंगमच पर अनेक प्रकार के महापुरुष अवतरित होते हैं। ये महापुरुष धराधाम पर आकर अपने अभिनय-व्यापार से जगत् को विस्मय मे डाल देते हैं और संसार मे शान्ति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित करके आनन्द-मंगल की मदाकिनी प्रवाहित कर देते है। किन्तु कभी-कभी इतिहास बुरे महापुरुषो का भी प्रसव करता है, जिनके कार्य-कलाप ससार की शान्ति का अपहरण कर लेते है और त्रास, आतक, भय और उद्वेग को उत्पन्न करते हैं। उनके उच्छृखल व्यापार से जगत् कराह उठता है।

जब अच्छे महापुरुषो की बात आती है, तो आपके मन मे किसी प्रकार का प्रश्न उत्पन्न नही होता, किन्तु जब बुरे महापुरुषो की बात कहता हूँ, तो आप उलझन मे पड़ जाते हैं कि जो बुरे है वे महा-

पुरुष कैसे ? और जो महापुरुष हैं वे बुरे कैसे ? इस प्रकार का प्रश्न उठाना स्वाभाविक भी है, क्योंकि साधारणतया दुनिया अच्छे रूप मे ही महापुरुषो को पहचानती आ रही है। किन्तु मैं किस विचार एवं दृष्टिकोण से महापुरुषों को दो रूप मे बाँट रहा हूँ, यह बात आपके सामने सक्षेप में रख देता हूँ।

जो पुरुष जगत् के साधारण मनुष्यो की भूमिका से ऊँचा उठ जाता है, और उस ऊँचाई पर पहुँच जाता है कि जिसे साधारण मनुष्य स्पर्श नही कर पाते, वह महापुरुष कहलाता है। उसमें कुछ जन्मजात और कुछ संस्कारजनित विशिष्टताएँ होती हैं। उसके जीवन में एक प्रकार की प्रचण्डता होती है। हर रुकावट से लडने की क्षमता होती है। अपने पथ की विघ्न-बाधाओ को उखाड फेंकने का अदम्य उत्साह होता है। उसकी इच्छाशक्ति इतनी प्रबल और प्रचण्ड होती है कि वह जो चाहता है, कर गुजरता है। उसमे अजेय पराक्रम, अप्रतिहत मनोबल और असाधारण लगन होती है।

यही सब चीजें किसी आदमी को महापुरुष बनाती हैं। साधारण से साधारण क्षुद्र झोपडियो मे से भी ऐसे कुछ प्रदीप्त जीवन निकलते हैं जिन्हे कि चहारदीवारियाँ घेर कर खडी नही रह सकती। वे खुले मैदान मे आते हैं और शक्ति के पुज बनकर, ऐश्वर्य और तेज से विभूषित होकर आते है तथा चमकते हुए नजर आते है।

यह सब विशेषताएँ महापुरुषमात्र की विशेषताएँ हैं, और दोनो ही प्रकार के महापुरुषो मे सामान्य रूप से पाई जाती है। फिर भी कोई अच्छा महापुरुष कहलाता है, और कोई बुरा महापुरुष कहलाता है, इसका कारण दूसरा है।

किसी महापुरुष की प्रचण्डता मे, ऐश्वर्य में, इच्छाशक्ति मे लडने की गहरी वृत्तियाँ पैदा हो जाती हैं। मन की अशुभ प्रेरणाएँ और हृदय के अभद्र संकल्प उसकी विशिष्टताओ पर काली घटा की भाँति छा जाते हैं। बुरे विचार और बुरे आदर्श उसके जीवन को एक ऐसी दिशा की ओर ले जाते हैं, जहाँ कि वह सर्वप्रथम अपने आपमें शक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए लडता है, सघर्ष करता है और अन्त मे अपने सुख के लिए हजारो-लाखो की सुख-सुविधाओ को कुचल डालता है। वह दूसरो को रौंदता हुआ चलता है।

वह अपने जीवन में आगे बढ़ा तो है, किन्तु उसे सही दिशा नही मिली। उसने असाधारण शक्तियाँ प्राप्त की तो हैं, किन्तु उन शक्तियो का जगत् के कल्याण के लिए सदुपयोग करने की वृत्ति उसने नही पाई। उसकी शक्तियाँ पर-पीडन मे व्यय होती है। ऐसे विशिष्ट शक्तिशाली पुरुष को हम बुरे महापुरुष के रूप में देखते हैं।

इसके विपरीत, महापुरुष की पूर्वोक्त विशिष्टताओ के साथ-साथ जब शुभ संकल्प और सत्प्रेरणाएँ जागृत होती हैं और इसके फलस्वरूप उसका जीवन जब अपने और विश्व के कल्याण में व्याप्त हो जाता है, तो वह महापुरुष अच्छा महापुरुष कहलाता है। ऐसे महापुरुष अपने ऐश्वर्य का अपने तक ही सीमित न रख कर विश्व के कल्याण का साधन बनाते हैं। अपने अदम्य उत्साह को, अपनी प्रबल इच्छाशक्ति को और अपने अथक कर्तृत्व को जीवदया के लिए उत्सर्ग कर देते हैं। ऐसे महापुरुष जब चमकते है, तो समग्र विश्व को अपने अलौकिक आलोक से आलोकित कर देते हैं और हजारो वर्षों तक जनजीवन को प्रभावित करते रहते है। उनके जीवन से युग-युग में मानवजाति प्रेरणा के प्राण ग्रहण करती रहती है।

राम और रावण :

जिस युग का यह राष्ट्रीय पर्व है और जिस काल मे इसकी नीव पडी, उस युग मे भारतवर्ष मे दो शक्तियाँ ऊँची उठी हुई थी। एक शक्ति राम के रूप मे और दूसरी रावण के रूप मे। रावण भी कोई सामान्य व्यक्ति नही था। वह अत्यन्त नीतिज्ञ, विद्वान् एवं बलशाली था। बडी प्रबल इच्छाशक्ति उसमें विद्यमान थी। उसका प्रताप और ऐश्वर्य ऐसा था कि पूछिए मत। उसके पैरो से धरती काँपने लगती थी, किन्तु उसने अपनी शक्तियो का उपयोग जनता के कल्याण के लिए नही किया, इसी कारण वह महापुरुष होकर भी बुरा महापुरुष कहलाया। उसने जनता के उत्थान के लिए कुछ नही किया। जनता की भी कुछ इच्छाए होती है, उसकी भी कोई आवश्यकताएँ हुआ करती हैं, जनता भी सुख और शान्ति चाहती है और दूसरो के शरीर मे भी हमारे जैसा कोमल हृदय है, यह बात उसने भुला दी। उसने जनता के जीवन को एक ओर डाल दिया और अपनी ही इच्छाएँ और तमन्नाएँ उसके लिए महत्त्वपूर्ण हो गई।

इस रूप में रावण एक बड़े आदमी के रूप मे जगत् के रंगमंच पर जरूर आया, किन्तु उसने अपने बड़प्पन का उपयोग बुराइयों के लिए, संहार के लिए और भोग-विलास के लिए ही किया, इस प्रकार उसकी बुराइयों ने बुरे महापुरुष के रूप में उसे संसार के सामने खड़ा कर दिया।

दूसरी तरफ हमारे सामने राम आते हैं और वे इस रूप में आते हैं कि प्रारंभ से ही अपनी कामनाओं को मंगलरूप देते रहते हैं। वे जब परिवार या समाज मे रहते हैं तो परिवार और समाज के बनकर रहते है, यदि देश मे रहते है, तो देश के होकर रहते हैं और यदि विदेश मे जाते हैं, तो वहाँ भी उनका जीवन जनता के कल्याण के लिए अर्पण होता रहता है।

इस प्रकार एक जीवन चारों ओर से घिर कर अपने अन्दर ही बंद होता रहा, संसार की अच्छी वस्तुओं को अपने लिए ही अर्पित करता गया, जबकि दूसरा जीवन अर्थात् राम का जीवन अपनी शक्तियों को परहित मे समर्पित करता गया। यही दोनों के जीवन की विभाजक रेखा है। इसी रेखा ने एक को दूसरे से जुदा कर दिया है।

राम के जीवन को चाहे कहीं से भी देखना आरम्भ कर दीजिए, सर्वत्र परहिताय उत्सर्ग का मंगलसूत्र ही आपके हाथ लगेगा। गन्ने को कहीं से काट कर चखा जाए, मिठास ही आएगी। इसी प्रकार राम के जीवन को कहीं से भी देखा जाए, भूतहित की भावना ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होगी।

राम का उदात्त चरित्र :

राम को अयोध्या का राज्य मिलने वाला है। सारी तैयारियाँ हो हो रही हैं। अयोध्या का समस्त वैभव उनके चरण चूमने को है। सब ओर खुशियाँ मनाई जा रही है। राम के राजसिंहासन पर बैठने की तैयारियाँ देख कर जनता के हृदय हर्षविभोर हो झूम रहे है। किन्तु रामचन्द्र गम्भीर चिन्ता में डूबे हैं। मन ही मन विचार कर रहे हैं कि हमारा रघुवंश इतना ऊँचा है, गौरवशाली है, इतिहास मे इतनी ऊँचाइयाँ पाने के लिए सौभाग्यशाली है, उसके नियम और विधान उच्च श्रेणी के हैं, किन्तु एक कमी है।

"विमल वंश यह अनुचित एकू।
अनुज विहाइ बड़हि अभिसेकू॥"[1]

राम विचार करते हैं कि हमारे श्रेष्ठ वश मे, सब अच्छाइयाँ है किन्तु एक ही गड़वडी चल रही है। एक ही वात मेरी समझ मे नही आ रही है। लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न मेरे अनुज भ्राता हैं, हम सब एक साथ खेले हैं और एक रूप मे रहे हैं। हमने अपने जीवन में कभी एक-दूसरे से ऊँचाई-निचाई का अनुभव नही किया। जीवन के क्षेत्र मे हम जहाँ कही भी गये, एक रूप में गये, एक ही स्थिति मे गये, और एक ही रूप मे जीवन के कदम नापे। हममे कौन वडा और कौन छोटा है? न छोटो ने छोटेपन का कभी अनुभव किया और न बडो ने वडेपन का। किन्तु आज हमारे वीच मे एक दीवार खडी हो रही है। छोटो को छोड़ कर वडे का राज्याभिषेक हो रहा है और वडे को सिंहासन पर बिठलाया जा रहा है। जो चीज नही थी, वह पैदा की जा रही है। मैं राजसिंहासन पर वैठूँगा और मेरे भाई मेरे नीचे के सिंहासनो पर वैठेंगे। इस प्रकार यह सिंहासन मेरे लिए एक अजीव समस्या वन गया है। मैं आज्ञा दूँगा, शासन करूँगा और मेरे भाई उसे शिरोधार्य करेगे। यह सिंहासन भाई-भाई के बीच अन्तर पैदा करता है।

मैं समझता हूँ कि राम के हृदय की यह जो वेदना और तडप है, उसी ने उनको इतनी महिमा प्रदान की है। राम के विशाल और विराट् हृदय में जो अन्त चेतना है, और जिस रूप मे हमारे भारत के सन्तो ने उसे हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वही राम के जीवन की महान् सम्पत्ति है। राम का वडप्पन और गौरव इसी वेदना की सात्विक आग मे तप-कर प्रकाशमान हो रहा है।

साम्राज्य पा जाने पर भाई, भाई का गला काटने को तैयार रहता है। सोने के सिंहासन के पीछे हजारो माता-पिता वलिदान कर दिये गये हैं। मित्र और साथी भी वलिदान कर दिये गये हैं। और जब इतिहास की ओर आँख उठा कर देखते हैं, तो इन सिंहासनो के नीचे हजारो लाशें तडपती हुई दिखाई देती हैं। किन्तु वही सिंहासन जब राम

१. रामचरितमानस

को मिल रहा है, तो वे उसे लेने मे हिचकिचा रहे हैं। राम के मन में एक ही चीज खटक रही है और वह यह कि मैं अपने भाइयो से ऊँचे कैसे बैठूँगा ? यह सिहासन जीवन मे नई बला आ रही है, भाई-भाई मे भेद कर रही है। यह चीज क्यो पैदा हो रही है ?

बस यही से राम के गौरव का इतिहास शुरू हो जाता है। आप देखते है कि जब सिहासन के सम्बन्ध मे परिस्थितियाँ बदल जाती हैं और सिहासन मिलने के मुहूर्त पर वनवास मिलता है, तब राम सहज भाव से जगल की राह लेते हैं, तब उनके मन मे कोई दु ख नही होता। वे आनन्द की मस्ती मे झूमते हुए, जंगल की ओर कदम बढाते हुए, चल देते हैं।

आगे क्या होगा ? जनता के सामने गहरा अधकार है, किन्तु राम के सामने प्रकाश चमकता हुआ मालूम होता है। राम की स्तुति करते हुए तुलसीदास ने कहा है

"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः,
तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्ये
पुनातु सा मञ्जुलमंगलप्रदा॥"[1]

अभिषेक का समाचार सुनकर जिस पर प्रसन्नता की झलक नही आई और वनवास की सूचना मिलने पर तथा वनवास की तैयारी करने पर विषाद की झलक न आई, राम के मुख की वह छवि सुख-दु ख मे समान रही। इस पर कवि कहते हैं कि राम की वह अलौकिक छवि हमारा कल्याण करे। हमारे जीवन को पवित्र बनाए।

स्पष्ट है कि राम के जीवन मे सुखदु ख के प्रति जो सहजभाव है, वही उन्हे विराट् रूप प्रदान करता है और उनके जीवन को उच्च से उच्चतर भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है। यही सहज और उदार भाव उन्हे अच्छा महापुरुष बनाता है।

राम जहाँ कही भी जाते हैं, अपने-पराये के रूप मे या देश-विदेश के रूप मे किसी समस्या पर विचार नही करते। वे सर्वत्र जनकल्याण की

1 रामचरितमानस

भावना से ही कार्य करते है। वे सघर्ष करते हैं, किन्तु व्यक्ति से नही, असत्य और अन्याय से सघर्ष करते हैं। जब रावण, सीता को पकडकर ले गया, तो राम ने उसके साथ युद्ध किया। किन्तु वह युद्ध वास्तव मे रावण के विरुद्ध नही, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध था। रावण अन्याय, अत्याचार का प्रतिनिधि बनकर सामने आया, यह बात दूसरी थी, किन्तु रावण के निजी व्यक्तित्व के साथ उनका कोई संघर्ष नही था। उन्होने उस समय यही कहा था कि मैं रावण से नही लड रहा हूँ। उससे मुझे कोई घृणा नही, कोई द्वेष नही। सोने की लंका पर मैं अधिकार जमाने नही आया हूँ। सोने का यह वैभव जिनका है, उन्ही का है, मैं इसमें से एक माशा भी अपने लिए नही चाहता। मैं तो केवल असत्य से लड रहा हूँ, अत्याचार के विरुद्ध सघर्ष कर रहा हूँ।

राम कहते है जहाँ नारी का अपमान होता है, जहाँ जनता का गौरव सुरक्षित नही है, और जहाँ एक प्रचण्ड शक्ति अपनी ही इच्छाओ को महत्त्व देती है, अपने भोग-विलास को ही सबकुछ समझती है और सामने जो हजारो इन्सान है, उन्हे इन्सान नही समझती, बल्कि यह समझती है कि यह सब तो मेरे चरण धोने के लिए ही है और मेरे जीवन की आवश्यकताओ को ही पूर्ण करने के लिए हैं; जब तक इनसे मेरी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है तब तक तो यह मेरी प्रजा है, किन्तु जब इनसे मेरी आवश्यकताओ की पूर्ति में रुकावट पडेगी, तो मैं इन्हे मच्छर की तरह मसल कर नष्ट कर दूंगा जहाँ ऐसी स्वार्थमयी वृत्ति है, वहाँ सघर्ष करना ही मेरा कर्त्तव्य है! हर अन्याय के साथ संघर्ष करना मनुष्य मात्र का धर्म है।

उक्त रूप मे जब हम राम की मनोभावनाओ का विश्लेषण करते हैं, अध्ययन करते हैं, तो हमे पता लगता है कि राम एक सीता के लिए नही लडे। यदि वह केवल सीता के लिए ही लडे होते, तो उनकी विजय का यह दिन राष्ट्रीय पर्व का स्वरूप ग्रहण नही कर सकता था, जिसे जनता सुदूर अतीत से बडे उत्साह और उल्लास के साथ मनाती आ रही है। रावण सीता को उठा कर ले गया और राम ने उसे मार कर सीता को वापस ले लिया, बस इतनी-सी बात होती, दो राजाओ के आपसी व्यक्तिगत सघर्ष तक ही घटना सीमित होती और, सिर्फ

एक सीता का प्रश्न ही अटका हुआ होता, तो मेरे विचार से इतिहास मे इस घटना को इतना विराट् रूप कदापि न मिला होता।

किन्तु इतिहास ने इस घटना को जो व्यापक और चिरस्थायी महत्व प्रदान किया है, वह सूचित करता है कि इसके मूल मे अवश्य ही कोई व्यापक और विराट् उद्देश्य निहित रहा है। उस समय संसार पर असत्य छाया हुआ था, नारी जाति की प्रतिष्ठा खतरे मे पडी हुई थी और शक्तियाँ अपने मद मे चूर होकर छोटी-छोटी सत्ताओ को त्रस्त कर रही थी। अत अन्याय और अत्याचार का सब ओर प्रसार हो रहा था। उसका उन्मूलन करना ही राम के संघर्ष का उद्देश्य था। राम ने संघर्ष किया, अपने प्राणो तक को जोखिम मे डाल कर संघर्ष किया। उनका उद्देश्य प्रशस्त था। उन्हे जनता का समर्थन मिला। उन्हे विजय की प्राप्ति हुई। अन्त में सत्य विजयी हुआ और विजया-दशमी का महापर्व स्थापित हो गया, उसी सत्य की विजय की चिरस्मृति के लिए।

राम लडे, उन्होने शक्ति-भर संघर्ष किया। युद्ध में खून की नदियाँ बह गई, किन्तु उनके पीछे अशुभ भावना नही थी, विश्वकल्याण की भावना ही उस संघर्ष के मूल मे थी। ससार भर के दीन-दुखियो की सद्भावना उनके साथ थी और वे सद्भावनाएँ सेना की अपेक्षा कही अधिक शक्तिशालिनी थी। पीडित जनता के आँसुओ ने राम को वह शक्ति प्रदान की कि वे रावण की प्रचण्ड शक्ति तक को आसानी से परास्त कर सके। नही तो उनके पास क्या था? कौन बडी भारी तैयारी थी? तीन प्राणी अयोध्या से निकले थे और उनमे से भी एक छीन लिया गया था। दो ही बाकी रह गये थे। दूसरी ओर रावण की असीम एव अपरिमित रण-सामग्री थी और प्रचंड योद्धाओ की विशाल सेना थी। भला दो निरीह व्यक्ति उसके सामने क्या थे?

सत्य का पक्ष प्रबल होता है:

किन्तु नही, दीनो के आर्त्तनाद ने उन्हे प्रेरणा दी और उसी प्रेरणा से वानरजाति के वीर योद्धा राम की पक्ष में आकर खडे हो गये। वानरजाति के वीरो को पता था कि हम अपना सिर कटाएगे, तो बदले मे हम क्या मिलेगा? मिलने को कुछ भी नही था। फिर भी वे साहस के साथ आगे आए। अपनी फौलादी छाती तान कर खडे होगए

रावण की उद्दण्ड शक्ति के मुकाबिले मे, वे नौजवान असत्य से और बुराइयो से लडने के लिए और अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए डट गए। वास्तव में वे युवक धन्य हैं, जो अन्याय और असत्य के विरुद्ध अपनी समस्त शक्तियो को होम देते है और ऐसा करते समय धन और वैभव का, शक्ति और सत्ता का कोई लिहाज नही करते। जो धन के सामने मस्तक नही झुकाते, शक्ति के सामने घुटने नही टेकते और हृदय के शुभ संकल्प के साथ अन्याय के विरुद्ध मोर्चा बना कर खडे हो जाते है, संसार की कोई भी शक्ति उन्हे पराजित नही कर सकती।

जब हम उस समय का इतिहास पढते हैं और एक-एक वीर की कर्त्तव्यनिष्ठा पर दृष्टिनिपात करते हैं, तो मुँह से बरबस 'वाह-वाह' की ध्वनि, उनके साहस और बलिदान के लिए निकल पडती है। वीरवर हनुमान को देखिए। वह अपने प्राणो को हथेली पर रख कर लंका मे जाते है और सीता का पता लगा कर लौटते है। यह क्या कोई सामान्य बात थी? हनुमान को मालूम नही था कि वह जिदा लौट सकेंगे भी या नही? रावण की लका से सुरक्षित लौट आना सम्भव नही था। किन्तु उन्हे कोई भय नही, कोई सकोच नही, आगा-पीछा सोचने की आवश्यकता नही। वह अपने महान् साहस के सहारे मौत के मुँह में चले जाते है और आखिर सफल हो कर ही आते हैं। वह अपनी जाति के सहस्रो वीरो को इकठ्ठा करते है और कहते हैं

"रामादपि च मर्तव्य, मर्तव्यं रावणादपि।"

वानरजाति को आज फैसला करना है। एक ओर राम हैं और दूसरी ओर रावण है। दोनो के सघर्ष में वानरजाति का विनाश अवश्यभावी है। हम अलग-अलग नही रह सकते। ऐसी स्थिति में हमारे सामने गभीर प्रश्न उपस्थित होता है कि हमें किस ओर अपना योग देना है? ससार के आगे लिखे जाने वाले इतिहास मे हमें वानरजाति के विषय में क्या उल्लेख कराना है? राम का साथ देने पर इतिहास हमारे विषय में लिखेगा "बिना किसी स्वार्थ के, न्याय की प्रेरणा से, एक नारी के उद्धार के लिए वानरजाति ने महान् बलिदान दिया। और यदि रावण की ओर से, असत्य की ओर से हम खडे होगे तो इतिहास कहेगा कि वानरजाति ने एक उच्छृखल,

न्यायहीन और विवेकहीन राजा का पक्ष लेकर अन्याय और अत्याचार को प्रश्रय दिया।"

एक रोज मरना तो है ही किन्तु जीवन का मूल्य अदा कर मरना कुछ और महत्व रखता है हमे अपनी शक्ति से सत्य के पक्ष को प्रबल बनाना है, अथवा असत्य के पक्ष को सबल बनाना है? इसका उत्तर हनुमान ने सत्य और न्याय का साथ देने का निर्णय देकर दिया। और इस प्रकार वानर जाति ने न्याय के पथ मे अपना निर्णय देकर जीवन-गरिमा की महती भूमिका अदा की।

राम विदेशी थे, वहाँ उनका कोई सगी-साथी नही था। वे साधनहीन खडे थे, किन्तु उन्होने अपने कर्त्तव्य से दिखला दिया कि सत्य ससार मे अकेला भी खडा हो सकता है। और जब वह खडा हो जाता है, तो हजारो और लाखो उसके लिए बलिदान करने वाले मिल जाते है। ऐसा ही हुआ। लाखो ने सीता के लिए सिर कटवाए और विजयादशमी के दिन राम ने विजय पर्व मनाया। यही कारण है कि इतने वर्षो के बाद, आज भी हम उस विजय का स्मरण करते हैं और एक राष्ट्रीय पर्व के रूप मे इस दिन को मनाते हैं।

आज इस देश की, और साथ ही सारे भूमण्डल की ऐसी स्थिति है, जैसे भूकप का झटका लग रहा हो। अन्याय और अत्याचार चारो ओर से पैर फैला रहे हैं। आज एक सीता का नही, सहस्त्रो सीताओ का प्रश्न हमारे सामने उलझा पडा है। इसके साथ ही आज भी दीन-दुखी उसी प्रकार सताए जा रहे है, जैसे रावण के राज्य मे सताए जा रहे थे। कुछ ताकते सारे भूमण्डल के ऊपर छा गई हैं, विध्वशक बमो के अतिरिक्त और किसी चीज पर भरोसा नही करती। वे अपनी ही इच्छाओ को दूसरो पर लाद रही है और दूसरो की इच्छा की कोई कद्र नही करना चाहती। आप अपनी सस्कृति की नीव पर अपने देश का निर्माण करना चाहते हैं, किन्तु कोई अपनी शक्ति पर भरोसा नही करता। किन्तु जब हम इस परिस्थिति पर विचार करते है, तो एक कवि की बात याद आती है

"ससार कयामत के दहाने पै खड़ा है।
रावण तो हजारो हैं, मगर राम कहाँ है?"

आज सारा विश्व प्रलय के किनारे खडा हुआ है। यदि यहाँ रावण की तलाश करे तो हजारो मिलेगे इस देश मे भी मिलेगे और बाहर भी मिलेगे जहाँ कही भी तलाश करना चाहेगे, वही मिलेगे। आज शरीर की पूजा करने वाले हर जगह मिल रहे है, किन्तु राम का कही खोजने पर भी पता नही है। हमारे जीवन को उस सस्कृति की ओर प्रेरित करने वाला कही नही दिखलाई दे रहा है, जिस सस्कृति के अनुसार असत्य से लडा जाता है, व्यक्ति से नही। हमें रावण से नही, रावणत्व से लड़ना है वह जहाँ कही भी है, उससे लड़ना है।

राष्ट्रजीवन की दृढ़ता का सार्वजनीन सदेश :

विजयादशमीपर्व का मूल उत्स है राष्ट्र-जीवन की एकता का सार्वजनीन सदेश। जिस प्रकार से श्रीरामचन्द्र ने वन्य-पशुओ में एकता की स्थापना करके, उन्हे एक सूत्र मे समन्वित कर तथा उनमें स्वाभिमान की भावना जागृत कर दुष्कर से दुष्कर कार्य को बडी सुगमता से करवाया, ठीक आज के युग मे भी महात्मा गाँधी ने प्रसुप्त भारतीयो के अंतर में एकता की भावना जागृत करके, उनमे स्वाभिमान का भाव भरकर रावण जैसे अत्याचारी विदेशी शासनसत्ता से भारत को मुक्त कराया। अतः स्पष्ट है कि राम का वह एकता का राष्ट्रीय जीवन का, जातीय गरिमा का सदेश युगीन न होकर सार्वजनीन एव समास रूप से सार्वकालिक सदेश है। कोई भी राष्ट्र इसके बिना स्वतन्त्र नही रह सकता और न ही अपने राष्ट्रीय जीवन की मर्यादा को कायम रख सकता है।

दूसरी बात, जो राष्ट्रोत्थान के लिए बडा पवित्र विषय है, वह है न्यायपक्ष का समर्थन कर आततायियो का एक-एक करके सफाया करना। **'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया'** तथा **'परहित सरिस धरम नहीं भाई। परपीड़ा सम नहीं अधमाई।"** के आदर्श, कथन को जीवन-व्यवहार मे उतारकर न सिर्फ अपने राष्ट्र का, बल्कि समग्र विश्व का कल्याण सुगमता से किया जा सकता है। यही विजयादशमी का महान् सदेश है।

विजयपर्व की सफलता का मूल :

आपको मालूम है कि मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क, भावना

और विचार हजारो वार रावण का भी रूप धारण करते है और राम के रूप को भी ग्रहण करते है। हृदय मे जब अच्छी वृत्तियो का आविर्भाव होता है, तो हमारी बुरी वृत्तियाँ अपना सिर ऊँचा करके खड़ी हो जाती है, अच्छी वृत्तियाँ दब जाती हैं। इस रूप मे हमारे अन्दर निरन्तर सोते और जागते, राम-रावण का संघर्ष होता रहता है। ऐसी स्थिति मे आपको सोच लेना है और निर्णय कर लेना है कि आप किसकी पूजा करेंगे—राम की या रावण की? यह नही हो सकता कि हम मनके आसन पर एक तरफ भगवान् को बैठालें और दूसरी तरफ शैतान को भी बैठाले। दोनो एक साथ कभी भी नही बैठने वाले है। आपने आज तक दोनो को साथ-साथ विठलाने की कोशिश की है और इसी रूप मे विजयादशमी मनाई है। जब तक आप ऐसा प्रयत्न करते रहेगे और दोनो में से एक राम को चुन कर अपने हृदय में नही विठलाएँगे, तब तक आपका जीवन विरूप बना रहेगा। जब आप राम को हृदय मे विराजमान कर लेंगे, तभी विजयादशमी का यह राष्ट्रीयपर्व आपके जीवन में प्रेरणा का महान् तेज जगा सकेगा।

१९

ज्ञानपञ्चमी

जैन इतिहास के पृष्ठों में आज का दिन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण दिन है। यह दिन चमकता हुआ वह नक्षत्र है जो आज भी अपना उज्ज्वल प्रकाश फैला रहा है। बहुत लम्बा समय गुजर चुका है, फिर भी उसकी याद हमारे मस्तिष्क मे, आज भी ताजा है और जब तक जैन साहित्य और इतिहास का अस्तित्व इस भूमण्डल पर रहेगा, इस दिन का स्मरण किया जाता रहेगा।

हम उन महान् आत्माओ और आचार्यो के अत्यन्त ऋणी हैं, जिन्होने महान् साधना करके और युग की गति को पहचान कर विस्मृति के घोर अधकार में विलीन होते हुए श्रमण भगवान् महावीर के भव्य-उपदेश को मूर्त्त रूप देकर बचा लिया और मूलभूत जैन साहित्य को अक्षरस्वरूप प्रदान किया।

जैन इतिहास मे आज का दिन 'ज्ञानपञ्चमी या श्रुतपंचमी कहलाता है। हालाँकि शब्दरूप मे नाम दो हैं, किन्तु अर्थ दोनो का एक ही है, दोनो का एक मूलस्वर है।

प्राचीन आचार्यो की ज्ञान-साधना :

प्राचीन युग से ज्ञान की धारा, साधको के मस्तिष्क मे वहती चली आ रही थी। हमारा अग आदि के रूप मे जितना भी साहित्य था, लिखित रूप में नही था, सिर्फ साधको के मस्तिष्क मे ही था। गुरु ने कहा और शिष्य ने स्मृति से उसे हृदयगम लिया, बाहर का कोई भी साधन उन्होंने नही अपनाया। उस समय वाहर के साधनो की उन्हे आवश्यकता भी नही थी।

कितनी अच्छी स्मरणशक्ति होगी उन महान् आत्माओं की, कितना सुलझा हुआ और साफ मस्तिष्क रहा होगा ! तभी तो इतने विशाल साहित्य-भण्डार को वे अपने मस्तिष्क मे सुरक्षित रख सके। कितना विशाल साहित्य ! फिर भी उसे अपनी साधना से एक मस्तिष्क मे एकत्रित कर लेना, कितना कठिन कार्य था, अनुमान लगाया जा सकता है।

श्रुत का महासागर उनके मस्तिष्क मे वन्द था, वह निरन्तर एक मस्तिष्क मे से दूसरे मस्तिष्क मे उतरता रहा और एक पीढी से दूसरी पीढी मे वहता रहा।

कालचक्र वड़ा वलवान है :

किन्तु कालचक्र वडा वलवान है। समय की गति इतनी द्रुततर है कि यदि ठीक अवसर पर उसे न पकडा गया, तो वह हाथ से निकल जाता है। फिर मनुष्य चाहे कि उसे पालूँ, तो यह बहुत कठिन काम होता है। अतएव मनुष्य को सदैव समय का ध्यान रखना चाहिए। समय वदलता है, तो परिस्थितियाँ वदलती हैं और तव हमे भी वदलना पडता है।

समय किसी के लिए रुकता नही है। प्रत्यक्षत' देखा जा सकता है कि रेलगाडी समय पर आती है और नियत समय तक ठहर कर चली जाती है। रेल तो मनुष्य की सुविधा के लिए है और उसकी व्यवस्था मनुष्यो के ही हाथ मे है, इसलिए वह ठहरती भी है। किन्तु काल का प्रवाह किसी के हाथ मे नही है। वह किसी की सुविधा-असुविधा की परवाह नही करता। वह पल भर भी नही ठहरता। एक ओर से आता है और दूसरी ओर चला जाता है।

रेलगाडी भी नियत समय से अधिक आपकी प्रतीक्षा नही करती। गाडी का यात्री अपने मित्रो से मिलने-जुलने मे समय व्यतीत कर दे या इधर-उधर चला जाए, तो वह उसके लिए रुकने वाली नही है। वह तो समय पर आएगी और समय पर चली जाएगी। बाद मे यात्री की दौड केवल दौड ही रह जाती है और वह गाडी को पकड नही सकता। उसको दूसरी गाडी का इन्तजार करना पडेगा और इन्तजार मे उसका महत्त्वपूर्ण काम वर्वाद हो जाएगा।

समय की रफ्तार और भी तेज है। यदि समय का सदुपयोग करने की शक्ति नही पैदा हुई, मन मे बल नही आया, समय को पकडने की कला नही सीखी, तो समय का प्रवाह बहता रहेगा, और इन्सान पिछडता रहेगा। पछताना ही उसकी तकदीर में बच रहेगा।

किन्तु हमारे वे महान् आचार्य असावधान नही थे। उन्होने समझ लिया कि समय बदल रहा है और मस्तिष्क उतने साफ-सुथरे नही रहे हैं, स्मृतियाँ क्षीण होती जा रही हैं, अत उन्होने बुद्धि से काम लिया। इस प्रसग से सम्बन्धित एक ऐतिहासिक तथ्य है। पुराने युग मे एक आचार्य हुए हैं देवर्द्धि गणी। वे एकदिन सोठ का एक गाँठिया लाये। जरूरत के मुताबिक उसका उपयोग कर लिया और बाकी बचे हुए को कान में लगा लिया और सोचा कि फिर उपयोग कर लेगे। किन्तु वे उसका उपयोग करना भूल गये। प्रतिक्रमण करते समय वह गाँठिया कान मे से गिरा। तब उन्होने सोचा—इस गाँठिया का उपयोग बाद में करने का विचार किया था, किन्तु स्मरण नही रहा और दिन का समय निकल गया।

इस छोटी-सी घटना से उनके मन में बोध जगा। उन्होने विचार किया कि यदि कान में अटकाए हुए सोठ के गाँठिये को भी भूल गए, तो जो विशाल ज्ञान मस्तिष्क मे रखते आ रहे हैं, उसका क्या हाल होगा? लोगो की स्मरणशक्ति परिस्थितियो के कारण क्षीण होती जा रही है, ऐसी स्थिति में यदि प्रयत्न नही किया गया और समय रहते सावधानी न बरती गयी, तो इस महान् साहित्य के प्रति हम कृतघ्न हो जाएगे। विश्व की यह महान् निधि विस्मृति की अतल गहराई मे डूब जाएगी और फिर उसका कुछ भी उपयोग नही हो सकेगा।

बस, उस ज्ञान-भण्डार को सुरक्षित रखने के लिए तत्कालीन सब शास्त्रज्ञ मुनिराजो को निमत्रण दिया गया। जब सभी श्रुतधर सन्त एक जगह एकत्रित हुए, तो ऐसा कहा जाता है कि चिन्तन-मनन करने क बाद, आज के दिन सबसे पहले जैनाचार्यों ने कलम पकडी। किसी-किसी का कहना है कि लिखना पहले प्रारम्भ कर दिया गया था और आज के दिन उसकी पूर्णाहुति हुई।

चाहे शास्त्रो का लेखन आरम्भ हुआ हो, चाहे लेखन की पूर्णाहुति हुई हो, दोनो ही महत्त्वपूण प्रसग है। शास्त्रो के लेखन का आरम्भ भी महत्त्वपूर्ण है और पूर्णाहुति भी महत्त्वपूर्ण है और यह निर्विवाद है कि आज का दिन जैन इतिहास मे सदा स्मरणीय रहने वाला दिन है। यह दिन ज्ञान को ग्रहण करने का और उसे सुरक्षित रखने का दिन है। इस प्रकार ज्ञान के सुरक्षित होने पर जैन संघ मे अपूर्व उल्लास जगा था और यह दिन उसी का स्मरण कराता है।

हमे विचार करना है कि यदि उस समय के विचारशील और दीर्घद्रष्टा आचार्यो ने श्रुत को लिपिबद्ध न किया होता, तो आज हमारी क्या स्थिति होती ! हम उस महान् प्रकाश से वंचित रह कर अज्ञान के अन्धकार में ही टकराते फिरते और खोजने पर भी कही राह न पाते।

उस समय चौदह पूर्वो में से एक पूर्व का ज्ञान लिखा गया था और बाद मे बारह वर्षीय अकाल के समय वह भी विच्छिन्न हो गया। अंग और उपाग भी संपूर्ण रूप मे विद्यमान नही रहे और उनका भी बहुभाग विस्मृत हो चुका। श्रुत का यह थोडा-सा भाग, जो आज हमे उपलब्ध है, लिपिबद्ध न किया गया होता, तो हमें शास्त्र का कुछ भी रूप उपलब्ध न होता।

श्रुतपचमी का यह दिन इतिहास में बहुत प्रसिद्ध रहा है, बडा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। हजारो आराधक इकट्ठे होकर इसे मनाते रहे है। शास्त्रलेखन की पावन स्मृति को जगाए रखने के लिए हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक बडे हर्ष और उल्लास से इस पर्व की आराधना करते रहे हैं।

हमारे पर्वों का यह बहुत बडा महत्त्व है कि वे किसी न किसी आध्यात्मिक आदर्श को अपने सामने रखते है। उनके सामने खाने-पीने, पहनने-ओढने की भावना नही होती। यह सब चीजे जिनमें होती है, वे लौकिकपर्व हैं। और जिन मे ये भौतिक साधन नही होते, मात्र ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की विशुद्धि आदि आध्यात्मिक भाव ही होते हैं, वे लोकोत्तर पर्व है जैसे कि सवत्सरी। इस दिन हम अपनी भूलो को साफ करते है, चितन-मनन के द्वारा अपने मन को,

मन की गुत्थियों को सुलझा लेते हैं और जीवन में यदि कोई धब्बा लगा हो, तो क्षमायाचना और पश्चात्ताप के द्वारा उसे साफ कर डालते है। सवत्सरी का दिन क्षमायाचना के लिए तो है ही, किन्तु उसका भी मूल उद्देश्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की विशुद्धि करना है।

ज्ञान का आचार रूप :

जैनधर्म ने बहुत भव्य धारणाएँ हमारे सामने रक्खी हैं। उसने ज्ञान को भी आचार का रूप दिया है। लोगो ने ज्ञान को ज्ञान और आचार को आचार समझ रक्खा था और इस प्रकार विचार अलग और आचार अलग था। किन्तु जैनधर्म ने ज्ञान को भी आचार मे सम्मिलित करके एक महत्त्वपूर्ण आदर्श संसार के समक्ष प्रस्तुत किया है। हमारे यहाँ पाँच प्रकार के आचार है (१ ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार (३) चारित्राचार (४) तप आचार और (५) वीर्याचार। जो इन पाँच आचारो का स्वयं पालन करता है, दूसरो से पालन करवाता है, और पालन करने वालो का अनुमोदन करता है, वह आचार्य है।

पाँच आचारो मे सबसे पहले ज्ञानाचार आया है। अत ज्ञान को हमने प्रथम आचार का रूप दिया है। ज्ञान हमारे यहाँ कोरा ज्ञान ही नही, मस्तिष्क का व्यायाम और बुद्धि का उतार-चढाव ही नही है, बल्कि ज्ञान जीवन के कल्याण का सर्वोत्तम साधन है। अभ्यास और चिन्तन के द्वारा पुराने शास्त्रो का मनन करके जीवन की गुत्थियो को सुलझाने की कोशिश की जाती है और फिर सिद्धान्तो को माँजकर सामने रक्खा जाता है। और इसके आधार पर मानव को अच्छी शिक्षा देकर अच्छा साधु या गृहस्थ बनने की प्रेरणा दी जाती है तथा अपने ज्ञान के प्रकाश से जनसमूह को सन्मार्ग का प्रदर्शन किया जाता है। अत यह ज्ञान का उत्तम आचरण है। ज्ञान का यह आचरण जीवन को इतना पवित्र बनाता है कि किसी अन्य मार्ग से उतनी पवित्रता प्राप्त नही हो सकती। एक आचार्य कहते हैं

"जीवत्यर्थदरिद्रस्तु धीदरिद्रो न जीवति।"

तात्पर्य यह है कि मनुष्य धन-सम्पदा के मोह मे फँसा है। वह सफलता और प्रतिष्ठा पाने के लिए, धन प्राप्ति के लिए प्रयत्न में लगा रहता है। धन का सग्रह करता है, खजाने भरता है। और खजाने भरकर विचारता है कि मैंने लक्ष्मी प्राप्त करली है, अत

मेरी दरिद्रता दूर हो गई अव। किन्तु आचार्य कहते है कि जो धन से गरीव है और दरिद्रता मे जीवन गुजार रहा है, उसके पास जीवन के कोई भी साधन नही है, फिर भी वह अपनी जीवन नौका अपनी बुद्धि से खे सकता है, तो समझ लो, उसके पास सब कुछ है। यदि मनुष्य के पास ज्ञान है, बुद्धि है, तो सब कुछ है। किन्तु जो बुद्धि से दरिद्र है, ज्ञान से गरीब है, जिसे अपनी गुत्थियो को सुलझाने की और अपने परिवार एव राष्ट्र की समस्याओ को हल करने की बुद्धि नही है, वे समय पडने पर कठिनाइयो मे फँस जाते है और अन्धकार से घिर जाते हैं। ऐसे लोग यदि कभी समस्याओ को समझने का प्रयत्न करते है, तो न उन्हे कोई सूझ मिलती है और न कोई विचार ही आते हैं। उस अन्धकार मे ज्ञान की एक भी किरण नही चमकती है। फिर, उस महती धन-सम्पदा का क्या उपयोग हो सकता है। ज्ञान के अभाव में यह धन-दौलत किसी काम की नही।

वस्तुत ऐसे लोग ही दरिद्र है, जो ज्ञान से शून्य हैं। जो ज्ञान से दरिद्र है, वे ससार में सुखी नही रहते। और जो परिवार, समाज और देश ज्ञान से दरिद्र नही है, ऊँचे विचारो का है, सभव है उनके पास धन जैसा कुछ भी न हो, किन्तु समय आने पर वे वडे ऊँचे स्थान पा जाते है। एक दिन सारी दुनिया को वे अपने बुद्धि-कौशल और ज्ञान के चमत्कार से मात कर देते हैं।

सृष्टि का नियामक : ज्ञान :

व्यक्ति, समाज और देश का उत्थान एव अस्तित्व ज्ञान के सहारे ही टिका हुआ है। शुरू में मनुष्य का जीवन युगलियो के रूप मे था। उनके पास केवल शरीर था, जिसका पालन वे वनफलो को खाकर करते थे। उनके पास इसके अतिरिक्त और कोई चीज नही थी। किन्तु भगवान् ऋषभदेव के द्वारा जीवन मे चेतना मिली, नया ज्ञान मिला और जीवन को समझने के लिए नयी बुद्धि मिली। और, आज हम दुनिया के जिस स्वरूप को देख रहे है, आखिर यह कहाँ से आई ? यह मनुष्य की बुद्धि का चमत्कार नही तो और क्या है ? आज ससार मे इतने विशाल महल खडे हैं, तरह-तरह के धान्य और फूल-फल तथा जीवन की विविध सामग्रियाँ आज विद्यमान हैं, यह सब मनुष्य की

बुद्धि का ही चमत्कार है। विश्व का सर्वतोमुखी विकास मनुष्य की सर्जनात्मक भावना एव विस्तृत ज्ञान का ही परिणाम है।

मानव जाति के विकास क्रम को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि मनुष्य ने अपनी ज्ञानशक्ति से स्वय को बनाया और अपने पैरो पर खडे रहने की तैयारी की। आज लाखो पुस्तकें है, विविध शास्त्र है, उनको हम भूल नही सकते। हम देख रहे है कि आज दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक रेलें दौड रही हैं, आकाश मे वायुयान दौड रहे है, चन्द्रयान आकाश-मण्डल को बेध रहा है, आखिर यह सब किस चीज का परिणाम है?

यह सब मनुष्य की बुद्धि की ही उपज है। जरा सोचिए तो सही कि ऐटमबम बडा है या मनुष्य की बुद्धि बडी है? लोग ऐटमबम (अणुबम) से घबडाते है, भयभीत होते है, वस्तुतः अतीव भयानक सहार उसकी बदौलत होता है। किन्तु ऐटमबम को जन्म देने वाला कौन है? किसने इसका विकास किया है? मनुष्य ने ही तो! अत सिद्ध है कि ऐटमबम बडा नही, मनुष्य का मस्तिष्क ही बडा है। और, मनुष्य के मस्तिष्क में केवल हड्डी, मास एव चर्बी ही नही, बल्कि इसमें आत्मा की ज्योति प्रकाश कर रही है, और उसने ही इस विराट् विश्व का वैभव खडा किया है। इस प्रकार हम विचार करते हैं कि संसार में बुद्धि का वैभव ही बडा है। एक आचार्य कहते हैं

"तपोभिराढ्यां विभवैर्दरिद्राः।"

जो व्यक्ति विचारो में ऊँचा था, जिसे तपोधन प्राप्त था, जिसके पास तप और ज्ञान का अक्षय कोष था, किन्तु पौद्गलिक धन की दृष्टि से भले ही वह गरीबो में रहा हो, सम्भव है, उसके पास एक दिन के खाने का भी प्रबन्ध नही रहा हो, किन्तु जो अपने विचारो मे धनाढ्य रहा, बडे-बडे महल भी उसके चरणो में झुके और दुनिया की बडी-बड़ी शक्तियाँ भी उसके चरणो में नत मस्तक हुई।

भावी पीढ़ी का निर्माण :

आज सबो को मिलकर गहराई से विचार करना है कि अपनी सन्तान के लिए, अपनी आने वाली पीढी के लिए, जितनी चिन्ता धन की की जाती है, उससे ज्यादा चिन्ता बुद्धि और विचार देने की की जाती

है या नही ? यदि आपने व्यक्ति की ज्ञान की गरीबी को दूर कर दिया है, तो वह जो चाहेगा, प्राप्त कर सकेगा। एक कहावत है कि

"पूत सपूतां क्यो धन सचै ?
पूत कपूतां क्यो धन सचै ?"

यदि पूत कपूत है, उसमे बुद्धि नही है, समाज और परिवार के गौरव को अक्षुण्ण रखने की योग्यता नही है, अपने जीवन को उसने क्षुद्र बना लिया है और अपने घर की क्षुद्र सीमा मे ही वह क्षुद्र होकर रह गया है, उसमे बुद्धि नही आई है, तो वह धन का सचय क्योकर करने लगा ? उसके लिए लाखो और करोडो का धन इकट्ठा करके रख दिया जाएगा, तब भी क्या होगा ? तेरे मरने के बाद वर्ष-दो वर्ष भी नही गुजरने पाएँगे कि सारा धन बर्बाद हो जाएगा, वह सब कुछ साफ कर देगा, तेरा सारा संचय चौपट हो जाएगा।

एक चक्रवर्ती का कितना बडा साम्राज्य होता है ? वह छह खण्ड का अधिपति होता है और सूर्योदय एव सूर्यास्त के बीच की दुनिया उसके छत्र के नीचे आ जाती है, किन्तु क्या चक्रवर्ती का पुत्र भी कभी चक्रवर्ती बना है ? जिसके बाप-दादा चक्रवर्ती नही थे, उसे चक्रवर्ती बनने में तो देर नही लगती, किन्तु चक्रवर्ती का पुत्र कभी चक्रवर्ती नही बनता।

अत इस विचार को मन से हटा देना चाहिए कि पिता पुत्र को जो धन सौप जाता है, वह ज्यो का त्यो बना रहता है। पिता प्रचुर सपत्ति संचित करके पुत्र को सौंप जाए, किन्तु यदि वह अपने पुत्र को सम्पत्ति का सदुपयोग करने की बुद्धि नही दे गया है, उचित व्यवहार करने की कला नही दे गया है, न्यायपूर्वक कमाने और समाज को अर्पण करने की वृत्ति नही दे गया है, सिर्फ धन पकडा गया है, तो वह धन कदापि सुरक्षित नही रह सकता। अतएव पूत यदि कपूत है तो धन का सचय करके रख जाना वृथा है।

यदि पूत सपूत है, पुत्र में ज्ञान है, कला है, सदाचार है और कोई दुर्व्यसन नही है, तो धन का सचय करने की चिंता क्यो कर की जाए ? क्योकर दगा-फरेब किया जाए ? मानव ! क्यो दिन रात हाय पैसा, हाय पैसा कर रहा है ? यदि तूने अपनी सन्तान का जीवन बना

दिया है, तो चिंता किस बात की है ? तू परिवार के दस-बीस आदमी भी सभला कर जाएगा, तो भी वह सभाल लेगा और सभव है कि वह सैकडों का जीवन भी बना दे। राष्ट्र के जीवन में भी परिवर्तन ला दे और लाखो करोडो का भाग्य उसकी मुट्ठी मे आ जाए। तू वर्तमान में जो कुछ भी देख कर जा रहा है, उसे उससे भी महान् बनना है। अतएव तू उसके लिए चिंता मत कर। वह धन से महान् बनने वाला नही है, बल्कि धन की तो वह परोपकार यदि शुभ कार्यो मे पहले आहुति दे करके आगे चरण बढाएगा।

अतः तेरे सामने एक ही प्रश्न है कि तू अपने पुत्र या शिष्य को क्या कुछ देकर जाता है ? उसे किस प्रकार बडा बनाता है ? यदि बडा बनाता है, तो बल्लियो के सहारे तो बडा नही बनाता है ? बैसाखी पकड कर कोई कब तक बडा बना रहेगा ? जो पुत्र या शिष्य बैसाखियो के सहारे चलता है, वह लूला और लगडा है, वह जीवन की दौड नही लगा सकता। मनुष्य मे इतना बल होना चाहिए कि उसे बैसाखी का सहारा न लेना पडे, परावलम्बी न होना पडे। वह स्वयं अपने सहारे तन कर चल सके और दूसरो को सहारा दे सके, यदि अपने पुत्र या शिष्य मे ऐसी योग्यता उत्पन्न कर दी, तो उनके लिए धन की चिंता करने की आवश्यकता नही है। अतएव उन्हे ज्ञान के द्वारा बलवान् बनाइए। ज्ञान ही सबसे बडा धन है। कहा है

"न ज्ञानतुल्य किल कल्पवृक्षो, न ज्ञानतुल्या किल कामधेनुः
न ज्ञानतुल्य किल कामकुम्भो, ज्ञाने न चिन्तामणिरप्यतुल्या ॥"

ससार में कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकलश और चिंतामणि रत्न बहुत बडी चीजे समझी जाती है, हालांकि उन्हे किसी ने नही देखा है। किन्तु इन सब से बढकर एक चीज है, और वह है ज्ञान। इनमे से कोई भी ज्ञान की बराबरी नही कर सकता। फिर इन्हे पाने की कल्पना तो कोरी कल्पना ही हो सकती है, किन्तु ज्ञान को प्राप्त करना अपने हाथ की बात है।

ज्ञान की सर्वोपरि सत्ता :

आशय यह है कि संसार मे ज्ञान ही सबसे बडी शक्ति है। किन्तु आज के युग में ज्ञान की महिमा भुला दी गई और उसके स्थान पर दूसरी चीजें आ गई हैं। कर्म आठ होते है और संसारी जीव प्रतिक्षण

सात कर्म तो बाँधते ही रहते हैं, किन्तु आज उनमें से दो ही कर्म याद रह गए हैं एक वेदनीय और दूसरा अन्तराय। जब कोई मिलता है, तो देखते है कि उसे दो ही कर्मो की चिन्ता है। एक तो अपने सुख-दुःख की चिन्ता रहती है, अर्थात् वेदनीय कर्म की फिक्र रहती है और दूसरे कुछ न मिलने की अर्थात् अन्तराय कर्म की चिन्ता रहती है। लोगो को और कर्मो की चिता नही होती। उनसे भी लडना है या नही, यह विचार नही होता। उन्हे तो वेदनीय और अन्तराय कर्म से ही लडना है, ताकि ससार का बढिया से बढिया सुख और धन-सम्पत्ति मिल जाए। किन्तु वेदनीय और अन्तराय कर्म से लडने के लिए भी बुद्धि और विवेक की आवश्यकता है। आठ कर्मो मे सबसे भयकर तो ज्ञानावरण कर्म है। अत. शास्त्रकारो ने उसकी सबसे पहले गणना की है। अन्तराय वगैरह कर्मो को पहले स्थान नही दिया गया है? ज्ञानावरणीय कर्म को प्रथम स्थान और महत्व क्यो दिया गया है। इसलिए कि ससार के समस्त त्रास और दुख अज्ञान मेंदुख का मूल अज्ञान से ही जन्म लेते है।

दुःख का मूल : अज्ञान :

जब कोई भी व्यक्ति या समाज अज्ञान मे रहता है, तो दुनिया भर के पाप और दुख उसके गले पड जाते हैं। वह उनसे छुटकारा पाने की लाख कोशिश क्यो न करे, ज्ञान के अभाव मे कदापि सफल नही हो सकता। वह एक दुख को दूर करने जाएगा, तो दूसरे अनेक दुख उससे चिपट जाएँगे।

एक दुख से लडते-लडते बेहाल हो रहे हैं और उसे समाप्त नही कर पाये कि इतने मे दूसरा दुख सामने खडा हो जाता है। इस प्रकार दुखो से कैसे लडा जाएगा? दुखो से लड कर यदि सफलता पानी है, दुखो मे पिण्ड छुडाना है, तो ज्ञान का ही सहारा लेना पडेगा, ज्ञान के द्वारा ही दुखो से सफलतापूर्वक लडा जा सकता है। ज्यो ही ज्ञान का अपूर्व प्रकाश मिला, चिन्तन और मनन का विकास हुआ कि आठो कर्मो के कल पुर्जे ढीले होने लग जाते हैं। ज्ञान की चमक आते ही अज्ञान और दुख की समस्याओ का स्वत समाधान हो जाता है।

ज्ञान : आनन्द का अक्षय भंडार :

दुख मिले या सुख , ज्ञानवान् पुरुष दुख को भी सुख बना लेता है।

ज्ञान एक ऐसा दिव्य यंत्र है, जिसमें दुख भी सुख के रूप मे ढल जाता है। और जिसे ज्ञान की कला प्राप्त नही है, वह सुख को भी दुख बना लेता है, वह प्रत्येक दशा मे हाय-हाय करता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष सुख मे भी आनन्द मानता है,दुख मे भी आनन्द मानता है। उसे सब कुछ प्राप्त है,तो भी आनन्द मानता है और कुछ भी प्राप्त नही है, तो भी आनन्द मानता है। यदि फूलो पर चल रहा है, तब भी आनन्द मे है और कांटो में घसीटा जा रहा है, तो भी आनन्द मे है। दुख के समय भी मधुर मुस्कान उसके होठो पर खेलती रहती है, और सुख के समय भी वही मुस्कान दिखाई देती है। आनन्द प्राप्त करने की यह दिव्य कला ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। बाहर का संघर्ष कभी भी शान्ति नही देता। हाँ, संघर्ष यदि ज्ञानवरणीय कर्म से हो,जो इस जीवन को और अगले जीवन को भी बिगाडता है, तो अवश्य सुखकर हो, किन्तु यह अज्ञान की स्थिति में कभी संभव नही है। इसके विपरीत ज्ञान अनन्त-अनन्त भवो को सुधारने वाला है। अनन्त और अक्षय काल तक आनन्द देने वाला है।

यदि तुम्हे दूसरे कर्मों को तोडने की फिक्र है, वेदनीय और अन्तराय कर्मो को दूर करने की चिन्ता है और उसके लिए जप-तप करते हो, देवी-देवताओ की मनौती करते हो, किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म को तोडने के लिए कुछ भी प्रयास नही करते, तो समझो यह घोर अज्ञानता है, बडी भयकर अज्ञानता है। जब तक यह टूट नही जाती, ज्ञान की कला का उदय नही होता, तब तक कुछ नही हो सकता। तुम्हारे मनोरथ तब तक पूरे नही होगे।

एक सेठ था। उसके कई लडके थे। सेठ बूढा हो चुका था। और, अब दुनिया से चल देने की तैयारी मे था। एक समय उसे विचार आया मैं भरा-पूरा घर छोड कर जा रहा हूँ। मेरी साँस निकलने वाली है। क्या मेरे पश्चात् मेरे लडके इस घर को सम्भाल सकेंगे ? मेरे गौरव को सुरक्षित रख सकेंगे। और बूढा सेठ इसी विचार मे रहने लगा।

सेठ बीमार पडा, तो उसके चेहरे पर उदासी छाई रहती थी। यह देखकर लडको ने तथा दूसरे लोगो ने भी कहा आपका आखिरी

समय आ चुका है। प्रसन्नता के साथ विदा होना चाहिए। किन्तु आपके चेहरे पर अशान्ति मालूम होती है। इसका क्या कारण है?

सेठ ने कहा मेरी चिंता का कारण यह है कि घर खाली पड़ा है। मैंने उसे भरने के लिए वर्षों प्रयत्न किया, किन्तु देखता हूँ कि वह आज भी खाली पड़ा है। मैं इस घर को खाली छोड़कर जा रहा हूँ। कोई यदि इसको भर दे, तो मैं शांति के साथ विदा हो सकता हूँ।

लड़कों ने कहा यह कौन बड़ी बात है? लीजिए, अभी घर को भर देते हैं, क्या देर है?

एक लड़का गया और दुनिया भर का फर्नीचर आदि सामान ले आया। पर घर भरा नहीं गया। तब दूसरा लड़का घास लाया और तीसरा कूड़ा ले आया। सब पिता का घर भरने लगे। पिता ने यह देखा तो कहा यह कूड़ा-कचरा किसलिए लाए हो? फेंको इसको बाहर। क्या इसी से घर भरोगे?

पिता का आदेश पा कर घर साफ कर दिया गया। किन्तु लड़कों ने कहा 'फिर, घर भरें तो कैसे भरें?'

चौथा लड़का, जो सबसे छोटा था, परन्तु चिन्तनशील था, वहीं बैठा रहा। वह कहीं नहीं गया। उसने सोचा—'पिताजी बड़े विचार-शील हैं। और ये समग्र परिवार के लिए चेतनारूप हैं। अब इनकी बुद्धि खराब हो गई हो, ऐसा नहीं हो सकता। कोई न कोई विशेष बात जरूर ही इनके दिल में खटक रही है।

अन्य लड़के जब कह रहे थे, कि बुड्ढे की मति मारी गई है। वह कभी मकान भरने को कहता है, तो कभी खाली करने को कहता है। इसी बीच छोटा लड़का गया और प्रत्येक कमरे में दीपक जला आया। सारा घर भीतर से बाहर तक दीपकों के प्रकाश से जगमगा उठा। और इसके बाद वह पिता के पास आया और बोला अब सारा घर प्रकाश से भर गया है, कोई जगह खाली नहीं है। कहिए, आपकी आशा पूरी हुई या नहीं? कोई कसर रह गई हो, तो कहिए।

पिता ने जाकर देखा। उसे संतोष हुआ। लड़के की पीठ थपथपाई और कहा तुम मेरे आशय को समझ गए। मकान को कूड़े-कचरे से भरने की जरूरत नहीं है। तुमने सही सोचा है। इस घर को प्रकाश से परिपूर्ण बनाए रखना है ज्ञान से भरना है।

भगवान् महावीर ने भी अपने शिष्यो और अन्य लोगो से यही कहा है 'मन को भरा रखना, खाली मत रखना।' परन्तु लोग जब भरने चले, तो कोई क्रोध से भरने लगा, कोई मान और माया से भरने लगा और कोई लोभ और वासना से भरने लगा। इस प्रकार दुनिया भर का घास-फूस और कूडा-कचरा भरा जाने लगा, किन्तु उस महान् पिता की यह आज्ञा नही थी। वे तो उसे ज्ञान से भरने की बात कहते थे, ज्ञान के प्रकाश से मन के कोने-कोने को जगमगाने की बात करते थे। इस प्रकार जब मन को ज्ञान के प्रकाश से भरा जाएगा, तो वह खाली नही रहेगा और जीवन मंगलमय बन जाएगा।

ससार के सुख-दुख की चिन्ता क्यो है तुम्हे ? यदि जीवन की कला तेरे हाथो मे आ गई है, तो स्वर्ग की कल्पना कर सकोगे और उस स्वर्ग को उतार कर यही ला सकोगे।

जब तक अज्ञान है, मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग की तलाश करता है, किन्तु ज्ञान का उदय हो जाने पर मरने के बाद स्वर्ग की चिन्ता नही रहती, वर्तमान जीवन ही स्वर्ग, और स्वर्ग से भी बढकर बन जाता है।

तो स्मरण रखिए, आपको अपने मन को भरना है, किन्तु गन्दगी से नही भरना है, बल्कि ज्ञान के पावन और उज्ज्वल आलोक से भरना है। यही श्रुतपचमी का महत्त्व है। आपके पास यदि ज्ञान है, तो ससार भर का वैभव आपके पास है, और ज्ञान नही है, तो कुछ भी नही है।

एक सेठ का बडा ही शानदार महल था। उसमे धन-सम्पदा का ठाट लगा था। पुत्र, पुत्रियो का भरा-पूरा परिवार था। सेठ ऐसा भाग्यवान था कि लडक और नौकर-चाकर इशारे पर नाचते थे। किन्तु दुर्भाग्य से वह सेठ एक दिन पागल हो गया। उसने तोड-फोड शुरू कर दी। बहीखाते फाड डालना तथा चाहे जिससे भी लड पडना, उसका सामान्य काम हो गया। नतीजा यह हुआ कि सेठजी को साँकलो से बाँधकर कोठरी मे डाल दिया गया।

एक दिन वह सेठ अपने घर का बादशाह था, जिसकी भौंह के चढते ही लोग काँपते थे। आज पागल होने पर उसी की यह दशा हा गई।

उसे मांगलिक सुनाने के लिए मुझसे कहा गया। मैं गया, देखा, वह कैदी की तरह कमरे मे बन्द था और अपने परिवार के दिए गए त्रास को सहन कर रहा था। बेटा आता, तो धमका कर चला जाता। और तो क्या, नौकर-चाकर भी डाँट-फटकार बतलाते थे। पत्नी भी दो-चार कडवी बात कह सुनकर चली जाती। अब आप सोचिए कि क्या बात हुई? धन तो उसके पास अब भी था, कही चला नही गया था। महल भी उसी के नाम पर लिखा हुआ था और फर्म का कारोबार भी उसके नाम से ही हो रहा था। मैने सोचा, सब कुछ है, किन्तु वुद्धि ठिकाने नही है, तो कुछ भी नही है।

कल्पना कीजिए, एक देवता आपके पास आता है और कहता है 'जितनी धन-दौलत और सुख-सम्पदा चाहिए, वह सब ले ले, मैं सब कुछ दे दूँगा, किन्तु बदले मे तुम्हारी वुद्धि ले लूँगा'। इस प्रकार एक ओर ससार का वैभव दिया जाए और दूसरी ओर ज्ञान का अपहरण कर लिया जाए, तो क्या आप यह पसन्द करेगे? मैं समझता हूँ कि आप वुद्धि देकर ऋद्धि लेना पसन्द नही करेगे। आप यही सोचेगे कि पागल बन कर धन-वैभव से क्या सर फोडोगे? पागल धन-सम्पदा का क्या करेगा? वह तो नगा रहेगा, कपडे फाडेगा और धन हाथ लग जाएगा, तो उसे सडक पर फेंक देगा।

अत यह सीधी-सी बात है कि जिसके पास जरा भी वुद्धि है और जो पागल नही है, वह तो यही कहेगा 'अपनी धन-दौलत और वैभव अपने ही पास रहने दे। हमारे तो दो हाथ ही यथेष्ट हैं। हम अपने हाथो से कमा-खा लेगे। हमे पागल नही बनना है।'

आशय यह है कि मनुष्य भले धन-वैभव की कामना करता हो, परन्तु उससे भी पहले वुद्धि और ज्ञान की कामना करता है। यही बात समाज के विषय मे है। जिस समाज में ज्ञान की चेतना आ जाती है, उसकी उन्नति अवश्य होती है। भगवान् महावीर ने कहा

"ऐ साधक! तेरा प्रयत्न, पुरुषार्थ, चिन्तन-मनन, और तपश्चरण आदि सब ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने के लिए है और अज्ञान तथा मोह को दूर करने के लिए है। यदि तूने अपने जीवन में उस साधना को पूर्ण कर लिया है, तो सभी कुछ मिल जाएगा, किसी चीज की कमी नही रह जाएगी। तू जो चाहेगा वही हो जाएगा, । अलबत्ता अपना

उत्तरदायित्व निभाने की जरूरत है, जिसे ज्ञान को प्राप्त करके ही निभाया जा सकता है।"[1]

ज्ञान का माहात्म्य निर्विवाद है। सभी लोग ज्ञान की महिमा गाते हैं और उसकी प्रशसा के गीत गाये जाते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि आज के समाज मे चतुर्दिक् अज्ञान छाया हुआ है। और समाज को अज्ञान का घुन लगा हुआ है। तथा सम्पूर्ण देश अज्ञान के अन्धकार में भटक रहा है।

ज्ञान : आध्यात्मिकता का प्रथम चरण :

जब तक अज्ञान दूर नही होता, आत्मा एक पग भी आगे नही बढ सकती। वह कितनी ही कठिन तपश्चर्या करे, साधना करे और निराहार रहे, अज्ञान हटे बिना लेश मात्र भी उसका विकास नही होता। इस प्रकार आध्यात्मिक विकास का आरम्भ भी अज्ञान के हटने पर ही होता है। अत लौकिक और लोकोत्तर, दोनो प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने के लिए ज्ञान ही सबल साधना है।

अज्ञान को दूर करना है, तो शास्त्रो का मनन करो, चिन्तन करो, ज्ञानवानो का सत्संग करो और अपने में आध्यात्मिक भावनाओ का विकास करो।

धन्य है वे, जो ज्ञान के प्रकाश के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। भाग्यशाली हैं वे लोग, जो ज्ञान के सौरभ को विखेरते हैं। पुण्यशाली है वे जो ग्रन्थो और शास्त्रो का सग्रह करते हैं और दूसरो को ज्ञान चेतना देते हैं। भाग्यवान् है वे, जो सासारिक दृष्टि से कष्ट मे रहते हुए भी निरन्तर पठन-पाठन करने में और ज्ञान की उपासना करने में निरत रहते हैं। बडा भाग्य है उनका, जो समाज में ज्ञान की वृद्धि करते है, जीवन की समस्याओ को समीचीन समाधान देते हैं और जहाँ कही भी जाते हैं, दीपक की रोशनी की भाँति स्वय जगमगाते है। और, जिस गली या घर मे जाते हैं, वहाँ रोशनी विखेर देते हैं। वे दुनिया के जिस किसी कोने मे जाते हैं, अपने देश और समाज की प्रतिष्ठा में चार चाँद

१ नाणस्स सव्वस्स पगासणाए।
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ॥
उत्तराध्ययन, ३२

लगा देते हैं। वे धन्य और महान् हैं, जो निरन्तर ज्ञान की आराधना करके स्व-पर के जीवन को आलोकमय और आनदमय बना देते हैं।

इसके विपरीत जिसके अदर ज्ञान का अभाव है। जिसके भीतर आत्मा का प्रकाश प्रदीप्त नही हुआ है, वह स्वय तो अधकार मे रहेगा ही, जहाँ कही भी जाएगा, अज्ञान का अंधकार फैलाकर वहाँ के वातावरण को भी अंधकार के गर्त मे डुबो देगा। और, वहाँ यदि एक भी व्यक्ति प्रकाशवान् होगा, तो समझ लीजिए इस अंधकार का फैलाने वाले व्यक्ति की स्वयं की तो अवमानना होगी ही, जिस देश या समाज से वह गया है, उसे भी कलंकित किए बिना नही रहेगा।

अत स्वय सम्मान का जीवन प्राप्त करने के लिए, समाज एवं राष्ट्र को सम्मानित करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सतत अध्ययन, मनन एवं चिंतन की साधना से अपने अंदर ज्ञान का प्रकाश प्रज्ज्वलित करे और प्रोद्द्योत प्रकाश से अपने समाज, राष्ट्र एवं तदनन्तर समस्त विश्व को प्रकाशित करे, सही मार्ग-दर्शन दे। ज्ञान-पञ्चमी का यही सबसे बडा सदेश है, यह सबसे बड़ी गरिमा है।

अजमेर, १९५३ ई०

१९
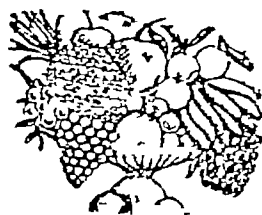
अक्षय-तृतीया

जैन धर्म मे, आज के पुण्यमय दिवस का बडा माहात्म्य है। जैन धर्म मे ही क्यो? हमारे पडोसी धर्मों में भी इसका महत्त्व कम नही आँका जा सकता है। आज के मंगलपूर्ण दिवस को अक्षय तृतीया के नाम से पुकारा जाता है। जैन धर्म के अनेको ग्रन्थो मे, जहाँ इसके माहात्म्य का वर्णन है, वहाँ वैदिक धर्म के पुराणो मे भी इसका माहात्म्य कम नही है। जैन संस्कृति मे अक्षय तृतीया तप शक्ति का प्रतीक माना जाता है। तपोहिमगिरि पर कौन कितना ऊँचा चढ सकता है, यह चढने वाले व्यक्ति की शक्ति का मापदण्ड है। जैन धर्म के शास्त्रो में इससे लम्बा तप अन्य कोई नही माना गया है। इस तप को वर्षी तप भी कहा जाता है। और उसका पूरक दिन अक्षय तृतीया ही है।

अक्षय तृतीया का ऐतिहासिक महत्त्व :

आज के दिवस के महत्त्व को समझने के लिए हमें भारत के हजारो-लाखो वर्ष पुराने अतीत की गहराई मे जाना होगा। भारत के उस पुरातन इतिहास के पन्ने खोलने होगे, जिनमें मानव ने पुरुषार्थ की, श्रम की प्रथम बार अँगडाई ली थी। जब हम अतीत की गहराई मे पैठते हैं, तो हमे उस आदिकालीन स्थिति का स्मरण हो आता है, जो युगलियो के नाम से चली आ रही थी। युगलियो का जीवन केवल अपने शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति तक ही सीमित था। उनकी संख्या के अनुपात से उस युग में प्राकृतिक साधन उन्हे पर्याप्त मिल जाते थे। अतः उन्हे अपनी शरीरगत आवश्यकताओ की पूर्ति के

लिए सघर्ष नही करना पडता था। नदी, निर्झर और सरोवरों का निर्मल जल, ऋतु के अनुसार वृक्षो पर लगे फल और सोने-बैठने को वृक्षमूल, बस, यही तो उनके जीवन की आवश्यकताएँ थी। फिर सघर्ष होना ही क्यो ? सघर्ष का जन्म तो अभाव से होता है। और तत्कालीन सीमित आवश्यकता की पूर्ति के साधनो का अभाव उस युग मे था नही।

जैन इतिहास की भाषा में उस युग को कल्प-वृक्षो का युग कहा जाता है, और शास्त्र की परिभाषा मे उस युग को भोग-भूमि कहा है। विचारने और सोचने की बात है कि भोग-भूमि का अर्थ क्या है ? जहाँ पर शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ भी श्रम करना न पडे, नून-तेल और लकडी की जहाँ जरा भी चिंता न हो, उदर की ज्वाला से लडने को जहाँ हाथ-पैर हिलाने न पडें, उसी स्थिति को, उसी अवस्था को और उसी युग को भोग-भूमि कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उस युग मे मानव जाति इतने लघु रूप से चल रही थी कि प्रकृति के भण्डार में उसको किसी बात की कमी का अनुभव नही करना पडता था।

परन्तु काल की गति बडी विचित्र है। उसका चक्र निरन्तर गतिशील रहता है। चाहे दुनिया बने या बिगडे। चाहे सुख के झूले में झूलती रहे अथवा वह दुख मे कराहती रहे। फिर भी काल की गति क्षण भर को भी बन्द नही होती। वह चुप होकर कभी बैठना सीखी ही नही।

जरा सोचिए तो, यह जीवन का परखा हुआ सत्य है कि जब जन-सख्या बढ जाती है, खाद्य पदार्थो की कमी होने लगती है, तब मानव, मानव न रहकर दानव बनने लगता है, परस्पर लडने-झगडने लगता है। कल्पना कीजिए, जनसख्या १, २, ४, ८, १६, और ३२ के क्रम से बढती रहे और भोजन सामग्री मे यथोचित विकास न हो, और यदि हो भी तो १,२,३,४,५,६ के क्रम से हो, तो ससार की स्थिति क्या होगी ? मेरा तो यह स्पष्ट विचार है कि ससार का कोई भी धर्म ऐसी स्थिति में शान्ति नही दे सकता। भूख से तडपती जनता को धर्म कैसे शान्ति दे सकता है ? उसे तो पहले रोटी चाहिए। सस्कृत के किसी कवि ने कहा है 'पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिना

सम्भवन्ति ।' यह धर्म, यह कर्म, यह योग, यह जप और यह तप तभी तक आनन्द प्रदायी है, जब तक पेट की चिन्ता नही हो। पेट की चिन्ता होते ही ये सब कपूर की भाँति न जाने कहाँ उड जाते है। पेट की दवा आखिर रोटी ही है। "चरैवेति" का पाठ पढा ही है। निरन्तर चलते रहना ही जीवन है। परिवर्तन, सशोधन और परिवर्धन जीवन मे होते ही रहते हैं। काल ने युग को कभी एक रूप में नही रहने दिया है। भगवान् ऋषभदेव के युग में जनसख्या मे प्रचुर वृद्धि होने लगी, प्रकृति के भण्डार खाली होने लगे। खाद्य सामग्री की कमी ने उस युग के मानव को पहली बार अपनी समस्या पर सोचने को विवश किया। उपभोग्य वस्तु अल्प और उपभोक्ता अधिक। स्थिति बदली, सघर्ष आरम्भ हुआ। तत्कालीन मानव लडना चाहता नही था, पर भोजन के अभाव ने उसे लडने को मजबूर कर दिया। अभी तक मानव-मानव में जो प्रेम के मजबूत धागे थे, वे टूटने लगे। ईर्ष्या-द्वेष और क्रोध के ताप से मानव जलने लगे। छीना-झपटी होने लगी। उदर पूर्ति की लालसा मे मानव का स्वाभिमान नाम शेष हो गया। इतिहास के इन पन्नो को जब तक हम भावना के नेत्रो से पढना न छोडे गे, तब तक हम वास्तविक सत्य को नही पा सकेंगे। सत्य सदा भावना से आवृत रहा है।

जरा सोचिए तो सही कि तवे के नीचे यदि आग जल रही है। ऐसी हालत में कोई यह चाहे कि दो-चार पानी की बूँदें डालकर तवा को ठण्डा कर दूँ, तो यह कैसे हो सकता है? तवा कभी भी शीतल नही हो सकता। होगा यह कि तवे पर जो पानी की दो-चार बूँदे पडी है, वे भी उसकी आग को ज्वाला मे जल कर समाप्त हो जाएँगी। इसी तरह परिवार के लोग रोटी-रोटी चिल्ला रहे हो, समाज भूखो मर रहा हो, और राष्ट्र की सन्तानें अन्न के अभाव मे बेमौत मर रही हो, ऐसी परिस्थिति में "शान्ति रखो, धर्म करो, यह तो कर्मो का फल है" कह-कह कर कब तक जनता को झूठे सन्तोष से शान्त किया जा सकेगा? जठराग्नि की ज्वाला मे जलते मानव को कब तक धर्म के नाम पर, सस्कृति के नाम पर, तथा भगवान् के नाम पर कब तक धैर्य दिया जा सकेगा? माना कि धर्म के अभाव में मानव दानव बन सकता है, परन्तु अन्न के अभाव में तो वह दानवो का भी दानव बन जाता है। अत धर्म के साथ जीवन का

गहरा सम्बन्ध रहा है। पहले जीवन के लिए आवश्यक साधन जुटाएँ, भूख की पूरी दवा करले, फिर शान्ति से मानव को धर्म और कर्म तथा उसके फल की दार्शनिक प्रेरणा दे, तो ठीक रहेगा। शान्ति में धर्म पनप सकेंगे। कर्म और उसके फल की व्याख्या जनता के गले उतर सकेगी और तब कही मानव जीवन प्रगति कर सकेगा।

भगवान् ऋषभदेव के जन्म से पूर्व कल्प-वृक्ष ही भारतीय मानव की आवश्यकता को पूरी करते थे। परन्तु बाद में वृक्षो के फलो में कमी होने लगी और इधर जनसख्या दिनो-दिन बढने लगी। फलतः कल्पवृक्षो के बँटवारे होने लगे, व्यक्ति ने प्रकृति पर अपना अधिकार जमाना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी समस्या का हल न निकला। समस्या का हल निकलता भी कैसे ? आज तक "इन बँटवारो से समस्या का हल कभी हुआ भी है ? दो व्यक्तियो के बीच मे एक रोटी हो, तो आधी-आधी से काम चल सकता है। पर तीसरा आ गया, तो कैसे काम चलेगा ? इसी प्रकार यदि एक ही रोटी का हिस्सेदार कोई चौथा और पाँचवां व्यक्ति भी आ जाए, तो उस एक रोटी का क्या अस्तित्व रहेगा ? यदि वस्तु एक, और हिस्सेदार अनेक हो जाएँ, तो फिर वहाँ सघर्ष के सिवाय और होगा ही क्या ? अत पेट की समस्या का सही हल बँटवारे मे नही, उत्पादन बढाने में है। भगवान् ऋषभदेव की, इस सम्बन्ध मे चिन्तन पद्धति यही थी कि बन्धुओ, जो रोटी आज उपलब्ध है, उसी की ओर मत देखो, नयी रोटी पैदा करने का भी प्रयत्न करो। उठो, और काम करो, श्रम करो। अब यह भोग-भूमि नही, कर्म भूमि है। जितना श्रम करोगे, उतना ही सुखी रहोगे। तुम विश्व में मानव जीवन लेकर आये हो, तुम्हारे पास श्रम और उत्पादन के प्रतीक हाथ हैं, फिर भी तुम आपस में छीना-झपटी क्यो करते हो ? ये हाथ केवल खाने के लिए ही नही हैं, कमाने के लिए भी है। खाने में एक ही हाथ का उपयोग होता है, किन्तु उत्पादन कार्य में दोनो हाथ बराबर काम करते हैं। अत खाने की अपेक्षा तुम्हारा उत्पादन दुगुना होना चाहिए। कल्पना कर लो कि यदि आपके घर मे ऐसा व्यक्ति आ जाए, जो दोनो हाथ से खाने वाला हो, तो सारे घर मे कोलाहल मच जाएगा। आप कहने लगेंगे कि यह तो मानव नही दानव है। इन्सान वह है जो एक हाथ से खाता है और दूसरे हाथ से प्राप्त

सामग्री का परिवार, समाज और राष्ट्र मे वितरण करता रहता है।"

वैदिक परम्परा का एक ऋषि उक्त भाव को इन शब्दो मे व्यक्त करता है—

"अयं मे हस्तो भगवान् ,अय मे भगवत्तरः।"

यह मेरा हाथ भगवान् है। इसका फलितार्थ यह है कि यह हाथ सब कुछ कर सकता है। यह समाज एवं राष्ट्र के सामने स्वर्ग उतार सकता है। विश्व मे सुख, शान्ति और आनन्द का भण्डार भर सकता है। अत मानव का हाथ भगवान् है, बल्कि भगवान् से भी बढकर है। महाभारतकार महर्षि व्यास ने भी यही बात कही है

"अहो सिद्धार्थता तेषा, येषां सन्ती ह पाणयः।"

अर्थात् जिनके पास हाथ है, श्रम करने की शक्ति है, वे इस दुनिया मे कभी दुःखी और खिन्न नही हो सकते। वे कभी भूखो नही मर सकते। श्रम मे अत्यन्त शक्ति है। श्रमशील मनुष्य अपने जीवन मे किसी भी वस्तु के अभाव का दर्शन नही कर सकता।

कर्म का अमर सन्देश :

जैन संस्कृति का मूल स्वर कर्मभूमि के महत्त्व का ही यशोगान करना है, भोगभूमि का नही। यह ठीक है कि भोगभूमि में संघर्षमय जीवन न होने से सुख और शान्ति अवश्य रहती है, परन्तु उस सुख और शान्ति के पीछे कर्त्तव्य-भावना का अभाव होता है। भोगभूमि के मानव शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकते हैं, पर मुक्ति के भव्य-पथ पर नही चल सकते। प्रगति के पथ पर कदम नही बढा सकते। उनकी दुनिया एक ऐसी दुनिया है, जिसमे न अधिक उत्थान है और न अधिक पतन ही। विकास और ह्रास के मध्यवर्ती मार्ग पर वे स्थित रहते हैं। किन्तु कर्मभूमि के विषय मे ऐसा नही है। कर्मभूमि का मानव अपना उत्थान भी कर सकता है, और पतन भी। विकास भी चरम सीमा का और पतन भी हद दर्जे का। कर्म-भूमि का मानव अपने जीवन का राजा होता है। वह देव भी बन सकता है, और दानव भी बन सकता है। अधिक क्या, कर्मभूमि का मानव भगवान् तक बन सकता है। भोगभूमि में ऐसा नही हो सकता। वहाँ का जीवन एक सीमित जीवन होता है।

युगलियों का जीवन वैयक्तिक जीवन है, वहाँ सामाजिक जीवन का नाम भी नहीं है। पति को भूख लगी, तो वह कल्पवृक्ष से फल लेकर खा लेता है, और पत्नी को भूख लगी, तो वह भी फलो से अपनी भूख बुझा लेती है। परन्तु एक-दूसरे के लिए कुछ भी नही लाता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति तो कर लेता है, पर दूसरे की आवश्यकता का वह जरा भी ध्यान नही रखता। इस स्थिति को देखकर भगवान् ऋषभदेव ने कहा कि जब तक व्यक्ति अपने आप मे बन्द रहता है, तब तक वह कभी भी विकास नही कर सकता। पारस्परिक सहयोग से ही मानव अपना विकास कर सकता है। **"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** का सिद्धान्त भगवान् ऋषभदेव ने ही मानव जाति के कल्याण के लिए आविष्कृत किया था। और यही सुन्दर सिद्धान्त मानव को व्यक्ति से समाज की ओर ले गया था। भगवान् ऋषभदेव ने सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रबल प्रेरणा दी। और धीरे-धीरे अनेक व्यक्तियो का समूह मिल कर परिवार बना, अनेक परिवारो को मिला कर समाज बना और अनेक समाजो को मिला कर राष्ट्र बना। इस तरह ऋषभ-युग मे परिवार, समाज एव राष्ट्र का जन्म हुआ। व्यक्तिगत भावना का लोप हो जाने पर सब मे सामूहिक चेतना काम करने लगी।

आज का विश्व सुख और शान्ति की खोज तो कर रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से वह अभी तक वैयक्तिक भावना से भौतिक साधनो की ओर ही झुकता जा रहा है। जीवन में भौतिक साधनो की भी जरूरत तो है, पर उसके साथ में आध्यात्मिक साधन संयम की भी बड़ी आवश्यकता है। कल्पना करो कि आपको घोडा तो दे दिया जाए किन्तु आपके हाथ मे उसकी लगाम न दी जाए, तो क्या हालत होगी? हवाई घोडे को यदि संकरी गलियो वाले मोहल्ले मे तेजगति से दौडाया जाए, तो हालत यह होगी कि आप स्वयं भी गिरेंगे तथा दूसरे मनुष्यो को भी घायल करेंगे। इसी प्रकार भौतिक साधनरूपी अश्व मानव को चढने के लिए मिला है। परन्तु उसको नियन्त्रित रखने के लिए यदि संयम की लगाम न हो, तो आपको हर कदम पर खतरा ही खतरा रहेगा। आपको ही नही, आपके परिवार, समाज और राष्ट्र को भी क्षति पहुँचाएगा। इसका कटु फल तो हम विगत दो विश्व-

युद्धो में प्रत्यक्ष देख ही चुके हैं। यूरोप के भौतिकसाधनसम्पन्न देशो ने विश्व के वैभव पर अधिकार किया, धन-सम्पत्ति की विशाल राशि एकत्रित की, फिर भी उन्हे सुख एव शान्ति का अनुभव नही हो सका। सुख और शान्ति की अभिलाषा करते हुए भी उन्हे सुख और शाति मिल नही सकी। सुख और शान्ति के लिए तो विवेक, त्याग और सयम की बडी जरूरत है। और भविष्य में भी रहेगी। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि भौतिक और आध्यात्मिक साधनो मे पूरा-पूरा सन्तुलन चाहिए, तभी हम विकास के मार्ग पर अबाध गति से चल सकते हैं।

भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता की भी अपेक्षा :

भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम मानव को जीवन निर्वाह के लिए भौतिक साधन बतलाए, फिर भी वे केवल भौतिकवाद से चिपटे नही रहे। उन्होंने सोचा कि यह ऐश्वर्य कही मानव को उसके वास्तविक लक्ष्य से भटका न दे, उसे पथ-भ्रष्ट न बना दे। अत उस महापुरुष ने आत्म-कल्याण का मार्ग अंगीकृत किया। मानव समाज में भौतिक जीवन के पनप जाने के बाद आध्यात्मिक जीवन का आविष्कार किया। प्रेय के पश्चात् श्रेय का मार्ग भी प्रशस्त किया।

तप का सामाजिक आदर्श :

भगवान् ऋषभदेव के मुनि बन जाने के बाद की कथाओ मे कुछ मतभेद पड जाता है। कतिपय कथाकारो का मत है कि वह महापुरुष दीक्षा लेने के पश्चात् १२ मास तक गोचरी के लिए घर-घर और द्वार-द्वार घूमता रहा। इस बीच उन्होंने तप किया या नही, इसका कही उल्लेख नही मिलता। सम्भवत कथाकारो के दिमाग मे ऐसा कुछ न आया हो। उनका यही कहना है कि लोग भिक्षा देना जानते ही न थे। परन्तु एक कथाकार कहता है कि भगवान् ने जब से दीक्षा ली, तभी से मौन धारण करके खडे रहे, न आहार किया और न पानी ही पिया। उनके चार हजार शिष्य भूख से घबरा कर इधर-उधर हो गए। परन्तु वे महापुरुष हिमगिरि की तरह अडिग खडे रहते हैं, निरतर अन्तर्मथन करके भूख तथा प्यास पर अधिकार कर लेते हैं। दीर्घ एव उग्र तप-साधन के सम्बन्ध मे भूख-प्यास जो मानव के साहस को परास्त कर देती है, बडे-बडे घिनौने

कार्य करा बैठती है, परन्तु उस विराट् पुरुष पर वह अपना अधिकार न जमा सकी। यह उस महापुरुष की महान् साधना थी। १२ मास तो क्या, वे इस साधना के प्रशस्त तप-पथ पर जीवन भर भी चल सकते थे। परन्तु उन्होने अपने साथ के दूसरे साधुओं की तरफ भी देखा, उनकी शक्ति को भी तोला। उन्होने आचार्य जिनसेन के शब्दो मे विचार किया कि

"न केवलमय काय' कर्षणीयो मुमुक्षुभिः,
नाऽप्युत्कटरसै पोष्यो, मृष्टै रिष्टैश्च वल्भनैः।"

लम्बे-लम्बे तप करके शरीर को केवल हड्डियो का ढाँचा मात्र ही नही बना देना है, और न माल मसाले तथा गरिष्ठ पदार्थ खाकर इसे मांसल ही बना देना है। दोनो ही अतिवाद है। तप की व्याख्या करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी ने भी अपने 'ज्ञान सार' ग्रन्थ में एक बड़ी सुन्दर बात कही है

"तदेव ही तप कार्यं दुर्ध्यान यत्र नो भवेत्।"

तप वही और उतना ही करना चाहिए जिससे समाधि भाव बना रहे, दुर्ध्यान न हो। तप का उद्देश्य आत्मशान्ति है। पर जिस तप से शरीर तो सूखता रहे, किन्तु मन मे शान्ति न रह सके, तो फिर उस तप का कोई अर्थ नही रहता।

तप का लक्ष्य :

साधना का यह मार्ग बडा कठोर है। साधना के मार्ग का सबसे सुन्दर सिद्धान्त तो यह है कि आवश्यकता पड़ने पर तप भी करे और आवश्यकता होने पर आहार भी करे। आत्मा से लगे विकारो को साफ करने के लिए ही तप की उपादेयता है। कर्मो की निर्जरा और आत्मशान्ति ही उसका फलितार्थ होता है, पर इसका अर्थ यह कभी न समझ लेना चाहिए कि तप से ही निर्जरा होती है, तप से ही आत्मशान्ति मिलती है। यदि साधक को कभी भोजन से आत्मशान्ति मिलती हो, तो यह भी निर्जरा का हेतु बन सकता है। आत्मशान्ति की भावना से किया हुआ भोजन भी धर्म ही है। आचार्य जिनसेन यही कहना चाहते हैं कि तुम मध्यम मार्ग से चलो। यदि तप करने से आत्म-समाधि रहती हो, तो तप करो

और यदि भोजन से आत्म-समाधि रहती हो, तो भोजन करो। जैन संस्कृति का मुख्य लक्ष्य आत्मलाभ, आत्मशान्ति और आत्म-समाधि ही है, तप और भोजन तो उसके साधन मात्र हैं।

तप और पारणा :

आप लोगो से मैं पूछता हूँ कि आज का दिन तप के महत्त्व का है, या पारणा (आहार) के महत्त्व का है ? आप कहेगे कि आज तो पारण के दिन का ही महत्त्व है। ठीक है, आप का उत्तर उचित है। जैन सस्कृति में विवेकपूर्वक चिन्तन एव मनन द्वारा की जाने वाली क्रिया को ही महत्त्व दिया गया है। फिर चाहे वह तप की हो, अथवा पारणा की हो। तप और पारणा दोनो परस्पर एक-दूसरे के पूरक रहे है। यहाँ जितना महत्त्व तप का है, पारणा का भी उससे कम महत्त्व नही है। यही कारण है कि उस विराट् पुरुष के पारणा-दिवस को भारतीय-जन हजारो-लाखो वर्षो से मनाते आ रहे है। उस महापुरुष का हम अक्षय तृतीया को यशोगान करते हैं, उसके विशिष्ट गुणो का उत्कीर्तन करते है। आप भूले नही होगे कि हम सब सन्तो ने और साथ ही आप गृहस्थो ने सादडी साधु महासम्मेलन का प्रारभ भी इसी शुभ और मंगल-मय दिवस से किया था। आज पारणा का दिवस तो है ही, साथ मे हमारे श्रमण सघ की वर्षगाँठ का दिन भी आज ही है। अत हमे दुहरी प्रसन्नता होनी चाहिए। हमे इस मगल-भावना का प्रसार और प्रचार करना चाहिए कि हमारा श्रमण संघ दिनानुदिन अधिक से अधिक शक्तिसम्पन्न वनता रहे।

आज हमलोग जिस महापुरुष का पारणा महोत्सव मना रहे हैं, उस महान् प्रकाशपुञ्ज का हमे सदा स्मरण करते रहना चाहिए। केवल स्मरण मात्र ही नही, वल्कि उसके आत्म-गुणो का अपने मे विकास भी करना चाहिए, तभी हम सच्चे अर्थ मे पारणादिवस मना सकेगे। वह एक विराट् शक्ति-सम्पन्न पुरुष थे, जो निरन्तर १२ मास तक उग्र तप करते रहे। पर आज के भक्तो मे न इतना शारीरिक वल है और न मनोवल। अत· हम एक-एक दिन के वीच पारणा करते हुए १२ मास पूर्ण कर लेते है। आज के इस भौतिक जगत् मे जहाँ मानव भोजन का गुलाम वनता जा रहा है, घरो मे अनेक प्रकार के मिष्ठानो की सुगन्ध

आती रहती है, वहाँ बहुत से भाई-बहन तप और त्याग के पवित्र मार्ग पर चल रहे हैं यह हर्ष की बात है।

अक्षयतृतीया : पारणा और दान का दिन :

आज पारणा का दिन है। भगवान् ऋषभदेव ने आज के दिन ही अपने वर्षी तप का पारणा श्रेयासकुमार के हाथों इक्षु-रस से किया था। वह समय कितना सुन्दर रहा होगा, जब दाता ने श्रद्धा और भक्ति से भगवान् को इक्षु-रस का दान दिया होगा। दान लेने वाला पात्र बड़ा है, या दान देने वाला दाता बडा है, यह प्रश्न भी वडे महत्त्व का है। इस प्रश्न के उत्तर मे एकान्त निर्णय तो नही दिया जा सकता। इस प्रसग पर प्राय लोगो की दृष्टि पात्र की महत्ता की ओर ही जाती है, परन्तु सत्य तो यह है कि दाता का महत्त्व भी कम नही है। आज वह ससार का महान् पुरुष, जिसने अपने ही बुद्धि बल और शरीर श्रम से समाज एव राष्ट्र का निर्माण किया था, अपने ही घर में अपने पौत्र के हाथो भिक्षा ले रहा है। दाता ही याचक बन रहा है। जिस बडी पीढी ने छोटी पीढी को ऊपर उठाया था, आज वह छोटी पीढी बडी पीढी का सिचन कर रही थी। बाबा भिक्षु और पोता दाता, कितना सुखद था जीवन का वह मधुर क्षण! श्रेयासकुमार ने अपने जीवन में इस उदात्त भावना को साकार रूप दिया था कि

"परस्पर भावयन्तः, श्रेय. परमवाप्स्यथ।"

माधुर्य का दान :

मैं कह चुका हूँ कि आज का दिवस दाता के महत्त्व का दिन है। आप भी दान देते हैं। अन्न, जल, वस्त्र, पात्र आदि के दान का भी महत्त्व कम नही है, परन्तु वर्तमान युग मे सबसे बडी आवश्यकता है, माधुर्य के दान की। इक्षु-रस तो मुँह मे रहता है, तभी मिठास दे सकता है, और क्षणिक शक्ति भी दे सकता है। इससे अधिक उसका महत्त्व नही है। किन्तु माधुर्य का दान जीवन मे जहाँ आत्मिक शक्ति पैदा करता है, वहाँ बाहरी जीवन को भी अनेक कटु प्रसगो से बचा लेता है। जीवन को रूक्ष होने से बचा कर माधुर्यमय बना देता है। आज के युग के दैत्याकार यन्त्र प्रतिदिन लाखो टन शक्कर पैदा करते है, फिर भी इन्सान की जिन्दगी मीठी नही बनी। हजारो-लाखो मन शक्कर खाकर भी आज का मानव कटुता, विषमता और वैमनस्य की वृद्धि करता जा

रहा है। इसका एक ही कारण है कि हमारे जीवन मे माधुर्य का अभाव है। और यह अभाव एक ऐसा अभाव है कि जब तक इसका सद्भाव न होगा, जब तक इसकी पूर्ति न होगी, तब तक मानव समाज सुख और शान्ति नही पा सकेगा। यह आशा दुराशामात्र ही सिद्ध होगी।

सत्सकल्प का दान :

आज के दिन वर्षी तप करने वाले भाई-बहिनें भी उसी युग-पुरुष का अनुकरण करेंगे। इक्षु-रस का दान भी करेगे। परन्तु मैं उन भाई-बहिनो से कहूँगा कि इस दान के साथ वे सत्सकल्प का दान भी देना सीखे, जीवन में माधुर्य का दान भी देना न भूले। परिवार में, समाज मे, राष्ट्र मे वे जहाँ कही भी हो, सब को समभाव से देखना सीखें। साधु हो या गृहस्थ हो, स्त्री हो या पुरुष हो, छोटा हो या बडा हो, अपना हो या पराया हो, सबके मानस मे समान भाव से माधुर्य का अर्पण करते रहे। भाई-बहिनो के मन से, वचन से और व्यवहार से सदा माधुर्य-भाव की वर्षा होती रहनी चाहिए। उन्हे यह भली भाँति विचार कर लेना चाहिए कि उनकी भावना का माधुर्य केवल साधु के पात्र में ही न पडता रहे, बल्कि अपने पति, पुत्र, पुत्री और भाई-बहिन आदि परिवार के मन के पात्र मे भी पडता रहना चाहिए। आज के मगलमय दिवस के उपलक्ष मे आप सब ने यदि माधुर्य भाव को जीवन मे साकार करने का सकल्प कर लिया, तो मैं समझता हूँ, आपने सच्चे अर्थों में अक्षय तृतीया का पारणा किया है। आपका यह इक्षुरस माधुर्य-भाव का प्रतीक है।

अन्त मे, मैं इतना और कहूँगा कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि "प्रभु! हम सच्चे अर्थों में आपका अनुगमन करते हुए, अपने अन्त करण, वाणी और कर्म से ससार मे माधुर्य की वर्षा करते रहे। समाज और राष्ट्र मे तथा परिवार मे निरतर माधुर्य-भाव की अभिवृद्धि करते रहे। हम अपने प्रत्येक कर्म को मधुरता से प्रारम्भ करें और मधुरता से ही समाप्त करे। 'मधुरेण समापयेत्' के सुन्दर सिद्धान्त को हम कभी न भूले। यदि आपलोगो ने इतना कर लिया, तो आपका वर्तमान जीवन तो माधुर्य-मय बनेगा ही, आपका भविष्य भी समुज्ज्वल और शानदार बनेगा।

आज का जन-जीवन इतना कटु होगया है कि कुछ कह नही

सकता। आज पिता-पुत्र में, पति-पत्नी मे, भाई-बहिन मे, मालिक-नौकर मे जो द्वन्द एवं संघर्ष हैं, उनके मूल में मन की कटुता ही एक-मात्र हेतु है। कटुता जीवन मे से स्नेह के अमृत रस सोख लेती है, जो पारिवारिक एव सामाजिक-जीवन के विकास के लिए आधारभूत तत्त्व है। खेत मे कितने ही अच्छे बीज बोए गए हो, जल के अभाव मे वे सब नष्ट हो जाते है, अंकुरित नही हो सकते। यही बात पारिवारिक क्षेत्र की समृद्धि के सम्बन्ध मे भी है। वह विकास और समृद्धि भी स्नेह-रस के सिचन की अपेक्षा रखती है, स्नेह-रस की मधुरता वह मधुरता है, जिसकी तुलना विश्व की कोई भी मधुरता कर नही सकती, पुराणकाल का वह स्वर्गीय अमृत भी नही।

अजमेर, अक्षय तृतीया। १६-५-५३

२०

वैशाखी पूर्णिमा : बुद्ध जयन्ती

भारतवर्ष की संस्कृति में आज का दिन परम पवित्र माना जाता है। आज वैशाखी पूर्णिमा है, यह पूर्णिमा अपना एक विशेष माहात्म्य रखती है। आज भारतवासी हजारो और लाखो की सख्या मे गगा, यमुना, पुष्कर तथा नर्मदा आदि तीर्थस्थानो मे स्नान करते है। भारत की संस्कृति में स्नान का बडा महत्व माना गया है। परन्तु उसके पीछे कौन-सी विचारधारा काम कर रही है? उसका क्या अभिप्राय है? इन प्रश्नो पर बहुत कम ही लोग विचार कर पाते है।

वर्तमान युग का भक्त-मानव बाहरी रूप में उलझ कर अपने वास्तविक भीतरी रूप को भूल-सा गया है। वह अपने अन्तर्मानस को परखने का प्रयत्न छोड बैठा है। वह धर्म के शुद्ध स्वरूप का परित्याग करके उसके बाह्यरूप से चिपट गया है।

भारत के विचारशील आचार्यो ने कहा है "जिस प्रकार बाहरी दुनिया में गगा लहरा रही है, यमुना बह रही है, पुष्कर प्रवाहित हो रहा है, उसी प्रकार मानव के अन्तर्मानस मे भी ज्ञान की गगा, श्रद्धा की यमुना और नैतिकता का पुष्कर लहरा रहा है। वह मनुष्य के अन्तर्जीवन का सिंचन करता है।" इस बाहरी स्नान से शरीर का मल ही साफ हो सकता है, फिर आत्मा, बुद्धि और मन के मैल को साफ करने की शक्ति उसमें कैसे हो सकती है? आत्मा, बुद्धि और मन को निर्मल करने के लिए, शुद्ध करने के लिए ज्ञान, श्रद्धा और चरित्र के तीर्थो का जल ही अपेक्षित है। जब साधक अन्तर् की गंगा, यमुना मे डुबकी लगाता है, अन्तर् के पुष्कर मे स्नान करता है, तब कही वह

अपने अन्तर् के मैल को धो सकता है, विचार और बुद्धि के विकारो को नष्ट कर सकता है। यह ठीक है कि शरीर का मैलापन भी अच्छा नही है। शरीर की गदगी का हमारे स्वास्थ्य और मन पर बुरा असर पडता है। परन्तु मन का मैल, अन्तर्मानस की गन्दगी शरीर की गदगी से ज्यादा भयकर है। शरीर के विकारो का असर स्वय तक ही सीमित रहता है, किन्तु मानसिक विकारो का प्रभाव अपने परिजनो, मित्रो, साथियो तथा समाज और राष्ट्र पर भी पडे विना नही रहता। जब किसी मनुष्य के अन्तर्मानस मे क्रोध का विस्फोट होता है, तो उसका प्रभाव केवल क्रोधी मनुष्य तक ही नही रहता, वल्कि परिवार, समाज एव राष्ट्र पर भी उसकी चिनगारियाँ विखरती रहती है। इस भाँति मान, माया, लोभ, मोह और ईर्ष्या-द्वेष आदि मनोविकारो का असर भी अपने अन्य सहयोगी समीपवर्तीजनो के मानस म सहज ही प्रवेश कर जाते हैं। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है "अन्तर् का मैल सवसे बुरा है। बुद्धि और विचार का मैल सवसे अधिक विनाशक है।"

बुद्धि के अभाव मे मानव अपना एक भी कार्य नही कर सकता। विचारशक्ति के विना मनुष्य एक कदम भी आगे नही रख सकता। विचार-चेतना के विना हजारो, लाखो, करोडो कीडे-मकोडे और हजारो, लाखो पशु-पक्षी इधर-उधर भटकते फिरते है, अपने उदर की पूर्ति मात्र कर लेते है। परन्तु आज तक किसने महल वनाए, किसने नगर वसाए? एक मानव ही ऐसा बुद्धिमान् प्राणी है, जिसने अपना प्रारभिक जीवन, पशु-पक्षियो की तरह जगल मे वृक्षो के नीचे रह कर, और वन-फल खाकर व्यतीत किया था। किंतु जब वह अपने एकाकी जीवन से ऊपर उठा, तो उसने परिजनो और पुरजनो की रचना की, ग्राम और नगर वसाए, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया।

मानव की विराट् शक्ति :

जैसे-जैसे मानव की आवश्यकताएँ वढती गईं, वैसे-वैसे उसने उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न किया, और सृष्टि में विस्तार होता रहा। मानव की बुद्धि, मानव की विचार शक्ति कोई कम नही है। उसका मस्तिष्क विराट् है। उसकी बुद्धि ने युद्धो को जन्म दिया, तो शान्ति

भी उसी मानव की सूझ है। मानव की विचार-शक्ति ने बड़े-बड़े काम किए हैं। मनुष्य की बुद्धि ने ही उसे घोड़े की पीठ पर सवार किया, गाड़ी पर चढाया, मोटर-रेल पर चढाया, तथा वायुयान मे उडाया। यह सब मनुष्य की बुद्धि की करामात नही, तो किसकी है? तार-टेलीफोन रेडियो आदि आविष्कार कितने विस्मयजनक हैं? ये सब मनुष्य की विशाल बुद्धि पर ही हुआ है। अपनी शुभ भावना से मनुष्य ने ससार को स्वर्ग बनाया, परन्तु ईर्ष्या-द्वेष तथा स्वार्थ के वशीभूत होकर वही अपने स्वर्ग के सहार के लिए प्रलयंकर रुद्र बन जाता है। उसके मानसिक विकारो ने ही उसे देव से दानव बनने को विवश किया। उसकी स्वार्थरत बुद्धि से आविष्कृत महायुद्धो से संसार का प्रागण खून के रग से रंगा जा रहा है। तात्पर्य यह है कि भीतरी शुद्धि से ही मानव सात्विक विचारो का बनता है।

वैशेषिक दर्शन के एक आचार्य ने कहा है "समस्त दुखो का जन्मदाता ज्ञान होता है।" उस दार्शनिक के मत मे बच्चे को कम दुख होता होगा, क्योंकि उसका ज्ञान कम है। ज्यो-ज्यो उसका ज्ञान बढता जाता है, त्यो-त्यो उसके दुख भी विराट् रूप धारण करते जाते है। उसको शान्ति तभी मिलेगी, जबकि उसका ज्ञान सर्वथा नष्ट हो जाएगा। इस दर्शनकार के विचारो में ज्ञानगुण का विनाश हो जाना ही मोक्ष है, परम शान्ति है।

भगवान् महावीर ने कहा "यह तर्क वजनदार नही, इस तर्क का कोई महत्त्व नही। ज्ञान, यह तो आत्मा का एक निज गुण है, जो कभी भी किसी भी हालत मे आत्मा से विलग नही हो सकता। यह विश्व जड-चेतन का सम्मिश्रण रूप है। मानव उसका पृथक्करण ज्ञान द्वारा ही कर सकता है। जहाँ चिन्तन है मनन है, अपने-पराये को समझने की शक्ति है, जीवन में चेतना है, सुख-दुख की अनुभूति है, वहाँ आत्मा है। और जहाँ पर विचारशक्ति नही, मनन नही, वह जड है। अस्तु, आत्मा का वह ज्ञानगुण, जिसके बल पर हम जड और चेतन का भेद समझ सकते है, यदि वही नष्ट हो गया, तो फिर शेष क्या रहा?

इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा कि ज्ञान से दुख नही बढते। दुखो का कारण है उसमे आया हुआ विकार। एक व्यक्ति ने जल पीया और हैजा हो गया। इसमे जल का दोष नही है, जल ने हैजा

नही किया है। हैजा हुआ है, जल मे रहे हुए कीटाणुओ के कारण, गन्दे और सडे जल को पीने से। अस्तु, आप लोग जल से न लडो, पानी का नाश न करो, बल्कि जल के कीटाणुओ से, गन्दगी से युद्ध करो। इसी तरह ज्ञान से नही, ज्ञान मे आए हुए राग द्वेषरूप मनोविकारो से लडो। जब तक विकारो का नाश नही होगा, तब तक आत्मा को शान्ति प्राप्त नही हो सकती।

जब आप कही दूर की लम्बी यात्रा तय करके आते है, तब शरीर पसीने मे लथ-पथ हो जाता है, हाथ-पैर थक जाते हैं, दिमाग भारी हो जाता है, काम करने में मन नही लगता। किन्तु ठण्डे जल से स्नान करते ही दिमाग और सारा शरीर कितना शान्त हो जाता है। शरीर में नयी स्फूर्ति, नयी चेतना जाग उठती है। हाथ-पैरो मे नयी शक्ति भर जाती है। जब बाहरी स्नान से इतनी शान्ति मिल सकती है, तब ज्ञान-गगा में गोता लगाने से, अन्तर् की यमुना मे डुबकी लगाने से, आत्मा के पुष्कर में मज्जन करने से अनन्त-अनन्त जन्मो से आने वाले मनोविकार क्यो नष्ट न होगे? अन्तर्स्नान न करने से अशान्ति और अप्रसन्नता कैसे टिक सकती है? ज्यो-ज्यो मनोविकार नष्ट होते जाते हैं, त्यो-त्यो जीवन में नयी चेतना, नयी स्फूर्ति का अनुभव होने लगता है। ज्ञान-गंगा मे स्नान करने से ही आत्मा, बुद्धि और मन की सच्ची शुद्धि होती है।

ज्ञान की गगा मे स्नान करने वाले का अंतर्मानस परम पवित्र हो जाता है। उसका बाह्यरूप चाहे जो हो, अंतर में देवत्व विराजमान होता है। ऐसी स्थिति में गृहस्थ भी साधुवेषधारी पुरुष से आगे निकल जाता है। वास्तव में ऐसी स्थिति मे एक हिमालय की चोटी पर खडा है, तो दूसरा हिमालय की तलहटी मे। एक अनन्त आकाश में उडान भर रहा है, तो दूसरा जमीन पर रेगने वाला कीडा है, बाहरी दृष्टि से भले ही दोनो मे महान् अन्तर नजर आ रहा है। साधु मुक्ति के पथ पर चलता नजर पडता है, और गृहस्थ संसार के दल-दल और कीचड़ में फँसा दीख पडता है, परन्तु भीतरी दृष्टि से, भावना की कसौटी से सासारिकतालिप्त साधु वेष-धारी व्यक्ति की अपेक्षा सदाचारी गृहस्थ का जीवन महान् है। जीवन के इस मर्म को जिसने समझ लिया, वह चाहे कही पर भी और कैसी भी स्थिति मे क्यो न रहता हो, सुख-शान्ति उसके पीछे-पीछे दौडते रहते है।

सच्चा सुख हृदय-परिवर्तन में है :

न जाने क्यो ? हमारे मन मे यह भ्रम पैठ गया है कि परिवर्तन से सुख-शान्ति प्राप्त होती है। हजारो-लाखो मनुष्य इस कल्पना में उलझे रहते हैं कि स्थान-परिवर्तन से तथा जलवायु के परिवर्तन से हमे शान्ति मिलेगी। कुछ मरण के बाद शान्ति की कल्पना मे फँसे रहते हैं। कुछ वेष-परिवर्तन में ही सुख एवं शान्ति के सुनहले सपने देखते है। परन्तु मैं कहता हूँ, यह सब भ्रम है, मिथ्या कल्पना है। सुख और शान्ति का आभास देश एवं वेष के परिवर्तन में नही है। क्या पता कि दूसरे स्थानो का बाहरी वातावरण यहाँ से भी कटु और अशान्त हो ? परलोक के सुख के सम्बन्ध मे भी यही बात है। इस जन्म मे तो हम मानव है। अपने जीवन को चाहे जैसा बना सकते है। मरने के बाद दुर्भाग्य से कही कीडे-मकोडे एवं कुत्ते-बिल्ली हो गए, तो वहाँ कौन-सा सुख प्राप्त होगा ? देह, देश और वेष का परिवर्तन तो हम अनन्त-अनन्त बार कर चुके हैं। फिर भी हम शान्ति नही पा सके, सुख नही पा सके। अत बाहरी परिवर्तनो मे सुख-शान्ति नही है। शान्ति है मन के परिवर्तन मे, शान्ति है बुद्धि और विचारो के परिवर्तन में। शान्ति है, मनोविकारो के परित्याग मे। यह कहावत सर्वथा सत्य है कि "दिशा बदलने पर दशा बदलती है।" जब तक दिशा मे परिवर्तन नही होगा, तब तक हमारी दशा सुधर नही सकती। अन्तर् में गहरी डुबकी लगाने से ही हमारी दिशा और दशा सुधर सकती है, हमें सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है।

मनुष्य : अपने विचारों का प्रतिबिम्ब :

संसार के समस्त पदार्थ पृथ्वी के उदर में छिपे पडे हैं। किसान या माली जब पृथ्वी मे बीज डालता है, तब होता क्या है ? वह बीज अन्दर ही अन्दर पनपता है, अपने स्वभाव के अनुकूल पृथ्वीकणो से रस को खीचता रहता है। आम का फल मिठास खीचकर जगत् को मिठास देता है, गुलाब सुगन्ध खीचकर जगत् में सुगन्ध फैलाता है, नीम उसी पृथ्वी मे से कटु रस खीचकर जगत् को कडवापन देता है, धतूरा उसी पृथ्वी मे से मादकता खीचकर जगत् को पागलपन प्रदान करता है। इसमे पृथ्वी का क्या दोष है ? दोष तो उस बीज के अन्तर् स्वभाव का है। जो वस्तु अन्दर मे जैसी होगी, वह बाहरी रूप भी वैसा ही ग्रहण करेगी। अत मैं कहता हूँ कि बाहर को दोष मत दो, बाहर में संघर्ष

न करो, जो कुछ करना हो, अन्तर् में ही करो। अन्तर् मे विकार होते हैं, तभी वे वाहरी रूप ग्रहण करते है। मनुष्य है क्या ? वह अपने विचारो का प्रतिविम्व मात्र ही तो है। अन्तर् की शुद्धि होने पर ही वाहरी शुद्धि काम की है। लोग स्वर्ग की कल्पना से नाचने लगते हैं और नरक का नाम सुन कर कॉपने लगते है। मैं सोचता हूँ, ऐसा क्यो होता है ? यदि तुम्हारे अन्तर् मानस मे स्वर्ग के वीज हैं, तो फिर नरक से भय क्यो ? दुनिया की कोई भी ताकत तुम्हे नरक नही भेज सकती। हाँ, यदि तुम्हारे अन्तर् मे नरक के वीज ही पनप रहे है, तो फिर विश्व की कोई भी शक्ति तुम्हे नरक से वचा भी नही सकती है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है कि "वुरा कर्म करने वाले को वुरा फल प्राप्त होगा ही। अच्छा कर्म करने वाले को अच्छे फल से वंचित कौन कर सकता है।"

"सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला हवन्ति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला हवन्ति॥"

मनुष्य के अन्तर् मे नरक-वीज पनप रहे हैं, तो फिर स्वर्ग और मुक्ति मिले भी तो कैसे ? जैसा विचार होता है, जैसा सकल्प होता है, जैसी भावना होती है, हमारा भावी जीवन उसी के अनुसार वनकर तैयार होता है। हमारे इतिहास मे एक छोटी-सी कहानी आती है, जो छोटी होते हुए भी रहस्यपूर्ण है।

एकवार श्रीकृष्ण के राजमहल मे सभा लगी थी। राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार आदि सव यथास्थान पर वैठे हुए थे। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जैसे व्यक्ति होते हैं, वैसी ही विचार-चर्चा चल पडती है। कूंजडो की सभा मे साग-सब्जी के लिए झगडा होगा, सेठ-साहूकारो की सभा में धन-सम्पत्ति का सघर्ष चलेगा, वहादुर सेनापतियों की सभा में युद्ध की चर्चा चलेगी और विद्वानो की सभा मे ज्ञान-चर्चा सुनने को मिलेगी। श्रीकृष्ण एक विचारशील पुरुष थे। अत उनकी सभा मे ज्ञान-चर्चा न चले, यह कैसे हो सकता था ?

एकवार वहाँ चर्चा निकल पड़ी, कि "यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टि।" जैसी नजर, वैसी दुनिया। जव मानव, ससार को मानवता की दृष्टि से देखता है, तो सारे ससार मे मानवता ही मानवता दृष्टि-गत होने लगती है। किन्तु जव वह संसार को दैत्य की दृष्टि से देखता है,

तो सारा ससार राक्षस ही राक्षस दिखने लगता है। और जब वह देवत्व की दृष्टि मे ससार को देखने लगता है, तब उसके चारो ओर की सृष्टि देवत्वमयी हो जाती है। चर्चा होते-होते लबी हो गई। इस प्रश्न को लेकर युधिष्ठिर और दुर्योधन मे तीव्र विवाद उठ खडा हुआ। दृष्टि-सृष्टिवाद को स्वीकार करने से दुर्योधन इन्कार कर रहा था। दोनो महानुभावो में सघर्ष को बढते देख, श्रीकृष्ण ने कहा "अच्छा, समय हो गया है। अत आज यह सभा समाप्त की जाती है। इस विपय पर फिर कभी विचार-विमर्श करेगे।"

समय निकलते क्या देर लगती है। उस चर्चा को दिवस, सप्ताह, मास और वर्प के वर्प बीत गए। जनता को उस बात का ध्यान भी न रहा। कुत्ता तभी तक भौकता है, जब तक उसे खटखट की आवाज सुनाई पडती रहती है। आवाज के बंद होते ही वह भौकना भूल जाता है। यही बात सामान्य मानवो के विपय मे भी है। जब तक कोई विचार-चर्चा चलती रहती है, तब तक उसका ध्यान उस चर्चा मे लगा रहता है, परन्तु प्रस्तुत चर्चा के वन्द हो जाने पर कुछ समय बाद उसकी विचारधारा का मोड दूसरी तरफ हो जाता है। परन्तु विचारशील पुरुष सदा उस पर चिन्तन-मनन करते रहते है। सभासद तो उस चर्चा को भूल गए, पर श्रीकृष्ण उस पर निरन्तर विचार करते रहे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को बुलाया और कहा—"युधिष्ठिर! लो, यह कोरा-रजिस्टर है। द्वारिका नगरी की गली-गली और घर-घर में घूम कर इसमे बुरे आदमियो के नाम लिख लाओ।" इसी प्रकार दुर्योधन को कहा कि "तुम अपने रजिस्टर मे द्वारिका नगरी मे रहने वाले अच्छे आदमियो का नाम लिख लाओ।" युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनो अपने-अपने काम को पूरा करने को निकल पडे। द्वारिका की गली-गली मे और घर-घर मे एक बुरे आदमी की खोज करता था, और दूसरा अच्छे आदमी की। दोनो को एक मास की अवधि दी गई थी।

अवधि पूरी होने पर फिर सभा भरी। जनता की उपस्थिति खूब थी। लोगो के मन में उत्सुकता भरी थी। देखे, "कौन-कौन बुरे है, और कौन-कौन अच्छे हैं।" इसी कल्पना मे सब डूबे जा रहे थे।

श्रीकृष्ण अपनी न्याय-पीठिका पर बैठ गए, और दोनो को अपना-अपना काम दिखाने को कहा। दोनो ने अपने-अपने रजिस्टर श्रीकृष्ण के सम्मुख रख दिए और दोनो अपने-अपने स्थान पर जा बैठे। जनता उद्ग्रीव होकर यह सब कुछ देख रही थी। श्रीकृष्ण ने जनता को जब यह कहा कि दोनो के रजिस्टर खाली है, किसी ने भी एक अक्षर नही लिखा, तब जनता कि उत्सुकता और अधिक बढी। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर की ओर संकेत करते हुए पूछा—"क्यो युधिष्ठर! तुम्हे इतनी बडी द्वारिका मे एक भी बुरा व्यक्ति नही मिला?" युधिष्ठिर ने जवाब दिया—"हाँ, महाराज! मेरी दृष्टि में तो मुझे एक भी व्यक्ति बुरा नही जँचा। जिस-किसी से भी बातचीत की, उसमें कोई न कोई गुण मिल ही गया।" इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से पूछा, तो उसने कहा, महाराज! मुझे तो एक भी व्यक्ति अच्छा नही जँचा। अत नाम किसका लिखता? कोरा का कोरा रजिस्टर आपको लाकर सौंप दिया।" जनता श्रीकृष्ण के निर्णय को सुनने के लिए सोत्सुक थी। श्रीकृष्ण ने खडे होकर कहा

"बस, ठीक है। द्वारिका, न अपने आप मे अच्छी है और न अपने आप में बुरी है। जिसकी दृष्टि में बुरापन है, उसके लिए सारा संसार ही बुरा है, तथा जिसकी दृष्टि मे अच्छापन है, उसके लिए सारा ससार ही अच्छा है। यह सब तो अपनी दृष्टि पर ही निर्भर है।"

बुद्ध जयन्ती :

पूर्णिमा प्रत्येक मास मे आती है और चली जाती है। परन्तु वैशाखी पूर्णिमा अपना विशेष महत्त्व रखती है। आज के रोज हजारो लोग तीर्थो मे स्नान करते हैं, और भागवत आदि पुराणो का पाठ भी सुनते हैं। वस्तुत विचार करके देखा जाए, तो आज का दिवस आत्म-गंगा में स्नान करके पवित्र होने का है। हमे यह भी सोचना होगा कि हम केवल शास्त्र-पाठ सुनकर संतुष्ट न हो जाएँ, अथवा शून्य चित्त होकर ही न सुनते रहे। जो सुने, ध्यानपूर्वक सुने, और फिर उस पर चिन्तन-मनन भी करते रहे। यदि हम आज अपने अन्तर् की गंगा मे गहरी डुबकी लगा सकें, तो निश्चय हमे शान्ति मिलेगी।

आज का दिन ससार के एक विराट् पुरुष की जयन्ती का दिन है। उस विराट् पुरुष का नाम है—गौतम बुद्ध, जिसे जनता भगवान् बुद्ध

के नाम से पुकारती है। बुद्ध का जन्म राज-घराने में हुआ था। सोने के राज-महलों में उनका लालन-पालन हुआ था। एक राजकुमारी से यौवन काल में, उनका विवाह भी हो गया था। संसार के सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च सुख उन्हें प्राप्त थे। दुःख तथा क्लेश की उन पर छाया तक न थी। फिर भी वह अपने आप में गम्भीर रहते थे। सदा चिन्तन एवं मनन में ही लगे रहते थे। उनकी वैराग्य-भावना से भयभीत होकर उनके अभिभावकों ने ऐसा प्रबन्ध किया था कि बुद्ध की दृष्टि में वैराग्य के उद्दीपक कोई भी रोगी, वृद्ध और मृतक न चढ सकें, जिससे कि उन्हे वैराग्य-भाव का प्रोत्साहन मिल सके। इतना मजबूत प्रतिबन्ध होने पर भी एकबार बुद्ध रोगी, वृद्ध और मृतक को देख लेते हैं, और वह अपने सारथी छन्दक से पूछ बैठते हैं, कि क्या ये तीनों दशाएँ मुझे भी आकर घेरेंगी ? और क्या मेरी प्रियतमा पत्नी यशोधरा और नवजात कोमल शिशु राहुल को भी इन तीनों दशाओं में होकर जाना पडेगा ? और सचमुच छन्दक के स्वीकारात्मक उत्तर ने बुद्ध को वैराग्य के पथ पर चलने को एक बलवती प्रेरणा दे डाली।

एकदिन अचानक ही वह विराट् पुरुष अपनी प्रियतमा पत्नी यशोधरा, कोमल शिशु राहुल और विशाल वैभव को छोड कर सुख और शान्ति की खोज में, अमरता को तलाश में राज-महल से निकल पडा। कठोर तप साधना की। अन्त में मध्यम प्रतिपदा की साधना से उन्हे शान्ति मिली और उन्होने संसार को भी सुख एवं शान्ति का मार्ग बतलाया। आज बुद्ध नही हैं, फिर भी उनकी वाणी और उनके उपदेश आज भी जीवित है।

आज का दिन ऐसे विराट् पुरुष का जन्मदिन होने के कारण एक महान् त्याग एवं साधना का दिवस है। यदि आप सोने के सिंहासनों को, धन सम्पत्ति का, त्याग करने का संकल्प न ले सके तो कम से कम मानवता के नाते सब की सेवा करने का व्रत तो ले ही। सब आत्माओं को उसी दृष्टि से देखें, जिस दृष्टि से हम अपने आप को देखते हैं। अपने जीवन को ऊँचा उठाने का संकल्प रखे। आपत्ति और संकट आने पर भी रोवें नही, निरन्तर हँसते ही रहे, और दूसरो को भी हँसाने का प्रयत्न करें।

अन्तर् मे यह आशा लगाए रखे कि आज नही तो कल और कल नही तो परसो, अवश्य ही मुझे सुख तथा शान्ति प्राप्त होगी। उदास और खिन्न रहने से कभी शान्ति नही मिल सकती। आपके जीवन मे महापुरुषो का यह शिक्षावाक्य साकार होकर उतर आना चाहिए, कि "मानव! तू दूसरो को रुलाने को नही जन्मा है बल्कि दूसरे को हँसाने को जन्मा है। तू यहाँ नरक बनाने को नही, स्वर्ग बनाने को उतरा है।"

हम अपनी जिन्दगी के राजा है। उसे बना भी सकते है, और बिगाड भी सकते हैं। मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है, स्वयं अपना नेता है। भगवान् बुद्ध ने बडी सुन्दर बात कही है कि 'अत्तदीपो भव' अर्थात् मानव, तू स्वय ही अपना प्रकाश बन कर चल।

वैशाख शुक्ला १५, बुद्ध जयन्ती, १९५३ ई०